ग्वालियर दुर्ग, मंदिर एवं मूर्तियाँ

-डॉ॰ अमर सिंह

ग्वालियर दुर्ग मन्दिर एवं मूर्तियाँ

डॉ० अमर सिंह

तरुण प्रकाशन
लखनऊ
1996

ग्वालियर
दुर्ग, मन्दिर एवं मूर्तियाँ

अमर सिंह
एम० ए०, पी–एच० डी०
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशक
तरुण प्रकाशन
लखनऊ

प्रकाशक :

तरुण प्रकाशन

१/१०२८, विशालखण्ड,

गोमतीनगर, लखनऊ-२२६०१०

दूरभाष - ०५२२- ३९३४५६

यह ग्रन्थ भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ में अभिव्यक्त विचार लेखक के हैं। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् उसके लिए उत्तरदायी नहीं है।

प्रथम संस्करण, जनवरी १९९६

मूल्य : रू० **290/=** (दो सौ नब्बे मात्र)

लेजर कम्पोजिंग :

लिंकमैन लेजर राइटर

१०३/८९, सुन्दरबाग, लालकुआँ, लखनऊ - २२६०१९

फोन : २१९०९६

Printed By : *Tahoor Pubilication Services Chowk* **Lko. Ph-61250**

पूज्य माता-पिता
को
सादर समर्पित

भूमिका

स्मारक हमारी संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। भारतीय इतिहास, कला, धर्म और सामाजिक जीवन के अध्ययन में इनकी अपरिहार्य भूमिका है। दुर्गों, प्रासादों, मन्दिरों, स्तूपों, विहारों और मूर्तियों आदि के अध्ययन के लिए अनेक दृष्टिकोण अपनाये गये और इन पर अब तक बहुत से ग्रंथ तथा शोधपरक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। यद्यपि स्मारकों के अध्ययन का प्रारम्भ उनके अभिलेखीकरण से हुआ, परन्तु बाद में उनकी वास्तुकला के क्रमिक-विकास, शैलीगत विशेषताओं, विभिन्न शैलियों में परस्पर सम्बन्ध और प्रभाव, दार्शनिक पृष्ठभूमि का विवेचन तथा तत्कालीन वास्तु एवं शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रकाश में पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए स्मारकों से उनका तादात्म्य, समन्वय एवं समीकरण स्थापित करने के सफल प्रयास अनेक विद्वानों द्वारा किये गये हैं। इसी के साथ-साथ स्मारकों के अध्ययन को एक नयी दिशा प्रदान करते हुए कतिपय विद्वानों द्वारा वास्तु एवं मूर्ति-शिल्प के माध्यम से तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने के भी प्रयास किए गये हैं।

वास्तु एवं शिल्पकला के अध्ययन में क्षेत्रीय तथा स्थानीय विशेषताओं का अपना अलग महत्व है। ग्वालियर दुर्ग तथा इसके मन्दिरों एवं मूर्तियों का इस दृष्टि से विस्तृत अध्ययन अभी तक नहीं किया गया था। डॉ० अमर सिंह की यह कृति इस अभाव की पूर्ति का एक सराहनीय प्रयास है। इस ग्रन्थ में एक स्थल विशेष के स्मारकों का समग्रता के साथ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने ग्वालियर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, दुर्ग की संरचना तथा उसके अंगों-उपांगों, प्रतिहार शैली और कच्छपघात शैली के मन्दिरों के क्रमिक-विकास, स्थापत्य एवं शिल्पकला आदि पर समुचित प्रकाश डाला है। साथ ही मन्दिरों के अलंकरण के विविध माध्यमों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों का प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए डॉ० सिंह ने यथास्थान उनका वास्तु एवं शिल्पशास्त्रीय ग्रंथों से सम्बन्ध भी स्थापित किया है। उपसंहार के रूप में लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के अतिरिक्त ग्वालियर के पुरावशेष भारतीय वास्तुकला के विकास को समझने भी में सहायक हैं।

ग्वालियर दुर्ग, उसके मन्दिर तथा मूर्तिकला पर समग्र रूप से प्रकाश डालने वाली यह प्रथम कृति है जो पर्याप्त रूप से विश्लेषित एवं उपादेय सामग्री से परिपूर्ण है। आवश्यकतानुसार छायाचित्रों और रेखाचित्रों के प्रकाशन से यह और अधिक रोचक हो गयी है। आशा है शुधी पाठक इसका स्वागत करेंगे।

बी० एन० श्रीवास्तव
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (अवकाश प्राप्त)
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

प्राक्कथन

स्थापत्य एवं शिल्प मानव जीवन के साथ आदिकाल से जुड़े हैं। इनके द्वारा वह अपने जीवन के विविध क्रिया-कलापों को व्यक्त करता है। ये ऐसे माध्यम हैं जो प्रकृति तथा मानव प्रदत्त अनेक आपदाओं को सहन करते हुए भी पुरावशेषों एवं स्मारकों के रूप में बचे रहते हैं और कालान्तर में तत्कालीन कला, धर्म, संस्कृति तथा कुछ सीमा तक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर भी प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में स्थापत्य एवं शिल्प-कला का अपरिहार्य योगदान है।

ग्वालियर दुर्ग भारत के हृदयस्थल मध्यदेश में स्थित होने के कारण सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। यहां लगभग छठीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक हूणों, गुर्जर-प्रतिहारों, कच्छपघातों, मुसलमानों, तोमरों, मराठों, अंग्रेजों और सिन्धिया वंशी शासकों का आधिपत्य स्थापित रहा। उन्होंने समय-समय पर अनेक छोटे-बड़े निर्माण करवाकर दुर्ग को सुदृढ़ बनाने का सदैव प्रयास किया। साथ ही बहुत से सुन्दर मन्दिर, राजप्रासाद, वापी, कूप, तड़ाग भी निर्मित करवाये जो तत्कालीन स्थापत्य एवं शिल्प-कला के प्रतिनिधि उदाहरण माने जाते हैं।

ग्वालियर दुर्ग की गणना उत्तर भारत के समस्त दुर्ग रूपी मणि-मेखला में गुथी हुई एक प्रमुख मोती के रूप में की जाती है। यहाँ पर स्थित तेली के मन्दिर में प्रतिहार शैली तथा सास-बहू मन्दिर में कच्छपघात शैली का सर्वोत्तम रूप प्रतिविम्बित हुआ है। इसी प्रकार राजप्रासादों में राजा मानसिंह का मानमन्दिर भी अपनी कोई समता नहीं रखता। इन स्मारकों का निर्माण देश की स्थापत्य एवं शिल्पकला की प्रमुख धारा में बंधकर हुआ है, जिसकी पृष्ठभूमि गुप्तकाल में तैयार हो चुकी थी। किन्तु साथ ही इनके कलाकारों ने अपनी मौलिक कल्पना शक्ति का भी सहारा लिया है जिसके कारण इनमें कतिपय क्षेत्रीय विशेषताएं भी प्रस्फुटित हुई हैं। इस प्रकार ग्वालियर दुर्ग तथा उस पर स्थित स्मारक जहां एक ओर समग्र देश की स्थापत्य एवं शिल्पकला का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं उनमें मध्यदेश की एक विशिष्ट शैली (मध्यदेशीय शैली) के भी दर्शन होते हैं, जिसका विकास मूलधारा से थोड़ा हटकर होता गया है। अतः इन स्मारकों का अध्ययन जहाँ हमारे लिये सम्पूर्ण भारतीय वास्तुकला के विकास को समझने में सहायक है, वहीं अपनी स्थानीय विशिष्टियों के कारण इनमें क्षेत्रीय स्थापत्य एवं शिल्पकला के गुण भी समाहित हैं। वास्तु-वैशिष्ट्य के अतिरिक्त उत्कीर्ण शिल्प एवं मूर्ति-सम्पदा के कारण भी इनका अपूर्व महत्व है। यहां पर उत्कीर्ण ब्राह्मण तथा जैन देवी-देवताओं की मूर्तियां कला के अनुपम उदाहरण होने के साथ-साथ प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी विशेष महत्वपूर्ण हैं।

अनेक विद्वानों ने ग्वालियर दुर्ग तथा वहाँ पर स्थित मन्दिरों, राजप्रासादों एवं मूर्तियों के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इनमें कनिंघम, एम०बी० गर्दे, डी०आर० पाटिल, एस०एल० कटारे, कृष्णदेव, डब्लू०एम० माइकल, एच०एन० द्विवेदी, आर० नाथ, अर्थर

ह्यूज और कल्याण कुमार चक्रवर्ती के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सराहनीय प्रयास श्री कृष्णदेव द्वारा किया गया है, जिन्होंने सर्वप्रथम अपनी लघु पुस्तक 'टेम्पुल्स ऑफ नार्थ इण्डिया' में तेली के मन्दिर तथा साथ-बहू मन्दिर की वास्तुगत विशेषताओं का अत्यन्त सारगर्भित किन्तु अति संक्षिप्त परिचय दिया है। कालान्तर में उनके द्वारा तेली के मन्दिर पर एक विस्तृत शोधात्मक लेख भी प्रस्तुत किया गया। किन्तु फिर भी ग्वालियर दुर्ग के स्मारकों की स्थापत्य एवं शिल्पकला का अनुसंधानात्मक विस्तृत अध्ययन, विवेचन एवं समुचित मूल्यांकन का अभाव अभी तक बना हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ द्वारा पी-एच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत मेरे शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है, जिसमें उक्त कमी को पूरा करने का प्रयास किया गया है।

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित स्मारकों में तोमर और मुगलकालीन (१५वीं-१६वीं शताब्दी) राजप्रासादों को अनेक कारणों से पुस्तक में सम्मिलित नहीं किया गया है। इसमें ग्वालियर दुर्ग की संरचना एवं उसकी वास्तुगत विशेषताओं के साथ वहाँ पर स्थित बारहवीं शताब्दी तक के मन्दिरों एवं मूर्तियों का अध्ययन ही प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक में मूलतः सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ग्वालियर दुर्ग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इसमें विभिन्न साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर दुर्ग तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में शासन करने वाले शासकों की राजनीतिक गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके द्वारा दुर्ग पर किये गये निर्माण कार्यो एवं अन्य क्रिया-कलापों पर यथासम्भव प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अनेक साहित्यिक स्रोतों के आधार पर पुरातात्विक साक्ष्यों का संदर्भ देते हुए ग्वालियर दुर्ग की रचना तथा उसके महत्वपूर्ण अंगो का परिचय दिया गया है। इस दृष्टि से वप्र, प्राकार, अट्टालक, प्रवेश-द्वार, प्रतोली, कपिशीर्षक तथा जलाशयों आदि का विवरण उल्लेखनीय है।

तृतीय अध्याय में मन्दिरों की प्राचीनता एवं विकास-क्रम पर संक्षेप में चर्चा की गयी है। यहां विशेषकर मध्य भारतीय मन्दिरों के विकसित स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए उनके विभिन्न अंगों-उपांगों एवं अलंकरणों आदि पर प्रकाश डालकर ग्वालियर दुर्ग के मन्दिरों के अध्ययन के लिए पृष्ठभूमि तैयार की गयी है। साथ ही अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर कतिपय ऐसे प्रारम्भिक मन्दिरों का विवरण भी प्रस्तुत कर दिया गया है, जिनका अस्तित्व कभी दुर्ग पर था, किन्तु अब नष्ट हो गये हैं। इस अध्याय में गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों के विकास पर विहंगम दृष्टि डालते हुए ग्वालियर तथा उसके आस-पास नरेसर, बटेसर, अमरोल आदि के मन्दिरों में प्रतिहार शैली के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ततपश्चात् ग्वालियर दुर्ग पर स्थिल तेली का मन्दिर, चतुर्भुज मन्दिर, गणेश मन्दिर तथा केन्द्रीय संग्रहालय गुजरी-महल में सुरक्षित दुर्ग के दो अन्य शैल मन्दिरों की स्थिति, नामकरण, तलछन्द, ऊर्ध्वछन्द, जगती, प्रासादपीठ, वेदीबन्ध, जंघा, शिखर, गर्भगृह,

प्रवेश-द्वार, मण्डप, मूलनायक तथा तिथि आदि पर प्रकाश डालते हुए उनकी वास्तु एवं शिल्पगत वि शेषताओं की चर्चा की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में कच्छपघात शैली के मन्दिरों का वर्णन है। इसमें पढ़ावली, मितावली, ग्यारसपुर, बदोह, कदवाहा, दुबकुण्ड, सुरवाया और सुहानिया आदि के मन्दिरों में इस शैली के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी पृष्ठभूमि में ग्वालियर के सास-बहू मन्दिरों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन मन्दिरों का गर्भगृह एवं शिखर आदि यद्यपि नष्ट हो गया है, किन्तु मण्डपादि जो भी अवशिष्ट है, वह कच्छपघात शैली का अनुपम उदाहरण है। इस अध्याय में इनके महामण्डपों की संरचना, स्तम्भों, वितान, संवरणा, प्रवेश-द्वार एवं तिथि आदि का विस्तार से उल्लेख करते हुए यथास्थान वास्तु एवं शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर उनके परम्परागत विकास-क्रम को भी प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है।

पंचम अध्याय में मन्दिरों के अलंकरण के लिये चुने गये विविध माध्यमों के उद्भव एवं विकास को अनेक साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए ग्वालियर के मन्दिरों में उनकी स्थिति को स्पष्ट किया गया है। इसके लिए विशेषकर देवी-देवताओं की मूर्तियों, कीर्तिमुख, व्याल, सुर-सुन्दरी, मिथुन, घटपल्लव, गंगा-यमुना, नवग्रह, अष्टदिक्पाल और सप्तमातृकाओं को चुना गया है।

षष्ठ अध्याय में ग्वालियर दुर्ग तथा मन्दिरों में उत्कीर्ण ब्राह्मण और जैन देवी-देवताओं की प्रमुख मूर्तियों का कलात्मक एवं प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है। जैन प्रतिमाओं का चुनाव करते समय दुर्ग की पहाड़ी में उत्कीर्ण तोमरकालीन जैन मूर्तियों का संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत कर पाना सम्भव हो सका है। उनके बाहुल्य एवं विविधता को देखते हुए इन प्रतिमाओं पर पृथक शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता है । अतएव इस अध्याय में विष्णु, शिव, गणेश, कार्तिकेय, सूर्य, ब्रह्मा तथा लगभग बारहवीं शताब्दी तक की जैन प्रतिमाओं को ही विस्तृत विवेचन के लिए सम्मिलित किया गया है । प्रत्येक देवता की प्रतिमाओं के विवरण में सर्वप्रथम देवता सम्बन्धी सम्प्रदाय अथवा उसकी पूजा-परम्परा के उद्भव और विकास का संक्षिप्त इतिहास, विभिन्न शास्त्रों एवं कतिपय परवर्ती शिल्प-शास्त्रों यथा अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन आदि में उपलब्ध प्रतिमा-लक्षणों का विवेचन, मध्ययुग तक उस देव-प्रतिमा के विकास की रूपरेखा के साथ ग्वालियर दुर्ग व मन्दिरों की प्रतिमाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है और यथास्थान उनका कला में उपलब्ध अन्य उल्लेखनीय प्रतिमाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने का भी प्रयास किया गया है ।

सप्तम अध्याय में अध्ययन के फलस्वरूप प्रकाश में आये निष्कर्षों एवं उपलब्धियों की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की गयी है। अन्त में सहायक ग्रन्थ-सूची और पारिभाषिक शब्दों की तालिका तथा अनुक्रमणिका दी गयी है।

मैं अपने उन गुरुजनों, मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध को अन्तिम रूप में प्रस्तुत कर सकने में हमारी बहुविधि सहायता की है।

सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य गुरुवर डा० बी०एन० श्रीवास्तव के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने न केवल इस विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने हेतु प्रेरणा प्रदान की अपितु अपने योग्य निर्देशन, कुशल मार्गदर्शन तथा समय-समय पर दिये गये प्रोत्साहनों से इस दुष्कर कार्य को भी सुगम और सरल बना दिया। इसके अतिरिक्त मैं कलामर्मज्ञ श्री कृष्णदेव, भूतपूर्व निदेशक, स्कूल आफ आर्क्योलोजी, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली तथा प्रो०एम०ए० ढाकी, एसोसिएट डाइरेक्टर, इंस्टीट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी डाकूमेन्टेसन टीम के साथ ग्वालियर, नरेसर, बटेसर, अमरोल, पढ़ावली, मितावली, सुहानिया, पवाया आदि स्थलों के स्मारकों को देखने का अवसर प्रदान किया। साथ ही व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहकर उनकी स्थापत्य एवं शिल्पकला को समझने की दृष्टि दी। डा० बी०एन० श्रीवास्तव ने मेरे संरक्षक, अध्यापक और निर्देशक होने का गुरुतर भार सदैव वहन किया और आगे बढ़ने की प्रेरणा दी तथा उक्त दोनों कला के उद्भट विद्वानों ने समय-समय पर अपने अमूल्य विचारों से अवगत कराकर विषय के प्रति न केवल रुचि जागृत की अपितु अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर अध्ययन को पूर्णता की ओर ले जाने में अकथनीय सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार इस गुरुत्रयी द्वारा किए गये उपकारों को शब्दों में व्यक्त कर पाना मेरे लिए असम्भ है। मैं इन्हें बारम्बार नमन कर गुरुकृपा से और ज्ञान रूपी त्रिवेणी से अपने मानसपटल को सिंचित करते रहने और उसे सदैव हरा-भरा रखने की याचना करता हूँ। साथ ही मैं प्रो० के०डी० बाजपेयी, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, डा० बी० एन० पुरी, डा० ए० बी० एल० अवस्थी, डा० के०के० थप्ल्याल, डा० एस०एन० मिश्र, डा० रामाश्रय अवस्थी, डा० ए० लाल, डा० एस०एम० मिश्र, डा० एस०एन० कपूर और डा० जी०एस० भदौरिया, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ डा० एच०एन० द्विवेदी मानसेवी निदेशक, ग्वालियर शोध संस्थान, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर का भी ऋणी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने प्रोत्साहनों एवं सत्यपरामर्शो से मुझे सदैव उपकृत किया। मैं इन विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

उन संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति भी आभार निवेदन करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सहयोग के बिना किसी भी विद्यार्थी के लिए इस अपार अध्ययन-सागर को पार कर पाना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से अमेरिकन इंस्टीट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी का अभिलेखागार और पुस्तकालय, लखनऊ विश्वविद्यालय का टैगोर पुस्तकालय, ग्वालियर का केन्द्रीय पुस्तकालय और गुजरी महल संग्रहालय-पुस्तकालय तथा राजकीय संग्रहालय, लखनऊ एवं मथुरा के पुस्तकालय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परम मित्र डा० राकेश तिवारी, श्री गिरीश चन्द्रसिंह, डा० अम्बिका प्रसाद सिंह, डा० तहसीलदार सिंह, डा० श्यामानन्द उपाध्याय, श्री रमाकान्त चतुर्वेदी, डा० के०के० जैन, डा० बीना जैन, भाचित्रक श्री वहीद आगा और श्री रामगोपाल मिश्र, ड्राफ्ट्समैन, श्री बलराम कृष्ण श्रीवास्तव तथा टंकक श्री दर्शन प्रसाद गुप्त के बहुविध सहयोगों के लिए भी मैं बहुत अधिक अनुग्रहीत हूँ।

पुस्तक में प्रकाशित छायाचित्रों के लिए मैं डॉ० राकेश तिवारी निदेशक, उ०प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ तथा अमेरिकन इन्स्टिट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी का ऋणी हूँ। डॉ० तिवारी ने स्वयं मेरे साथ ग्वालियर जाकर न केवल चित्र खींचे अपितु स्मारकों के अभिलेखीकरण में भी मेरी सहायता की। पुस्तक में प्रकाशित चित्र सं० ३, ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २८, २९, ३०, ३१, ३४, ३५, ३६, ३८, ४५, ४६, ४७ और ४९ अमेरिकन इन्स्टिट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज रामनगर, वाराणसी के सौजन्य से तथा शेष चित्र डॉ० तिवारी के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन में डा० देवी प्रसाद तिवारी, डॉ० संघमित्रा, तरुण प्रकाशन, लखनऊ, लिंक मैन लेजर राइटर लखनऊ, श्री उमेश कुमार वर्मा तथा कु० सुमन लता का जो अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ उसके लिए मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूँ। पुस्तक के प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए मैं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली का भी आभारी हूँ।

शोध-कार्य हेतु ग्वालियर में महीनों आवासीय एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान करने के लिए मैं श्री वीरेन्द्र कुमार सिंह भदौरिया एवं उनकी पत्नी श्रीमती मृदुला भदौरिया (बुआजी) का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ, जिन्होंने अनेकों कष्ट सहकर भी मुझे सभी अभावों से दूर रखा। इन लोगों के उपकार को भुला पाना मेरे लिए बहुत कठिन है। अन्त में मैं उन सभी गुरुजनों एवं सहयोगियों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनका परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अपार सहयोग, प्रेम और प्रोत्साहन मुझे मिला है किन्तु स्थानाभाव के कारण मैं उनका नामोल्लेख यहां पर नहीं कर पा रहा हूँ बहुविधि सहयोग के लिए जीवनसंगिनी (श्रीमती सन्तोष कुमारी) के प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकता मात्र होगी।

जनवरी, १९९६ **अमर सिंह**

विषय सूची

पुस्तक में प्रकाशित छायाचित्रों के लिए मैं डॉ० राकेश तिवारी निदेशक, उ०प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ तथा अमेरिकन इन्स्टिट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, रामनगर, वाराणसी का ऋणी हूँ। डॉ० तिवारी ने स्वयं मेरे साथ ग्वालियर जाकर न केवल चित्र खींचे अपितु स्मारकों के अभिलेखीकरण में भी मेरी सहायता की। पुस्तक में प्रकाशित चित्र सं० ३, ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २८, २९, ३०, ३१, ३४, ३५, ३६, ३८, ४५, ४६, ४७ और ४९ अमेरिकन इन्स्टिट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज रामनगर, वाराणसी के सौजन्य से तथा शेष चित्र डॉ० तिवारी के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन में डा० देवी प्रसाद तिवारी, डॉ० संघमित्रा, तरुण प्रकाशन, लखनऊ, लिंक मैन लेजर राइटर लखनऊ, श्री उमेश कुमार वर्मा तथा कु० सुमन लता का जो अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ उसके लिए मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूँ। पुस्तक के प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए मैं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली का भी आभारी हूँ।

शोध-कार्य हेतु ग्वालियर में महीनों आवासीय एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान करने के लिए मैं श्री वीरेन्द्र कुमार सिंह भदौरिया एवं उनकी पत्नी श्रीमती मृदुला भदौरिया (बुआजी) का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ, जिन्होंने अनेकों कष्ट सहकर भी मुझे सभी अभावों से दूर रखा। इन लोगों के उपकार को भुला पाना मेरे लिए बहुत कठिन है। अन्त में मैं उन सभी गुरुजनों एवं सहयोगियों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनका परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से अपार सहयोग, प्रेम और प्रोत्साहन मुझे मिला है किन्तु स्थानाभाव के कारण मैं उनका नामोल्लेख यहां पर नहीं कर पा रहा हूँ बहुविधि सहयोग के लिए जीवनसंगिनी (श्रीमती सन्तोष कुमारी) के प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकता मात्र होगी।

जनवरी, १९९६ **अमर सिंह**

विषय सूची

चित्र –सूची

रेखा चित्र–सूची

संकेत सूची

अपराजित०	:	अपराजितपृच्छा
आ० स० इ०	:	आर्क्यिोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया
आ० स० रि०	:	आर्क्यिोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट
इ० आ० रि०	:	इण्डियन आर्क्यिोलोजी - ए रिव्यू
इ० ए०	:	इण्डियन एन्टिक्वेरी
इ० हि० क्वा०	:	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
उ० भा० रा० इति०	:	उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास
उ० तै० का० भा०	:	उत्तर तैमूरकालीन भारत
उद्योग०	:	उद्योगपर्व
ए० इ०	:	एपिग्रैफिया इण्डिका
का० इ० इ०	:	कार्पस इन्स्क्रिप्सनम इण्डिकेरम
ग्वा० रा० अभि०	:	ग्वालियर राज्य के अभिलेख
ज० आ० हि० रि० सो०	:	जर्नल आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी
ज० ए० सो० ब०	:	जर्नल आफ द र्‌वायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता
ज० ओ० इ० बड़ोदा	:	जर्नल आफ ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा
ज० न्यू० सो० इ०	:	जर्नल आफ द न्यूमिस्मेटिकल सोसायटी आफ इण्डिया, वाराणासी
डा० हि० ना० इ०	:	डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया
प्रा० भा० रा० एवं सां० इतिहास	:	प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
महा०	:	महाभारत
विष्णुधर्मोत्तर०	:	विष्णुधर्मोत्तरपुराण
शान्ति०	:	शान्तिपर्व
समरांगण०	:	समरांगणसूत्रधार

1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ग्वालियर नगर मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग में मध्य रेलवे की दिल्ली-बम्बई रेल मार्ग पर झाँसी से लगभग १०५ किलोमीटर उत्तर तथा आगरा से लगभग ११८ किलोमीटर दक्षिण में स्थित है। यहाँ आगरा अथवा झाँसी होते हुए रेलगाड़ी या बस द्वारा सुविधापूर्वक पहुँचा जा सकता है। नगर के मध्य भाग में एक ऊँची एवं विस्तृत पहाड़ी पर ग्वालियर का दुर्ग स्थित है। इसके पूर्व में मुरार तथा दक्षिण में लश्कर बसा है, किन्तु यह अपेक्षाकृत नवीन बस्तियाँ हैं। दुर्ग तथा उसके आस-पास का क्षेत्र 'ग्वालियर' नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। सम्भवतः नगर का यही भाग सबसे अधिक प्राचीन है। इसका नाम ग्वालियर कब और कैसे पड़ गया, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अनेक अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि दुर्ग की पहाड़ी प्राचीन काल में 'गोप' नाम से प्रसिद्ध थी। हूण शासक मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख में इसको 'गोपाहय नाम्नि भूधरे' अर्थात् 'गोप नामक पर्वत' कहा गया है।[१] विक्रम संवत् ९३३ (८७६ ई०) के भोजदेव के ग्वालियर अभिलेख में इसके लिये 'गोपगिरि' शब्द आया है।[२] इसी प्रकार वि० सं० ११५० के महीपाल के ग्वालियर अभिलेख में 'गोपाद्रि' एवं 'गोपाद्रि दुर्ग' नाम मिलते हैं।[३] विक्रम संवत् ११६१ के ग्वालियर अभिलेख में 'गोपालिखीर' नाम का प्रयोग किया गया है।[४] हुल्स के अनुसार आधुनिक नाम 'ग्वालियर' प्राचीन 'गोपालिखीर' का अपभ्रंस प्रतीत होता है।[५] ग्वालियर दुर्ग पर स्थित विशाल आदिनाथ की प्रतिमा की पीठिका पर विक्रम संवत् १४९७ के एक लेख में ग्वालियर के लिए 'गोपाचलदुर्ग' उल्लिखित है।[६] फजलअली ने 'कुल्याते ग्वालियरी' में तथा मुंशी हीरामन ने 'ग्वालियर नामा' में इस पहाड़ी को 'गोमन्त' कहा है।[७] गोमन्त नाम की एक अन्य पहाड़ी का उल्लेख पुराणों में भी हुआ है।[८] किन्तु इसकी स्थिति द्वारिका के निकट मानी गयी है।[९] उपर्युक्त साक्ष्यों में यद्यपि इस पहाड़ी के लिए गोप, गोपाद्रि, गोपगिरि आदि नामों का उल्लेख हुआ है, किन्तु किसी भी अभिलेख में इसे आधुनिक 'ग्वालियर' नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है। दुर्ग के 'ग्वालियर' नाम की उत्पत्ति एवं उसकी स्थापना के सम्बन्ध में प्रचलित किम्वदन्ती का विवरण प्रस्तुत करते हुए कनिंघम ने लिखा

---

१. फ्लीट, जे० एफ,० का० इ० इ०, खण्ड ३, पृ० १६२
२. ज० ए० सो० ब०, जि० ३१, पृ० ४०७
३. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३६-३७ की पंक्ति ४ तथा १४
४. इ० ए०, जि० १५, पृ० २०२
५. वही, पृ० २०२, टिप्पणी ५
६. ज० ए० सो० ब०, जि० ३१, पृ० ४२२
७. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग -२, पृ० ३७३
८. पौराणिक इन्साइक्लोपीडिया, पृ० २९४
९. काणे, पाण्डुरङ्ग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग (अनु० अर्जुन चौबे काश्यप), पृ० १४३१

है कि 'ग्वालियर की स्थापना कुन्तलपुरी या कुटवार के राजा सूरजसेन नामक एक कछवाहा सामन्त प्रधान द्वारा की गई थी। सूरजसेन कोढ़ी था। एक दिन जब उसे 'गोपगिरि' पहाड़ी के पास शिकार खेलते हुए प्यास लगी, तो वह 'ग्वालियार' नामक सिद्ध की गुफा पर जा पहुँचा और पीने के लिए पानी माँगा। साधु ने स्वयं पात्र से कुछ जल उसे दिया जिसको पीते ही वह कुष्ट रोग से मुक्त हो गया। कृतज्ञ राजा ने उस पवित्रात्मा साधु से पूछा कि वह उसकी क्या सेवा कर सकता है। इस पर साधु ने उसे उस पहाड़ी पर एक किले का निर्माण करने तथा उस तालाब को, जिससे रोग निवारण जल लिया गया था, बड़ा कराने का आदेश दिया। तद्नुसार सूरजसेन ने किले का निर्माण करवाया, जिसका नाम उसने उस एकान्तवासी साधु के नाम पर 'ग्वालिअर' या 'ग्वालियर' रखा, जैसा कि आजकल लिखा जाता है। उसने तालाब को भी बड़ा करवाया और अपने नाम पर उसका नाम 'सूरजकुण्ड' रखा तथा उसे आशीर्वाद दिया कि उसके बाद उसके ८४ वंशज राज करेंगे, अथवा जैसा कि फजलअली का कथन है, जब तक उसके वंशज पाल-युक्त नाम ग्रहण किए रहेंगे, तब तक वे राज करते रहेंगे। तद्नुसार उसके ८३ उत्तराधिकारियों के पाल-युक्त नाम ग्वालियर के राजाओं के रूप में उल्लिखित हैं। इसके बाद तेजकर्ण नामक ८४वें उत्तराधिकारी को अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा, क्योंकि उसने उक्त पाल-युक्त नाम धारण नहीं किया था, जैसा कि खड्गराय लिखता है-

तेजकरन ते पाल न थए,
सिद्धि वचन परिपूरन भए [१०]

कनिंघम द्वारा उधृत उपर्युक्त किंवदन्ती की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए पुरातात्विक साक्ष्यों का अभाव है। अभिलेखों में उल्लिखित गोपगिरि, गोपाद्रि, गोपाचल, गोपालिखीर आदि नामों का प्रथम पद 'गोप' ग्वालियर के 'ग्वाल' शब्द का पर्यायवाची है। अतः 'ग्वालियर' की व्युत्पत्ति का आधार 'गोप' (ग्वाल) शब्द प्रतीत होता है।

ग्वालियर तथा उसके आस-पास का क्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल की पुरासम्पदा को अपने में संजोये है। अनेक पुरातात्विक खोजों से ज्ञात होता है कि पाषणकाल से ही यहाँ पर मानव संस्कृति का पदार्पण हो चुका था। ग्वालियर नगर से ३ कि० मी० पश्चिम गोपेश्वर, १५ कि० मी० दक्षिण पनिहर, ३० कि० मी० दक्षिण छोहुण्ड्रा और नोन की घाटी तथा मोरार की घाटी आदि स्थलों से हैण्डएक्स, क्लीवर, बोर, कोर, स्क्रैपर, ब्लेड आदि पूर्व पुरापाषाण कालीन तथा मध्य पुरापाषाण कालीन उपकरण बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।[११] इससे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में पाषाण काल से ही मानव संस्कृति का विकास प्रारम्भ हो चुका था। ग्वालियर जिले के जदरुवा नामक स्थल के

---

१०. कनिंघम, आ० स० रि०, जि० २, पृ० ३७३

११. लाल, बी० बी० और नौटियाल, के० पी,० लोवर एण्ड मिडिल पैलियोलिथिक इन्डस्ट्रीज इन ग्वालियर, सेमिनार आन इण्डियन प्री हिस्ट्री, २५ से २९ जून, १९७४, डेकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्युट, पूना, पृ० १-१८

उत्खनन से पांचवीं-छठीं शताब्दी ई० पू० में प्रयुक्त चित्रित धूसरित मृद्भाण्ड, काले और लाल मृद्भाण्ड तथा मौर्य काल में प्रयुक्त उत्तर कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड (एन० वी० पी० वेयर) प्राप्त हुए हैं।[१२] छठीं शताब्दी ई० पूर्व में यह क्षेत्र सूरसेन जनपद के अन्तर्गत आता था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। कालान्तर में मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति महाजनपदों के बीच स्थापित हुई साम्राज्य विस्तार की प्रतिद्वन्द्विता में सर्वाधिक लाभ मगध को हुआ और शिशुनाग वंश के उदय के पश्चात् अवन्ति तक के सम्पूर्ण भू-भाग मगध महाजनपद में सम्मिलित हो गये। संभवतः वत्स जनपद इससे पहले ही अवन्ति राज्य का अंग बन चुका था। इस प्रकार इस समय तक ग्वालियर का प्रदेश भी मगध के साम्राज्यवादी शासकों के अधीन हो गया था। महापद्म नन्द के शासनकाल में पूर्व में कलिंग से लेकर पश्चिम में कुरु, पांचाल, अवन्ति तक के प्रदेश निश्चयपूर्वक मगध साम्राज्य के अन्तर्गत थे। नन्दों के पतन के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। मौर्य शासकों का राज्य हिन्दुकुश से लेकर बंगाल तक तथा हिमालय से लेकर मैसूर तक विस्तृत था। इस प्रकार तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में ग्वालियर तथा उसके आस-पास का भू-भाग मौर्य शासकों के अधीन था। तत्पश्चात् उस पर शुंगवंशी ब्राह्मण राजाओं का अधिकार स्थापित हुआ। अनेक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि १८५ ई० पूर्व में अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की उसके सेनापति पुष्यमित्र ने हत्या करके शुंगवंश की स्थापना की।[१३] पुष्यमित्र के बाद १४८ ई० पूर्व में उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। मालविकाग्निमित्रम् से हमें ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र के राज्यकाल में अग्निमित्र विदिशा अथवा पूर्वी मालवा का शासक था।[१४] विदिशा से प्राप्त एक प्रस्तर स्तम्भ के टुकड़े पर भागवत के शासनकाल के बारहवें वर्ष का ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ लेख मिला है। इस अभिलेख का 'भागवत' पुराणों में वर्णित शुंगवंशी राजा भागवत ही प्रतीत होता है।[१५] शुंगों के पश्चात् मगध पर कण्व वंशी शासकों का राज्य स्थापित हुआ, जिन्होंने ४५ वर्ष तक शासन किया। यद्यपि मगध में शुंगों का शासन समाप्त हो गया था, फिर भी पुराणों के अनुसार विदिशा में इनकी शासन सत्ता उस समय तक बनी रही, जब तक कि आन्ध्र शासक सिमुक ने यहाँ आकर इन्हें पराजित नहीं कर दिया।[१६] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्वालियर का क्षेत्र इस बीच भी विदिशा के शुंग राजाओं के अधीन रहा होगा।

इस बात का प्रमाण उपलब्ध है कि ईसा पश्चात् पहली शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ग्वालियर क्षेत्र के आस-पास नागवंशीय राजाओं का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। पवाया से प्राप्त पुरालेख से पता चलता है कि नाग राजवंश के प्रारम्भिक राजा स्वामिन शिवनंदी के राज्य काल के

---

१२. इण्डियन आर्क्योलाजी - ए रिविव, १९७१-७२, पृ० २९-३०

१३. वेदालंकार, हरिदत्त, प्रा० भा० रा० एवं सां० इतिहास, पृ० ११

१४. वही, पृ० २३

१५. वही, पृ० २५

१६. वही, पृ० २६

चतुर्थ वर्ष में किसी लोक निकाय के कुछ सदस्यों ने यक्ष मणिभद्र की एक मूर्ति अर्पित की थी।[१७] ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पश्चात् कुषाणों ने इस क्षेत्र के नागों को अपदस्थ कर दिया था।

कुषाणवंश का सबसे महान शासक कनिष्क प्रथम (७८ ई०-१०१ ई०) था। उसका साम्राज्य मध्य एशिया से लेकर पूर्व में बनारस तक और दक्षिण में साँची तक विस्तृत था और मथुरा उसकी द्वितीय राजधानी थी। इस प्रकार कनिष्क के साम्राज्य की सीमा के अन्तर्गत ग्वालियर का क्षेत्र भी आ जाता है। कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् कुषाण वंश में कोई भी ऐसा शासक न हुआ जो उसके विशाल साम्राज्य को अक्षुण बनाये रखता। अतः धीरे-धीरे दूसरी शताब्दी ई० के अंत तक कुषाणवंश का प्रभाव प्रायः समाप्त हो चुका था।

कुषाणों के पतन के साथ-साथ ही नागों की सत्ता का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने पद्मावती (पद्मपवाया), मथुरा और कान्तिपुरी को केन्द्र में रखकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस प्रकार तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में पुराने ग्वालियर राज्य तथा उसके पश्चिमोत्तर प्रदेश में नागवंशी परिवार शासन कर रहे थे।

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने चौथी शताब्दी ई० के मध्य आर्यावर्त के अनेक नाग राजाओं को पराजित कर अपने साम्राज्य की सीमाएँ पूर्वी मालवा से पश्चिमी बंगाल तथा हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत श्रृंखला तक विस्तृत कर ली थीं।[१८] अनेक साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्यों से पता चलता है कि समुद्रगुप्त से लेकर बुधगुप्त (४९४ ई०) के शासनकाल तक मालवा से लेकर बंगाल तक का भू-भाग गुप्तों के प्रत्यक्ष शासन में अवश्य बना रहा। गु० सं० १६५ के एरण अभिलेख का उल्लेख है कि बुधगुप्त के राज्यपाल के रूप में सुरश्मिचन्द्र नर्मदा एवं यमुना नदियों के दो आब में शासन कर रहा था।[१९] इससे स्पष्ट है कि ग्वालियर तथा उसके आस-पास का क्षेत्र समुद्रगुप्त से लेकर बुधगुप्त (लगभग ५०० ई०) तक प्रत्यक्ष रूप से गुप्त शासकों के अधीन रहा। बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया और कालान्तर में हूणों, वाकाटकों तथा यशोवर्मन के आक्रमणों एवं अन्य नवीन राजवंशों के उदय हो जाने से वह छिन्न-भिन्न हो गया।

छठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में ग्वालियर एक बार हूणों के प्रभाव में भी आया। हूण शासन मिहिरकुल के शासनकाल के १५वें वर्ष का एक अभिलेख ग्वालियर दुर्ग पर स्थित एक सूर्य मन्दिर से प्राप्त हुआ है जिसमें मातृकुल के पौत्र मातृदास के पुत्र मात्रचेट नामक व्यक्ति द्वारा नाना धातुओं से सुशोभित 'गोप' नामक पर्वत पर एक सूर्य मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है।[२०] किन्तु हूणों का यह प्रभाव ग्वालियर पर अधिक समय तक स्थापित नहीं रह सका क्योंकि इसी समय

---

१७. आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट, १९१५-१९१६, पृ० १०२-१०६, गर्दे, एम० बी०, पद्मावती, पृ० ४

१८. फ्लीट, जे० एफ०, का० इ० इ०, खण्ड ३, पृ० ६-७

१९. वही, पृ० ८९

२०. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्संस, पृ० ४००

एकाएक मालवा में यशोधर्मन नामक शासक का उदय हुआ जिसने अपनी दिग्विजय के फलस्वरूप ऐसे प्रदेशों में भी अपना आधिपत्य स्थापित किया, जिनमें गुप्त नरेशों ने भी शासन नहीं किया था।[२१] उसकी विजयों का वर्णन करने वाला स्तम्भ लेख मन्दसौर से प्राप्त हुआ है, जिसमें कहा गया है कि उसने पूर्वी सागर से लेकर लौहित्य नदी (ब्रह्मपुत्र) के उपकण्ठ तक तथा पश्चिमी समुद्र से लेकर हिमालय पर्वत तक विजय यात्रा की थी।[२२] इसके अतिरिक्त हूण सम्राट मिहिरकुल ने बहुमूल्य उपहारों के साथ उसके दोनों पैरों की वन्दना की थी।[२३] इससे स्पष्ट है कि यशोधर्मन ने मालवा को केन्द्र में रखकर पूर्वोत्तर भरत में कोई सैनिक अभियान किया था। उसकी यह विजय-यात्रा मगध के उत्तरकालीन गुप्त शासकों के विरुद्ध भी हुई होगी। अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ५२८ ई० तक मध्य प्रदेश में गुप्तों की अधीनता में परिव्राजक-वंश शासन कर रहा था।[२४] अतः यशोधर्मन का उदय इस तिथि के बाद ही हुआ होगा और तभी उसने मिहिरकुल को भी पराजित किया होगा। विजय-यात्रा का वर्णन करने वाले स्तम्भ लेख में तिथि नहीं है, किन्तु वहीं से प्राप्त उसके एक अन्य शिलालेख में विक्रम संवत् ५८९ (५३२ ई०) तिथि अंकित है।[२५] अधिकांश विद्वानों का मत है कि तिथि वाला लेख बिना तिथि वाले लेख के बाद का है।[२६] अतः ५३२ ई० तक यशोधर्मन अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था और ग्वालियर आदि प्रदेश उसके प्रत्यक्ष शासन में सम्मिलित हो चुके थे।

दुर्भाग्यवश कुछ ही दिनों में यशोधर्मन का अन्त हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् मालवा और मगध के उत्तरकालीन गुप्त शासकों को साम्राज्य विस्तार का अच्छा अवसर मिल गया। इस समय तक कन्नौज का नवोदित मौखरिवंश भी उत्तरकालीन गुप्तों की अधीनता में शासन कर रहा था। अतः ग्वालियर के क्षेत्र पर उत्तरकालीन गुप्तों का ही प्रभुत्व रहा। कालान्तर में मौखरि शासक ईशानवर्मा और सर्ववर्मा ने गुप्तों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी और दामोदर गुप्त को मारकर मगध का अधिकांश भाग छीन लिया। अतः दामोदर गुप्त के पुत्र महासेन गुप्त को मालवा की शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार यद्यपि कुछ समय के लिए मगध का कुछ भाग उत्तरकालीन गुप्तों के हाथ से निकल गया, किन्तु यमुना और नर्मदा के बीच स्थित ग्वालियर और मालवा के क्षेत्र अब भी उनके अधीन बने रहे।

६०६ ई० में हर्ष के सिंहासनारोहण के पश्चात् हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी और विन्ध्यपर्वत श्रृंखला तक तथा पूर्व में बंगाल, बिहार और उड़ीसा से लेकर पश्चिम

---

२१. वही, पृ० ३९४
२२. वही, पृ० ३९४
२३. वही, पृ० ३९५
२४. का० इ० इ०, ३, पृ० ९३-१०५, ए० इ०, ८, पृ० १८४, २१, पृ० १२४, २८, पृ० २६४
२५. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, पृ० ३८७, का० इ० इ०, ३, पृ० १५२
२६. का० इ० इ०, ३, पृ० ३९६

में कम से कम मालवा तक का भू-भाग उसके साम्राज्य का अंग बन गया। दुर्भाग्यवश हर्ष के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के पश्चात् (६४६-४७ ई०) मौखरियों ने पुनः कन्नौज की सत्ता पर अधिकार कर लिया। नालन्दा से प्राप्त एक मुहर से अवन्तिवर्मन के पुत्र एवं ग्रहवर्मन के भाई सुचन्द्र (वर्मन) का उल्लेख मिलता है।[२७] डॉ० श्रीवास्तव ने इसका शासनकाल ६४८ ई० से ६६४ ई० के बीच रखा है।[२८] नेपाल से प्राप्त एक अभिलेख से भोगवर्मन नामक एक अन्य राजा का भी पता चलता है, जिसने नेपाल और मगध के राजकुलों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए थे।[२९] मनोरथवर्मा नामक तीसरे राजा का एक अभिलेख वाराणसी जिले के चकिया क्षेत्र के हलिया नामक गाँव से मिला है।[३०] आर्यमंजुश्रीमूलकल्प का उल्लेख है कि सुवर (सुचन्द्रवर्मन) के पश्चात् भी कुछ मौखरि शासक हुए किन्तु वे अधिक शक्तिशाली नहीं थे।[३१] इससे स्पष्ट है कि सुचन्द्रवर्मा के बाद के मौखरि शासकों ने कन्नौज के आस-पास के क्षेत्रों पर ही शासन किया। इस प्रकार सातवीं शताब्दी में ग्वालियर का क्षेत्र हर्ष तथा बाद के मौखरि शासकों के अधीन रहा।

आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किसी समय उत्तर भारत में यशोवर्मन का अभ्युदय हुआ, जिसने कन्नौज के प्राचीन गौरव का उद्धार करके पुनः एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। डॉ० त्रिपाठी ने यशोवर्मन का शासनकाल ७२५ ई० और ७५२ ई० के मध्य माना है।[३२] विभिन्न साक्ष्यों की विवेचना करने के पश्चात् डॉ० मिश्र ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यशोवर्मन के साम्राज्य की सीमाएँ पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में राजपूताना की सीमाओं तक अथवा उसका कुछ भू-भाग, उत्तर पश्चिम में थानेश्वर, यमुना की घाटी तथा उसके भी परे तक विस्तृत थीं। जहाँ तक दक्षिण की ओर का प्रश्न है यशोवर्मन के साम्राज्य विस्तार के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु ग्वालियर तथा उसके दक्षिण का कुछ भू-भाग उसके साम्राज्य में अवश्य सम्मिलित था।[३३]

बप्पभट्टिसूरि चरित तथा प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि यशोवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी यशोदेवी से उत्पन्न पुत्र आम ने ग्वालियर में अपना दरबार किया था, लेकिन प्रभावक चरित का उल्लेख है कि उसने पिता के समान कन्नौज से ही शासन किया था।[३४] बप्पभट्टिसूरि के प्रभाव में आकर उसने अनेक जैन मूर्तियों का निर्माण करवाया, जिसमें ग्वालियर में निर्मित महावीर की

---

२७. ए० इ०, जि० २४, पृ० २८५
२८. श्रीवास्तव, बी० एन०, हर्ष एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ० ११८
२९. इ० ए०, जि० ९, पृ० १७८, अभिलेख संख्या १५, पंक्ति १३ (जयदेव का अभिलेख)
३०. ए० इ०, जि० ३४, पृ० २४६-२४७
३१. आर्यमंजुश्रीमूलकल्प, पृ० ६२६
३२. त्रिपाठी, आर० एस०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० १९४-१९७
३३. मिश्र, एस० एम०, यशोवर्मन आफ कन्नौज, पृ० ९२
३४. पण्डित, एस० पी०, गौडवाहो की भूमिका, पृ० १३९, १४५; राजशेखर, प्रबन्धकोश, पृ० २७-२८; प्रभावक चरित (पंचम, १८८), पृ० ८३

एक विशाल प्रतिमा भी सम्मिलित है, जिसकी ऊँचाई २७ हाथ बतलाई गई है।[३५] प्रबन्धकोश में गोपगिरि या गोपालगिरि (ग्वालियर) को आम के नगर के रूप में उद्धृत किया गया है, यहाँ पर उसने महावीर के एक मन्दिर का निर्माण करवाया था।[३६]

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आम कन्नौज के शासक यशोवर्मन (७२५-७५२ ई०) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था।[३७] किन्तु डॉ० दशरथ शर्मा प्रभृति विद्वान प्रभावक चरित में उल्लिखित आम की उपाधि 'नागावलोक' के आधार पर उसका समीकरण गुर्जर-प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय (८००-८३३ ई०) से करते हैं।[३८] ए० डी० पुसालकर ने आम की पहचान नागभट्ट द्वितीय के पिता वत्सराज से करने का प्रयास किया है।[३९] डॉ० श्याम मनोहर मिश्र ने आम को यशोवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी माना है। उनका कथन है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् वह कन्नौज में शासन कर रहा था, किन्तु गुर्जर-प्रतिहारों तथा पालों के मध्य कन्नौज को लेकर उत्पन्न हुई प्रतिद्वन्दिता के परिणामस्वरूप आम को अपनी पैतृक राजधानी कन्नौज को छोड़ना पड़ा। तब उसने अपना मुख्यालय ग्वालियर में स्थापित किया।[४०] ए० बी० उत्गिकर ने गौडवाहो के द्वितीय संस्करण की भूमिका में बप्पभट्टिसूरि चरित का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा आम ने वि० सं० ८११ (७५५ ई०) में बप्पभट्टि को 'सूरी' पद से विभूषित किया था।[४१] प्रभाकर चरित में आम के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम दुन्दुक मिलता है तथा दुन्दुक का पुत्र भोज था जो अपने पिता को मारकर राजसिंहासन पर बैठा।[४२]

आठवीं-नवीं शताब्दी में ग्वालियर पर गुर्जर-प्रतिहारों का साम्राज्य स्थापित हुआ। ग्वालियर दुर्ग में स्थित चतुर्भुज मन्दिर से मिहिर भोज के शासनकाल के दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक अभिलेख वि० सं० ९३२ (८७५ ई०) का है तथा दूसरा वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) का। वि० सं० ९३२ वाले अभिलेख में कहा गया है कि इस विष्णु मन्दिर का निर्माण वर्ज्जर वंशीय नागर भट्ट के पौत्र वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल द्वारा करवाया गया था।[४३] वैल्लभट्ट को रामभद्र ने ग्वालियर में मर्यादाधुर्य (अन्तपाल) के पद पर नियुक्त किया था। वैल्लभट्ट का पुत्र अल्ल अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ, जिसे श्रीमदआदिवराह (भोज) ने गोपाद्रि अथवा ग्वालियर का संरक्षक नियुक्त

---

३५. मजूमदार और पुसालकर, द एज़ आफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, १९५५, पृ० २९०
३६. प्रबन्धकोश, पृ० २८-२९
३७. त्रिपाठी, आर० एस०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २११
३८. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रो द एजेज़, भाग १, पृ १४३
३९. मजूमदार और पुसालकर, ए० डी०, द एज़ आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० १९०
४०. मिश्र, श्याम मनोहर, यशोवर्मन आफ कन्नौज, पृ० १२०
४१. उत्गिकर, एन० बी०, गौडवाहो की भूमिका, नोट २
४२. प्रभावक चरित, पृ० १०९
४३. ए० इ०, जि० १, पृ० १५६

किया था।[४४] वि० सं० ९३३ के अभिलेख में वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल द्वारा निर्मित दो मन्दिरों को दिये जाने वाले चार दानों का उल्लेख है तथा अल्ल को स्पष्ट रूप से गोपाद्रि (ग्वालियर) का 'कोट्टपाल' कहा गया है।[४५] इन अभिलेखों से यह भी स्पष्ट है कि नागभट्ट द्वितीय के पश्चात् ग्वालियर पर रामभद्र और उसके उत्तराधिकारी मिहिरभोज का आधिपत्य स्थापित हुआ। रामभद्र का शासन काल अशान्ति का काल था। ग्वालियर के सागरताल अभिलेख में कहा गया है कि रामभद्र ने 'सर्वोत्तम घोड़ों' वाले अनेक सामन्तों से (शत्रुओं की) सेनाओं के नायकों को बलपूर्वक बंधवाया।[४६] इससे प्रतीत होता है कि रामभद्र के साम्राज्य पर किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया था, जिसका सामना करने के लिए उसे सामन्तों की सहायता लेनी पड़ी।[४७] अनेक विद्वानों का निष्कर्ष है कि रामभद्र की कमजोरी के परिणाम स्वरूप गुर्जरत्रा भूमि एवं कालंजर मण्डल के कुछ प्रदेशों से उसका शासन समाप्त हो गया था।[४८] परन्तु ग्वालियर जैसे सुदृढ़ क्षेत्रों पर रामभद्र का अधिकार अब भी बना रहा, क्योंकि वैल्लभट्ट नामक अधिकारी उसकी ओर से वहाँ पर 'मर्यादाधुर्य' अर्थात् अन्तपाल के पद पर नियुक्त था।[४९]

रामभद्र के पश्चात् उसकी रानी अप्पादेवी से उत्पन्न पुत्र मिहिरभोज ८३६ ई० में सिंहासनासीन हुआ। उसने अपने पिता के निर्बल शासन में छिन्न-भिन्न हुए प्रतिहार साम्राज्य को पुनः संगठित एवं सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। रामभद्र की कमजोरी का लाभ उठाकर बुन्देलखण्ड एवं गुर्जरत्रा भूमि के जो प्रदेश उसके साम्राज्य से बाहर निकल गये थे मिहिर भोज ने उन्हें पुनः अपने साम्राज्य में मिला लिया।[५०]

मिहिरभोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल ८८५ ई० के लगभग सिंहासन पर बैठा। महेन्द्रपाल की अन्तिम तिथि ९०७ ई० मिलती है।[५१] उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए सम्भवतः उसके दो पुत्रों भोज द्वितीय और महेन्द्रपाल (प्रथम) के बीच गृहयुद्ध हुआ। उत्तराधिकार के इस युद्ध में पहले भोज द्वितीय सफल हुआ, किन्तु उसके अत्यल्प शासन के पश्चात्

---

४४. वही, पृ० १५६

४५. वही, पृ० १५९

४६. वही, जि० १८, पृ० १०८

४७. डॉ० मजूमदार का मत है कि रामभद्र पर यह दबाव पालों की ओर से था (जर्नल आफ दि डिपार्टमेण्ट आफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, जिल्द १०, पृ० ४६)। नारायणपाल के बदल स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि पाल नरेश देवपाल ने उत्कलों, हूणों, द्रविड़ों और गुर्जरों को पराजित किया था (ए० इ० जिल्द २, पृ० १६२, श्लो० १३)। डॉ० पुरी का मत है कि यहाँ पर गुर्जरों का तात्पर्य गुर्जर नरेश रामभद्र से ही है (पुरी, बी० एन०, द हिस्ट्री आफ द गुर्जर प्रतिहाराज, पृ० ५०)। परन्तु डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी उसका समीकरण मिहिर भोज के साथ करते हैं (त्रिपाठी, आर० एस०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २४१)।

४८. पाठक, विशुद्धानन्द, उ० भा० रा० इति०, पृ० १४०

४९. ए० इ०, जि० १, १५६-१५७, श्लो० ७

५०. त्रिपाठी, आर० एस०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० २३८-२३९

५१. पाठक, विशुद्धानन्द, उ० भा० रा० इति०, पृ० १५६

महीपाल ने शासन की बागडोर संभाली। ग्वालियर में चन्देरी स्थित रखेत्र नामक स्थान से प्राप्त वि० सं० १००० (९४३ ई०) के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि ग्वालियर तथा उसके आसपास का भू-भाग महीपाल के अधिकार में था।[५२] महीपाल के पश्चात् महेन्द्रपाल द्वितीय, देवपाल तथा उनके अन्य उत्तराधिकारियों का शानकाल बहुत थोड़े वर्षों का था । इस समय तक प्रतिहार साम्राज्य एक ओर राष्ट्रकूटों के लगातार आक्रमणों से जर्जरित हो चला था तथा दूसरी ओर उनके अनेक सामंतों ने अपने स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिए थे।

गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के पश्चात् मध्य भारत में चन्देलों, कल्चुरियों तथा मालवा के परमारों का राज्य स्थापित हुआ। साथ ही साथ चन्देलों की अधीनता में नरवर, दुबकुण्ड और ग्वालियर में कच्छपघातों ने भी शासन करना प्रारम्भ किया। चन्देल शासक धंग वि० सं० १०११ (९५४ ई०) का खजुराहो अभिलेख एक ओर विनायक पाल (द्वितीय) को पृथ्वी का पालक बताता है तथा दूसरी ओर धंग का राज्य कालंजर से लेकर भास्वत तक, वहाँ से कालिन्दी नदी के किनारे तक, चेदि देश की सीमाओं तक तथा गोप (ग्वालियर) नामक पर्वत (गोपाभिधान गिरि) तक विस्तृत बताता है।[५३] इससे सिद्ध होता है कि इस तिथि तक धंग ने, प्रतिहारों की नाममात्र की अधिसत्ता स्वीकार करते हुए, ग्वालियर तक अपना प्रभाव विस्तृत कर लिया था। कच्छपघात शासक महीपाल के वि० सं० ११५० (१०९३ ई०) के ग्वालियर अभिलेख में लक्ष्मण के पुत्र वज्रदामन को 'गाधिनगर' के शासक की उद्दाम वीरता का अंत करने वाला और गोपगिरि (ग्वालियर) के दुर्ग पर विजय-दुंदुभी बजाने वाला कहा गया है।[५४] ग्वालियर से प्राप्त एक खण्डित मूर्ति लेख से बज्रदामन की एक तिथि वि० सं० १०३४ (९७७ ई०) ज्ञात होती है।[५५] अतः स्पष्ट है कि कच्छपघात वंश के राजा वज्रदामन ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार लगभग एक ही समय में चन्देल शासक धंग और कच्छपघात शासक वज्रदामन द्वारा ग्वालियर पर अधिकार किए जाने का उल्लेख मिलता है। डॉ० त्रिपाठी के मतानुसार यह वज्रदामन चन्देल शासक धंग का सामन्त था और ग्वालियर विजय में धंग ने अपने सामन्त की सहायता की थी।[५६]

ग्वालियर दुर्ग में स्थित सास-बहू मन्दिर से प्राप्त अभिलेख में वज्रदामन के पश्चात् मंगलराज, कीर्तिराज, मूलदेव (भुवनैकमल्ल तथा त्रैलोक्यमल्ल विरुद), देवपाल, पद्मपाल तथा महीपाल नाम के अन्य कच्छपघात वंशीय राजाओं का उल्लेख मिलता है।[५७] अभिलेख के अनुसार वज्रदामन का उत्तराधिकारी मंगलराज हुआ। इसका वज्रदामन से क्या सम्बन्ध था, यह अभिलेख में

५२ आ० स० रि०, १९२४-२५, पृ० १६८
५३. ए० इ०, जि० १, पृ० १२९, १३४, श्लोक ४५
५४. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३३-४६
५५. ज० ए० सो० व०, जि० ३१, पृ० ३९३
५६. त्रिपाठी, आर०एस०, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० २९८
५७. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३३-४६

उल्लिखित नहीं है। इसके लिए कहा गया है कि उसने अपने शत्रुओं को इस प्रकार बिखेर दिया था जैसे सूर्य की हजारों किरणें अन्धकार को समाप्त कर देती हैं।[५८]

मंगलराज के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी कीर्तिराज हुआ। सास-बहू अभिलेख में कहा गया है कि कीर्तिराज ने मालवा के राजकुमार (मालव भूमिप) की असंख्य सेना को युद्ध में पराजित किया था। इस युद्ध में मालवा की सेना को ऐसा भीषण आघात पहुँचा कि भय के मारे उनके हाथों से भाले गिर गये और बाद में ग्रामवासियों ने उन्हें उठाकर अपने घरों के आस-पास उनका ढेर लगा दिया।[५९] मालवा के इस राजकुमार की पहचान प्रायः भोज परमार से की जाती है, जो स्वयं भी एक शक्तिशाली शासक था।[६०] परमार राजा की शक्ति को देखते हुये इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि कीर्तिराज ने चन्देल राजा की सहायता के बिना ही यह विजय प्राप्त कर ली होगी। अतः बहुत सम्भव है कि भोज के विरुद्ध युद्ध में विद्याधर चन्देल ने अपने कच्छपघात सामंत कीर्तिराज की सहायता की हो।[६१] उनके शासनकाल की एक अन्य घटना महमूद गजनवी का आक्रमण है। १०२२ ई० में चन्देलों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करने के उद्देश्य से महमूद ने काल[illegible]जर पर आक्रमण किया। किन्तु इससे पहले मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को जीतने का प्रयत्न किया। यह किला इतना सुदृढ़ था कि महमूद उस पर अधिकार न कर सका। चार दिन के घेरे के बाद राजपूत राजा ने ३५ हाथियों का उपहार भेजकर सन्धि कर ली।[६२] कीर्तिराज के पश्चात् उसका पुत्र मूलदेव गद्दी पर बैठा। सास-बहू अभिलेख में इसके लिए 'भुवनपाल' और त्रैलोक्यमल्ल' विरुदों का उल्लेख मिलता है।[६३] मूलदेव के पश्चात् उसकी रानी देवव्रत से उत्पन्न पुत्र देवपाल राजा हुआ। देवपाल को 'अपराजित' भी कहा गया है। सास-बहू अभिलेख में कहा गया है कि उसने उदारता में कर्ण को, धनुर्विद्या में पार्थ के पुत्र (अभिमन्यु) को और सत्यता में धर्मराज को भी पछाड़ दिया था।[६४] मूलदेव का उत्तराधिकारी उसका पुत्र पद्मपाल हुआ। अभिलेख में कहा गया है कि उसने चतुर्दिक युद्ध किए और उसकी सेना ने सुदूर दक्षिण तक अभियान किया। उसकी मृत्यु युवावस्था में ही हो गयी थी।[६५] पद्मपाल के पश्चात् महीपाल गद्दी पर बैठा। सास-बहू अभिलेख में उसको सूर्यपाल का पुत्र और पद्मपाल का 'भ्राता' कहा गया है।[६६] इस प्रकार सम्भवतः महीपाल पद्मपाल का चचेरा भाई था। अभिलेख में उसके लिए 'भुवनैकमल्ल' विरुद मिलता है। सास-बहू मन्दिर में स्थापित अभिलेख की तिथि वि० सं० ११५० (१०९३ ई०) है। इस प्रकार सास-बहू अभिलेख से पता चलता है कि वज्रदामन से लेकर महीपाल के समय (१०९३ ई०)

---

५८. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३६, श्लो० १०

५९. तदैव

६०. पाठक, विशुद्धानन्द, उ० भा० रा० इति०, पृ० ४१२

६१. पाठक, विशुद्धानन्द, उ० भा० इति०, पृ० ४१२

६२. म० प्र० जिला गजेटियर-ग्वालियर, पृ० २३

६३. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३६

६४. वही, श्लोक १४

६५. वही, श्लोक १५-१७

६६. इ० ए०, जि० १५, पृ० ३३-४६

तक कच्छपघात वंश ग्वालियर पर शासन कर रहा था। एक अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि महीपाल के पश्चात् भुवनपाल तथा उसके पुत्र मधुसूदन ने भी वि० सं० ११६१ (११०४ ई०) में ग्वालियर दुर्ग पर शासन किया था।[६७]

कच्छपघात वंश का अन्तिम शासक तेजकरन या दूल्हाराय था। खड्गराय तथा फजलअली के ग्वालियर सम्बन्धी विवरणों में तेजकरन के रुमानी चरित्र एवं कार्यो का परिचय मिलता है। इन राजपूत अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि ११२८ ई० में उसने ग्वालियर दुर्ग को अपने भांजे परमर्दिदेव प्रतिहार या परमलदेव को सौंपकर स्वयं देवसा की राजकुमारी से विवाह करने चला गया था। परमर्दिदेव प्रतिहार ने फिर ग्वालियर दुर्ग तेजकरन को नहीं लौटाया और स्वयं शासन करने लगा।[६८]

परमर्दिदेव के उत्तराधिकारियों का कोई ऐसा विस्तृत अभिलेख उपलब्ध नहीं हुआ है, जिससे उनके बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके। ग्वालियर और नरवर के मध्य चिटाली ग्राम में वि० सं० १२०७ (सन् ११५० ई०) का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें रामदेव प्रतिहार का उल्लेख है।[६९] इसके पश्चात् ग्वालियर दुर्ग के गंगोलाताल से वि० सं० १२५० तथा १२५१ (११९३-११९४ ई०) के दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन वर्षो में दुर्ग पर अजयपाल देव शासन कर रहा था।[७०]

११९५-९६ ई० में मुहम्मद गोरी ने जब ग्वालियर दुर्ग पर घेरा डाला, उस समय यहाँ पर सुलक्षणपाल शासन कर रहा था। किले की दृढ़ता को देखते हुए मुहम्मद गोरी ने अनुभव किया कि बिना दीर्घकालीन घेरे के उसे जीतना कठिन है। अतः उसने राजा से सन्धि कर ली। हसन निजामी के अनुसार सुलक्षणपाल भयभीत और हतास हो गया। उसने सन्धि की चर्चा की तथा कर देने के लिए सहमत हो गया।[७१] किन्तु मुहम्मद गोरी ने शीघ्र ही सन्धि की शर्तो का उल्लंघन किया और थोड़े समय बाद ही किले पर अधिकार करने के लिए बयाना से तुगरिल को पुनः भेजा। इस साहसी तुर्क ने ग्वालियर के सभी यातायात के मार्ग काट दिये और पास के मैदानों से उसका पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर दिया, जिसके कारण किले में रसद पहुँचाना कठिन हो गया। राजपूत डेढ़ वर्ष तक युद्ध करते रहे। किन्तु अन्त में किला छोड़ने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। किले के शासक ने किला तुगरिल के बजाय मुहम्मद गोरी द्वारा बाद में भेजे गये सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंप दिया।[७२]

---

६७. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वा० रा० अभि०, क्रमांक ६१

६८. म० प्र० जिला गजेटियर-ग्वालियर, पृ० २३; कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३७०; द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ६

६९. कनिंघम, आ० स० रि०, जि० २, पृ० ३७८

७०. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ६

७१. इलिएट एण्ड डाउसन, जि० २, पृ० २८८

७२. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल, भारत का इतिहास, पृ० ३६; द्विवेदी, ग्वालियर के तोमर, पृ० ७

१२१० ई० में कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् भारत में नव स्थापित मुस्लिम राज्य संकट में पड़ गया। उसके पुत्र आरामशाह के निर्बल शासन का लाभ उठाकर हिन्दुओं ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। वि० सं० १२७७ (१२२० ई०) के कुरैठा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि प्रतिहार सरदार विग्रहराज ने म्लेच्छ शासक से युद्ध करके गोपगिरि (ग्वालियर) को छीन लिया।[७३] इसके पश्चात् उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी मलयवर्मन ग्वालियर का शासक हुआ, जिसने लगभग १२३२ ई० तक शासन किया।

मलयवर्मन के शासन काल में १२३१ ई० के लगभग इल्तुतमिश ने ग्वालियर-विजय की योजना बनाई और किले की घेरा बन्दी कर ली, किन्तु किले की मोर्चाबन्दी इतनी मजबूत थी कि कभी-कभी सुल्तान को अपने सैनिकों को मौलवियों के भाषणों और उपदेशों से प्रोत्साहित करना पड़ता था। ग्यारह महीने तक अनवरत प्रयत्नों एवं युद्धों के पश्चात् अन्ततः मलयवर्मन ने १२ दिसम्बर, १२३२ ई० को किले का समर्पण कर दिया और स्वयं रात्रि में किले से निकल कर भाग गया। आठ सौ मर्दों को पड़ाव के सामने कत्ल कर दिया गया।[७४]

खड्गराय ने इसी घटना का बड़े मार्मिक ढंग से उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब 'दुर्ग के बचने की सारी आशा जाती रही, तो अन्तःपुर की राजपूत स्त्रियों ने एक तालाब के किनारे जौहर करके अपने प्राणों की बलि दे दी। यह तालाब आज भी 'जौहर ताल' के नाम से प्रसिद्ध है।[७५] इसके पश्चात् राजा और उसके वीर अनुयायी शत्रुओं पर टूट पड़े और युद्ध भूमि में काम आये।[७६]

इस घटना का उल्लेख एक शिलालेख में भी किया गया था, जिसे बाबर ने उरवाही द्वार के समीप कहीं देखा था, किन्तु यह अब वहाँ पर उपलब्ध नहीं है। बाबर ने लिखा है कि यह अभिलेख उरवाही द्वार पर स्थित था और इस पर ६३० हि० (१२३२ ई०) तिथि अंकित थी।[७७]

१२३६ ई० में इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् ग्वालियर का किला सम्भवतः मलयवर्मन के भाई नृवर्मन (नरवर्मन) द्वारा पुनः अधिकृत कर लिया गया। नरवर्मन का एक शिलालेख ग्वालियर दुर्ग के गंगोला ताल से तथा दूसरा सन् १२४७ ई० का कुरैठा ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें उसे 'राजा' कहकर सम्बोधित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नरवर्मन का उत्तराधिकारी हरिराज रहा होगा, क्योंकि चन्देल शासक वीरवर्मन के १२८१ ई० के एक शिलालेख

---

७३. द्विवेदी, ग्वा० रा० अभि०, क्र० ९७

७४. रेवर्टी, एच० जी० द्वारा अनुवादित तबकातए नासिरी, पृ० ६१९-२०; इलिएट एण्ड डाउसन, जि० २, पृ० २८८

७५. म० प्र०जिला गजेटियर -ग्वालियर, पृ० २४; कनिंघम, आ० स० रि०, जि० २, पृ० ३८० स्त्रियाँ राजा के सामने जाकर कहती हैं :-

> ''पहले हमें जु जौहर पारी,
> तब तुम जुझे कंथ सम्हारी।
> (हे पति! पहले तो हम जौहर करेंगी और फिर तुम युद्ध के लिए प्रस्थान करोगे)

७६. म०प्र० जिला गजेटियर-ग्वालियर, पृ०२४; कनिंघम आ०स०रि०, भाग २, पृ० ३८० '' जूझयो सारंगदेव रणरंग, एक हजार पाँच सौ संग''। (इस प्रकार सारंगदेव युद्ध में काम आये और उनके साथ पन्द्रह सौ योद्धा खेत रहे)।

७७. कनिंघम, आ० स० रि०, जि० २, पृ० ३८०

से ज्ञात होता है कि उसके सेनापति बलभद्र मल्लय ने गोपाचल के राजा हरिराज को पराजित किया था।[७८]

१२५१ ई० में नासिरुद्दीन की सल्तनत के दौरान उसके सेनापति बलवन ने रानाचाहिर अजारी पर आक्रमण किया और ग्वालियर के किले को भी जीत लिया, किन्तु वह अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सका।[७९] चाहड़देव के सिक्कों पर १२३७ ई० से १२५४ ई० तक की तिथि अंकित है।[८०] १२५८ ई० में बलबन ने पुनः आक्रमण करके ग्वालियर पर विजय प्राप्त की और उसे मलिक नुसरत-उद्दीन को सौंप दिया।[८१]

१२९५ ई० में जलालुद्दीन फिरोज शाह ग्वालियर में शिकार खेलने आया और फरिस्ता का कथन है कि उसने यात्रियों के लिए एक गुम्बदाकार विश्राम गृह बनवाया, जिस पर एक लेख उत्कीर्ण था।[८२] खिलजियों के काल में इस किले का उपयोग राजकीय कारागार के रूप में किया जाता था।[८३] कुतुबुद्दीन मुबारकशाह(१३१६-२०) और मुहम्मद तुगलक(१३२५-१३५१ ई०) ने अपने कई सम्बन्धियों को इस किले में बन्दी बनाकर रखा था। १३४२ ई० में इब्नबतूता ग्वालियर आया था। इस समय इस किले का अधिकारी अहमद-बिन शेर खाँ था।[८४]

तुगलकों के अन्तिम उत्तराधिकारियों की कमजोरी का लाभ उठाकर १३९४ ई० में ऐसाह के छोटे से जमींदार के पुत्र वीरसिंह देव तोमर ने ग्वालियर के किले पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस बात की पुष्टि मुस्लिम इतिहासकारों के अतिरिक्त दुर्ग पर स्थित गंगोलाताल से प्राप्त वि० सं० १४५१(१३९४ ई०) के एक अभिलेख से भी होती है।[८५] वीर सिंह देव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उद्धरणदेव १४०० ई० में सिंहासन पर बैठा किन्तु इसका शासनकाल अल्प समय तक ही रहा।[८६] उद्धरणदेव के पश्चात् उसका पुत्र वीरमदेव १४०२ ई० में ग्वालियर का शासक हुआ ।[८७] इस समय कालपी में दिल्ली के तुगलकों की ओर से नासिरुद्दीन शासन कर रहा था। तारीखेमुबारक शाही से ज्ञात होता है कि नासिरुद्दीन मुहम्मद तुगलक के सेनापति मल्लू इकबाल

---

७८. कनिंघम, आ० स० रि०, जि० २, पृ० ७५-७६; इ० ए० १९१८, पृ० २४१; इ० हि० क्वा०, जि० ३२, पृ० ४०४-४०५

७९. रेवर्टी द्वारा अनुवादित तबकातए-नासिरी, पृ० ६९०

८०. कनिंघम, काएन्स आफ मिडिवल इण्डिया, पृ० ९२-९३

८१. म० प्र० जिला गजेटियर - ग्वालियर, पृ० २५

८२. ब्रिक्स द्वारा अनुवादित तारीखे - फरिस्ता, जि० १, पृ० ३११

८३. रेकिंस द्वारा अनुवादित, मुन्तखा उन्तवारीख, जि० १, पृ० २४८ और २६८

८४. महदी हुसैन द्वारा अनुवादित दि रेहला आफ इब्नबतूता, पृ० १८३

८५. कटारे, एस० एल०, टू गंगोलाताल इन्सक्रिप्सन्स आफ द तोमर किंग्स आफ ग्वालियर, ज० ओ० इ०, बड़ौदा,भाग २३, नं० ४ (जून १९७४), पृ० ३५०-५१

८२.द्विवेदी, एच० एन०, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३८

८७. वही, पृ० ४९

खाँ ने ग्वालियर पर आक्रमण किया, जो उस समय वीरसिंह देव के पुत्र वीरमदेव के अधिकार में था। उसने आस-पास के भाग को तो नष्ट कर डाला, किन्तु पहाड़ी दुर्ग पर घेरे का मुकाबला इतनी सुदृढ़ता से किया गया कि इकबाल खाँ को लौट जाना पड़ा। दूसरे वर्ष, उसने पुनः आक्रमण किया और धोलापुर गढ़ के तोमर राजकुमार को पराजित किया। १४०४-१४०५ ई० में इकबाल खाँ ने इटावा की ओर धावा किया और तोमर राजकुमार के नेतृत्व में लड़ती हुई सेना को परास्त किया जिन्होंने चार हाथियों का उपहार भेजकर सन्धि कर ली और वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया।[८८] १४१६ ई० में खिज्र खाँ ने अपने वजीर मलिक ताजुल्मुल्क को वीरमदेव से कर वसूल करने भेजा था।[८९]

१४२५ ई० में डँगर सिंह ग्वालियर के सिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल के प्रथम वर्ष में मालवा के शासक हुशंगशाह (१४०५-१४३५ ई०) ने किले को घेर लिया, किन्तु उसे जौनपुर के मुबारक शाह की सहायता से खदेड़ दिया गया।[९०] डँगर सिंह के समय में कई बार दिल्ली के शासक मुबारक शाह द्वारा ग्वालियर पर कर आदि देने के लिए दवाब डाला गया।[९१] इससे स्पष्ट है कि तोमर शासक ने समय-समय पर दिल्ली सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह करके उसे कर आदि देना बन्द कर दिया था। डँगर सिंह असाधारण योग्यता सम्पन्न शासक था। उसके शासन काल में अनेक जैन मूर्तियाँ किले की पहाड़ी के पार्श्व भाग को काट-छाँट कर निर्मित की गईं। इन मूर्तियों के पाद-पीठ पर अंकित अभिलेखों में उसके लिए महाराजाधिराज, राजाधिराज तथा राजा उपाधियों का प्रयोग किया गया है। इन उपाधियों से डँगर सिंह की राजनैतिक स्थित स्पष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि उसे लगभग एक ही समय में राजा (१४४८ ई०), राजाधिराज (१४५३ ई०) तथा महाराजाधिराज (१४५३ ई०) कहा गया है।[९२]

डँगर सिंह के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिसिंह (करण सिंह) १४५९ ई० में सिंहासनासीन हुआ।[९३] इस समय तक ग्वालियर के तोमरों ने इतनी राजनैतिक शक्ति अर्जित कर ली थी कि जौनपुर, मालवा और दिल्ली के राजाओं ने उनसे मित्रता स्थापित की।[९४]

ग्वालियर के तोमरों के शासनकाल में अनेक झीलें, बांध आदि बनवाये गये थे। कीर्तिसिंह के समय में एक विशाल झील का निर्माण गोपाचल गढ़ के पास ही करवाया गया था।[९५]

---

८८. वसु, के० के० द्वारा अनुवादित 'तारीख-ए-मुबारक शाही', पृ० १७७-१७८
८९. वही, पृ० १९२
९०. वही, पृ० २०९
९१. रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १, पृ० ३०, ७३; वसु, के० के० द्वारा अनुवादित तारीख-ए-मुबारकशाही' पृ० २१३, २१७,२२२, २३४
९२. नाहर, पूर्णचन्द्र, जैन शिलालेख, भाग २ (१९२७), पृ० ९३,४४; नाथ,राम, आन सावरेन्टी आफ राजा मानसिंह तोमर आफ ग्वालियर, ज० ओ० इ०, बड़ौदा भाग २८, नं० १ (सितम्बर १९७८), पृ० ६९
९३. द्विवेदी, एच० एन०, ग्वालियर के तोमर, पृ० ९७
९४. रिजवी, उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग २, पृ० १०, २३; इलिएट एण्ड डाउसन, पृ० ८८-८९
९५. म० प्र० जिला गजेटियर-ग्वालियर, पृ० २३

अब इस झील के अवशेष नहीं बचे हैं। डँगर सिंह तोमर के समकालीन रइधू ने अपने तीन अप्रकाशित ग्रंथों पार्श्वपुराण, पद्मचरित व सम्यकत्वगुण निधान में ग्वालियर का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। पार्श्वपुराण में उसने लिखा है कि गोपाचल (ग्वालियर)उस समय समृद्ध नगर था और जन-जीवन सुख-शान्ति से पूर्ण था। डँगर सिंह तथा कीर्ति सिंह दोनों ही जैन धर्म में बड़ी आस्था रखते थे। यही कारण है कि ग्वालियर नगर जैन मन्दिरों से विभूषित था और श्रावक दान-पूजा में निरत रहते थे।[९६]

कीर्तिसिंह के पश्चात् कल्याणमल ग्वालियर का शासक हुआ। कल्याणमल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र राजा मानसिंह १४८६ ई० में ग्वालियर की गद्दी पर बैठा। इसे तोमरवंश का सबसे महत्वपूर्ण शासक माना जाता है। इसका ३० वर्ष का शासनकाल (१४८६-१५१६ ई०) ग्वालियर की सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। दिल्ली के सुल्तानों की आँख तोमरों की बढ़ती हुई शक्ति पर बराबर लगी हुई थी, किन्तु राजा मानसिंह शासन करने में सफल रहा। सम्राट सिकन्दर लोदी तोमरों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध था। अतः गद्दी पर बैठते ही उसने १४८९ ई० में ग्वालियर पर आक्रमण करने की योजना बनाई । राजा मानसिंह ने भी यद्यपि युद्ध के लिए तैयारियाँ की तथा दुर्ग को और अधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया किन्तु समय आने पर उसने राजनीतिक दूरदर्शिता दिखाते हुए सिकन्दर लोदी के साथ मित्रता पूर्ण व्यवहार किया और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।[९७] इस प्रकार राजा मानसिंह ने लगभग दस वर्षों तक शान्तिपूर्वक शासन किया और उसे सिकन्दर लोदी की ओर से किसी प्रकार के आक्रमण का भय नहीं रहा।

मुस्लिम इतिहासकारों से ज्ञात होता है कि सिकन्दर लोदी ने १५०० ई० में पुनः ग्वालियर पर अधिकार करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य को लेकर उसने अपना मुख्यालय आगरा में स्थापित किया, ताकि ग्वालियर पर सीधी दृष्टि रखी जा सके।[९८] उसने १५०१ ई० में धौलपुर पर आक्रमण किया, जिसका सरदार मानिकदेव राजा मानसिंह का अधीनस्थ था। किले की नाकाबन्दी कर दी गई और विध्वंशक नीति से सुल्तान ने उसमें रहने वाले लोगों को आतंकित किया । भयभीत होकर राजा ग्वालियर भाग गया। उसकी बची हुई सेना धौलपुर में बुरी तरह पराजित हुई। विजय के बाद सुल्तान ने ग्वालियर की ओर प्रस्थान किया और मन्दाकिनी के तट पर पड़ाव डाला। इस बार भी राजा मानसिंह ने सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली और अपने राज्य में पुनः शान्ति की स्थापना की। सिकन्दर लोदी कुछ धन आदि लेकर आगरा लौट आया।[९९]

---

९६. द्विवेदी, हरिहर निवास, मध्य देशीय भाषा, पृ० १३८-१४०

९७. निजामुद्दीन अहमद,तबकात-ए-अकबरी, भाग १ (कलकत्ता, १९७३), पृ० ३५१; नाथ, आर०, ज० ओ० इ०, बड़ौदा, भाग २८, नं० १, पृ० ७०

९८. तदैव

९९. इलियट एण्ड डाउसन, जि० ५, पृ० ९७-९८

१५०४ ई० में सिकन्दर लोदी ने पुनः ग्वालियर पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका। अगले वर्ष १५०५ ई० में उसने पुनः ग्वालियर पर आक्रमण किया। इस बार राजपूतों ने गोरिल्ला-युद्ध नीति अपनाई। उन्होंने सिकन्दर की सेना की रसद काट दी। एक अचानक धावे से घबड़ाकर उसे शीघ्र ही वापस लौट जाना पड़ा। फारसी इतिहासकार सिकन्दर को विजयी बताते हैं। किन्तु वास्तव में सुल्तान का यह आक्रमण भी असफल रहा था।[१००] १५०५ ई० में सिकन्दर लोदी ने अवन्तगढ़ के किले को हस्तगत करने की योजना बनाई। वहाँ पर मानसिंह का सामंत डँगर प्रशासक था। वह अपने कुछ साथियों के साथ सुल्तान से जा मिला और मुसलमान हो गया। मानसिंह ने गढ़ की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया, परन्तु अन्ततः उसे पराजित होना पड़ा और अवन्तगढ़ का दुर्ग उसके हाथ से निकल गया।[१०१]

१५१६ ई० में मानसिंह की मृत्यु हो गई। उसके शासनकाल में, ग्वालियर राज्य न केवल राजनैतिक दृष्टि से सुदृढ़ एवं शक्तिशाली था, बल्कि उसमें स्थापत्य, शिल्प, संगीत एवं चित्रकला का भी बहुमुखी विकास हुआ। उसने अनेक सिचाई के साधनों का निर्माण किया, जिनमें कई तालाब थे तथा नगर के उत्तर-पश्चिम में मोती झील नामक एक जलाशय का निर्माण कराया।[१०२] वह संगीत का महान पारखी था और संगीत रचनाओं में अपनी प्रवीणता के कारण विशेष रूप से विख्यात था। संगीतकारों को उसका उदार आश्रय प्राप्त होने के कारण संगीत की ग्वालियर शैली का जन्म हुआ, जो उसके अधीन विकसित हुई। इस शैली ने अकबर की आइन-ए-अकबरी में उल्लिखित ३६ संगीतकारों में से १६ संगीतकार दिये। इनमें से तानसेन सर्वाधिक विख्यात था।[१०३]

मानसिंह की मृत्यु (१५१६ ई०) के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य सिंहासनासीन हुआ। उधर इसी वर्ष सिकन्दर लोदी की भी मृत्यु हो गई और इब्राहीम लोदी दिल्ली सल्तनत का उत्तराधिकारी हुआ। उसने गद्दी पर बैठते ही ग्वालियर पर विजय प्राप्त करने के लिए निश्चित योजना बनाई। यद्यपि अब तक लोदियों के ग्वालियर पर जितने भी आक्रमण हुए थे, वे सभी असफल रहे, किन्तु इस बार आजम हुमायुं के नेतृत्व में इब्राहीम लोदी का जो भीषण आक्रमण हुआ, वह अन्ततः पूर्णरूपेण सफल रहा और दो वर्ष के लम्बे युद्ध के पश्चात् विक्रमादित्य ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे शम्शाबाद की जागीर दी गई और उसने दिल्ली के सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली।[१०४]

---

१००. निजामुद्दीन अहमद, तबकात-ए-अकबरी, भाग १, पृ० ३७१; फरिस्ता, राइज आफ मोहम्मद पावर इन इण्डिया, अनुवाद ब्रिग्स (कलकत्ता, १९६६) भाग १, पृ० ३३८; नाथ, आर०, ज० ओ० इ०, बड़ौदा, भाग २८, नं० १, पृ० ७१

१०१. इलिएट एण्ड डाउसन, जि० ५, पृ० १००-१०१

१०२. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३८७

१०३. म० प्र० जिला गजेटियर-ग्वालियर, पृ० २८

१०४. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालिर के तोमर, पृ० १७१-१७६

१५२६ ई० में इब्राहीम लोदी तथा बाबर के बीच हुए पानीपत के युद्ध में विक्रमादित्य ने भी भाग लिया और अपने स्वामी के साथ ही मारा गया। उसकी मृत्यु का उल्लेख बाबर तथा खड्गराय ने किया है।[१०५] विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात् ग्वालियर के किले से तोमरों के शासन की वैभवशाली परम्परा का अन्त हो गया।

१५२६ ई० में ग्वालियर दुर्ग पर बाबर ने अधिकार कर लिया। उसके पश्चात् १५४२ ई० में इस पर शेरशाह सूरी का प्रभुत्व स्थापित हुआ, किन्तु कालान्तर में १५५८ ई० में अकबर ने इस पर पुनः अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् लगभग १८वीं शताब्दी तक यह किला मुगलों के अधीन बना रहा। इस अवधि में मुगलों ने इसका उपयोग राजकीय कारागार के रूप में किया। १७६१ ई० में पानीपत के तृतीय युद्ध के बाद इस दुर्ग पर गोहद के जाट राजा लोकेन्द्र सिंह ने अधिकार कर लिया, किन्तु थोड़े समय बाद ही इस पर मराठा सरदारों का आधिपत्य स्थापित हो गया। मराठों के शासनकाल में १७८० ई० में इस पर मेजर पोफम ने आक्रमण किया और दुर्ग को गोहद के राजा छत्रपति सिंह को सौंप दिया, किन्तु १७८४ ई० में महदजी शिन्दे के सेनापति खण्डेरावहरि ने इसे पुनः प्राप्त कर लिया।[१०६]

मराठों के साथ द्वितीय युद्ध में ब्रिटिश जनरल ह्वाइट ने १८०४ ई० में इस दुर्ग पर आक्रमण कर इसे अपने अधिकार में कर लिया, किन्तु एक वर्ष पश्चात् सन्धि हो जाने पर वह सिन्धिया को पुनः मिल गया। महाराजपुर के युद्ध के पश्चात् एक समझौते के अनुसार १८४४ ई० से १८५३ ई० तक इस दुर्ग पर ब्रिटिश सेना का अधिकार रहा, किन्तु महाराजा जिवाजी राव शिन्दे के वयस्क हो जाने पर १८५३ ई० में उन्हें पुनः लौटा दिया गया। १८५७ ई० में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के समय यह दुर्ग स्वतन्त्रता सेनानियों के हाथों में चला गया, किन्तु १९ जून १८५८ ई० में इस पर सर ह्यू रोज ने पुनः विजय प्राप्त कर ली और तब से लेकर १८८६ ई० तक यह अँग्रेजों के अधिकार में रहा। १८८६ ई० में इसे झाँसी के बदले सिन्धिया वंशी शासकों को पुनः लौटा दिया गया, जो कि इस दुर्ग पर स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक शासन करते रहे।[१०७] वर्तमान समय में यह दुर्ग तथा इसके स्मारक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के संरक्षण में भारतीय पुरा सम्पदा की निधि के रूप में संजोये हुए हैं।

---

१०५. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, ३८९ जूझि विरहिम खाँ तहाँ पायो, राजा विक्रम तो लौं गिर्‌यो।' (इब्राहीम खाँ लड़ते-लड़ते मारा गया और उसके साथ ही राजा विक्रमादित्य भी काम आया।)

१०६. द इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, खण्ड १२ (न्यू एडीसन), आक्सफोर्ड, १९०८, पृ० ४३९-४४३

१०७. द इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, खण्ड १२ (न्यू एडीसन), आक्सफोर्ड, १९०८, पृ० ४३९-४४३

2

दुर्ग का स्थापत्य

ग्वालियर का दुर्ग जिस पहाड़ी पर निर्मित किया गया है उसका विस्तार उत्तर-दक्षिण दिशा में है, जिसका ऊपरी भू-भाग प्रायः समतल है। मध्य भाग सबसे अधिक सकरा तथा उत्तरी-दक्षिणी भाग अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा है। उत्तर से दक्षिण इसकी लम्बाई लगभग २.५ किमी० तथा पूर्व-पश्चिम में अधिकतम चौड़ाई ९३५ मी० है और न्यूनतम चौड़ाई २०० मी० है। पहाड़ी की सबसे अधिक ऊँचाई उत्तर की ओर लगभग १०० मी० है।

ऊपरी समतल भू-भाग को सुरक्षा की दृष्टि से ऊँची प्राचीर द्वारा घेरकर सुदृढ़ किया गया है। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में दुर्ग पर चढ़ने के लिए चार मार्ग निर्मित किए गए हैं तथा इन मार्गों को स्थान-स्थान पर सुदृढ़ प्रवेश-द्वारों से सुरक्षित किया गया है। आवश्यकता पड़ने पर इनके फाटकों को बन्द कर मार्ग को अवरूद्ध किया जा सकता है। प्रवेश-द्वारों के साथ-साथ, उनके दोनों ओर विशाल अट्टालकों, प्राचीरों के ऊपर कण्ठवारिणी, निष्कुहद्वार और कपिशीर्षक, पहरेदारों के लिए कक्ष एवं बुर्जियाँ तथा प्राचीर पर चढ़ने-उतरने के लिए सोपान निर्मित किए गए हैं। इसके अतिरिक्त दुर्ग पर बहुत से जलाशय, राजप्रासाद, मन्दिर, भण्डारगृह, शस्त्रागार आदि भी बनाये गये हैं।

शास्त्रों में दुर्गों की स्थिति के आधार पर उन्हें अनेक वर्गो में विभाजित किया गया है। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग चार प्रकार के होते हैं–औदक दुर्ग, पार्वत दुर्ग, धान्वन दुर्ग और वनदुर्ग।[१] रामायण में भी चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख है–नादेय, पार्वत्य, वन्य तथा कृत्रिम।[२] इसी प्रकार महाभारत में छः प्रकार के दुर्ग बतलाये गये हैं–धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, अब्दुर्ग, तथा वनदुर्ग।[३] मत्स्य पुराण में धान्वदुर्ग, महीदुर्ग, नरदुर्ग, वार्क्षदुर्ग और गिरिदुर्ग नामक छः दुर्गों का उल्लेख है। इनमें गिरिदुर्ग को सर्वाधिक सुदृढ़ कहा गया है।[४] दुर्गों की यही सूची अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मनुस्मृति और विष्णु धर्मसूत्र में भी पायी जाती है।[५] शुक्रनीति में ऐरिण दुर्ग, पारिखदुर्ग, धन्वदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, सैन्यदुर्ग, सहायदुर्ग बतालाये गये हैं।[६] कामन्दकनीतिसार में जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ऊसरदुर्ग और मरुभूमि दुर्ग की प्रशंसा की गयी है।[७] देवीपुराण में औदक,

---

१. अर्थ०, अधि० २, अ० ३, पृ० २१.

२. रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३, श्लो० २.

३. महाभारत, शान्ति० १२, ८७, ५.

४. मत्स्यपुराण, २१७, ६-७.

५. अग्निपुराण, २२२, ४-५; विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड २, अ० २६, श्लो० ६-७; मनुस्मृति, अ० ७, श्लो०७०-७१; विष्णुधर्मसूत्र, ३, ६

६. शुक्रनीति, अ० ४, प्र० ६, श्लो० १-५.

७. कामन्दकनीतिसार, सर्ग ४, श्लो० ५९.

पार्वत्य, धान्वन और वनज नामक चार प्रकार के दुर्ग बतलाये गये हैं।[८] इसी प्रकार मानसार, मयमत, समरांगणसूत्रधार और मानसोल्लास में भी पर्वतीयदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, ऐरिणदुर्ग, देवदुर्ग, पंकदुर्ग, मिश्रदुर्ग, इष्टिका दुर्ग, मृत्तिका दुर्ग, मरुदुर्ग और नरदुर्ग आदि का उल्लेख मिलता हैं।[९]

शुक्रनीति में कहा गया है कि जो दुर्ग एकान्त में किसी पहाड़ी के ऊपर बना हो तथा उसके ऊपर जलाशय का भी प्रबन्ध हो, उसे "गिरिदुर्ग" कहते हैं।[१०] ग्वालियर दुर्ग को इस कोटि का उत्तम उदाहरण माना जा सकता है। देवीपुराण में इस प्रकार के दुर्ग को "प्रान्तरदुर्ग" कहा गया है और उसे अत्यन्त पवित्र एवं प्रशस्त बतलाया गया है।[११]

शास्त्रों में अन्य दुर्गों की अपेक्षा गिरिदुर्ग को सबसे अधिक सुरक्षित, सुदृढ़ और श्रेष्ठ माना गया है। रामायण में इसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पर्वत के शिखर पर स्थित दुर्ग देवपुरी के समान दिखाई देता है।[१२] अग्निपुराण में इसे सर्वोत्तम दुर्ग माना गया है।[१३] विष्णुधमोत्तर पुराण एवं मत्स्यपुराण में भी "गिरिदुर्ग" को सबसे अधिक सुदृढ़ बतलाया गया है।[१४] मनुस्मृति में इसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि सभी (राजाओं) को प्रयत्न करके गिरिदुर्ग का आश्रय ग्रहण करना चाहिए क्योंकि अधिक गुण सम्पन्न होने के कारण यह सर्वश्रेष्ठ होता है।[१५] शुक्रनीति में गिरिदुर्ग को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[१६] इसी प्रकार समरांगणसूत्रधार में भी पार्वतीय दुर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[१७] अतः इस प्रकार के दुर्गों के महत्व को देखते हुए मध्यकाल में इनकी संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रायः सभी पहाड़ियों को दुर्गीकृत करने का प्रयास किया गया। ग्वालियर दुर्ग गिरिदुर्ग या पर्वतीय दुर्गों की श्रेणी का उत्तम उदाहरण है।

---

८. देवीपुराण, अ० ७२, श्लो० ५२-५४.

९. मानसार, अ० १०, ९०-९१; मयमत, अ० १०, श्लो० ३६; समरांगण० अ० ४५, श्लो० ३९-४०; मानसोल्लास, अ० ५, श्लो० ५४१-५४२.

१०. शुक्रनीति, अ० ४, प्र० ६, श्लो० ४.

११. देवीपुराण, ७२, ५७-५८.

१२. शैलाग्रे रचिता दुर्गा सा पूर्देवपुरोपमा।
रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३, श्लो० २२

१३. सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्यभेदनम्
अग्निपुराण, अ० २२२, श्लो० ५.

१४. सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्ग प्रशस्यते।
विष्णुधर्मोत्तर०, खण्ड २, अ० २६, श्लो०७; मत्स्य पुराण, २१७,७

१५. सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्ग समाश्रयेत।
एषांहि वहुगुण्येन गिरिदुर्ग विशिष्यते।।
मनुस्मृति, अ० ७, श्लो० ७

१६. परिखादैरिणं श्रेष्ठं पारिखं तु ततो वनम्।
ततो धन्वजलं तस्माद् गिरिदुर्ग ततः स्मृतम्।
शुक्रनीति, अ० ४, प्र० ६, श्लो० ६.

१७. सर्वेषामेव दुर्गाणां पार्वतीयं प्रशस्यते।
समरांगण सूत्रधार, अ० ४५, श्लो० ४०,

कनिघम, आ० स० रि०, भाग 2 से साभार

प्राचीन भारतीय दुर्गों में परिखा, वप्र-प्राकार, अट्टालक, गोपुर-प्रतोली, कपिशीर्षक आदि अनेक अंगों का विकास हुआ। इनका विस्तृत विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही अन्य विविध धार्मिक, राजनैतिक एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख मिलता है। यहाँ पर शास्त्रीय आधार पर दुर्ग के प्रमुख अंगों का विवेचन करते हुए यथास्थान उनका तादात्म्य पुरातात्विक साक्ष्यों से भी स्थापित करने का प्रयास किया गया है तथा उसी पृष्ठभूमि में ग्वालियर दुर्ग के अंगों की रचना एवं तिथि आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

परिखा

प्राचीनकाल में नगर अथवा दुर्ग की सुरक्षा के किए उसके चारों ओर एक चौड़ी और अपेक्षाकृत कुछ गहरी परिखा या खाई खोदकर, उसमें जल भर दिया जाता था, ताकि शत्रु आसानी से उसे लांघकर दुर्ग में प्रवेश न कर सके। नगर या दुर्ग के चारों ओर सामान्यतः एक परिखा निर्मित की जाती थी, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर दो-तीन या इससे भी अधिक परिखाओं का विधान किया गया है।[१८] भारत में परिखाओं के प्राचीन उदाहरण एरण, कौशाम्बी, वैशाली आदि स्थलों के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं।[१९] मध्यकालीन दुर्ग में परिखा के उदाहरण आगरे के लाल किले, दिल्ली के पुराने किले तथा भरतपुर के डींग आदि के किलों में भी दर्शनीय हैं।

ग्वालियर दुर्ग में परिखा का निर्माण नहीं किया गया है, क्योंकि यह दुर्ग अत्यधिक ऊँची (लगभग १०० मी०) पहाड़ी पर स्थित है और उसे सुरक्षा की दृष्टि से एक सुदृढ़ प्राचीर द्वारा घेरा गया है। इस प्रकार यह स्वयमेव इतना दुर्गम है कि कोई शत्रु आसानी से इस पर नहीं पहुँच सकता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसे और अधिक सुरक्षित करने के लिए इसमें परिखा-निर्माण की आवश्यकता नहीं समझी गयी।

वप्र-प्राकार

कौटिल्य के अनुसार परिखा से चार दण्ड (२४ फुट) की दूरी पर वप्र का निर्माण किया जाना चाहिए। इसकी ऊँचाई छः दण्ड (३६ फुट) तथा आधार की चौड़ाई ऊपर के भाग से दुगुनी हो। इसके निर्माण में उसी मिट्टी को प्रयोग में लाना चाहिए जो परिखा का उत्खनन करते समय बाहर निकाली गयी हो।[२०] इस प्रकार परिखाओं का उत्खनन और वप्रभूमि का निर्माण एक संयुक्त कार्य है। वप्र के ऊपर सम अथवा विषम संख्याओं में एक या उससे अधिक प्राकारों का निर्माण किया जाना चाहिए । प्राकार का ऊपरी भाग इतना चौड़ा होना चाहिए कि उस पर एक रथ आसानी से चलाया जा सके।[२१]

भारत में रक्षा-प्राचीर के प्राचीनतम उदाहरण संभवतः कुल्ली संस्कृति, टोजी और मजेरा दम्ब नामक स्थलों से प्राप्त हुए हैं।[२२] कोटदीजी से भी पूर्व हड़प्पा कालीन रक्षा-प्राचीर के अवशेष

१८.विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य, डॉ० अमर सिंह, प्राचीन भारतीय दुर्ग स्थापत्य, पृ० १७-१८

१९. इ० आ० रि०, १९६२-६३, पृ ११; १९५८-५९, पृ० १२; शर्मा, जी० आर०, द एक्सकेवेशन एट कोशाम्बी (१९५७-५९), पृ० २४-२५, ३८-३९

२०. अर्थ०, अधि० २, अ० ३, प्र० २१

२१. अर्थ०, अधि० २, अ० ३, प्र० २१

२२. थप्ल्याल, किरणकुमार तथा शुक्ल संकटा प्रसाद, सिन्धु सभ्यता, लखनऊ

प्रकाश में आये हैं। यहाँ प्राचीर का आधार (वप्र), पाषाण खण्डों से निर्मित करके उसके ऊपर कच्ची ईटों का प्रयोग किया गया है।[२३] सिन्धु सभ्यता के प्राचीन नगर हड़प्पा में गढ़ी की सुरक्षा के लिए २५ फ़ुट चौड़े वप्र के ऊपर एक सुदृढ़ प्राचीर का निर्माण किया गया था। [२४] इसी प्रकार मोहन-जोदड़ो, अलीमुराद तथा कालीबंगा आदि से भी सुरक्षा-प्राचीर के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।[२५]

सागर (म० प्र०), राजघाट (वाराणसी, उ० प्र०) और कौशाम्बी (इलाहाबाद, उ० प्र०) के उत्खननों से लगभग छठीं शताब्दी ई० पू० या इससे पूर्व में निर्मित रक्षा-प्राचीर के अवशेष प्रकाश में आये हैं।[२६] इसी प्रकार वैशाली (राजा विसल का गढ़, मुजफ्फरनगर, बिहार) और बलिराजगढ़ (दरभंगा, बिहार) के उत्खनन से भी दूसरी श० ई० पू० में निर्मित प्राचीरें प्रकाश में आयी हैं।[२७] मेगस्थनीज के विवरणों से पता चलता है कि पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) के चारों ओर एक लकड़ी की प्राचीर थी। इसका निर्माण लकड़ी के लट्ठों से किया गया था।[२८] इस बात की पुष्टि बुलन्दीबाग के उत्खनन से भी होती है।[२९]

ग्वालियर दुर्ग को सर्वप्रथम वप्र-प्राकार से कब सन्निवेष्टित किया गया, उपयुक्त साक्ष्यों के अभाव में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चतुर्भुज मन्दिर के वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) के अभिलेख में अल्ल को 'गोपाद्रि' (ग्वालियर) का 'कोट्टपाल' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि ८७६ ई० तक इस पहाड़ी को एक दुर्ग का स्वरूप अवश्य प्राप्त हो चुका था। इसी अभिलेख में चतुर्भुज मन्दिर को भोजदेव की 'प्रतोली' के नीचे स्थित बतलाया गया है। 'प्रतोली' का अर्थ 'प्रवेशद्वार' या 'गोपुर' लेने पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रवेश-द्वार का निर्माण दुर्ग को प्राचीर से घेरने के उपरान्त ही किया गया होगा। इससे स्पष्ट है कि गुर्जर प्रतिहार शासक मिहिर भोज के समय (८३६ ई०-८८५ ई०) तक ग्वालियर दुर्ग को प्राचीर से अवश्य सन्निवेष्टित कर दिया गया होगा। तभी उसमें प्रवेश के लिए भोजदेव की प्रतोली का निर्माण किया गया होगा। इसकी पहचान 'हथिया पौर' से की जाती है।[३०] इसके साथ पहाड़ी के ऊपरी समतल भू-भाग के चारों ओर आवश्यकतानुसार ५ मी० से १० मी० तक ऊँची तथा २ मी० से ३ मी० तक चौड़ी प्राचीर का निर्माण किया गया है। जहाँ पर पहाड़ी की ऊँचाई कम है और उसकी ढलान शत्रु द्वारा आसानी से चढ़ने योग्य है, वहाँ प्राचीर को अधिक ऊँचा और सुदृढ़ बनाया गया है । इसके निर्माण के लिए बड़े-बड़े पाषाण-खण्डों को एक दूसरे के ऊपर रखकर 'भार और संतुलन' विधि से जोड़ा गया है। इस

---

२३. ह्वीलर, आर० ई० एम०, द इण्डस सिविलाइजेशसन, कैम्ब्रिज, १९६८, पृ० २१

२४. वही, पृ० ३०

२५. वही, पृ० ४०; इण्डियन आर्क्योलाजी - ए रिब्यू, १९६३-६४, पृ० ३१; १९६८-६९, पृ २९; १९६७-६८, पृ० ४४

२६. इण्डियन आर्क्योलाजी - ए रिब्यू, १९६२-६३, पृ० ११; १९६०-६१, पृ० ३७; शर्मा, जी० आर०, वही, पृ० २४-२५, ३८-४१

२७. इण्डियन आर्क्योलाजी-ए रिब्यू, १९५८-५९, पृ० १२; १९६२-६३, पृ० ५

२८. दत्त, बी० बी०, टाउन प्लानिंग इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, पृ० ३२३

२९. आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट, १९१२-१३, पृ० ७६

३०. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर सौन्दर्य और सांस्कृतिक वैभव की परम्परा, अन्वेषिका, नगर पालिका निगम, संग्रहालय, ग्वालियर, १९८३, पृ० ५५

प्रकार से निर्मित मुख्य प्राचीर के साथ सबसे ऊपर हथिया पौर स्थित है। इसके पश्चात् क्रमशः लक्ष्मण द्वार, गणेश द्वार और भैरों द्वार को पुनः एक-एक प्राचीर से सन्निवेष्टित किया गया है। लक्ष्मण द्वार और भैरोंद्वार के निर्माण का श्रेय कच्छपघात शासकों को दिया जाता है। अतः हथिया पौर से भैरोंद्वार तक की प्राचीरों का निर्माण इन प्रवेश-द्वारों के साथ ही कच्छपघातों के शासन-काल (लगभग ११वीं श० ई०) में किया गया होगा ।

मुसलमानों के आक्रमण के समय तक पश्चिम की ओर की उरवा घाटी असुरक्षित थी। १२३२ ई० में ग्वालियर दुर्ग पर अधिकार कर लेने के पश्चात् इल्तुतमिश ने इसके मुहाने पर २०० मीटर लम्बी, १२ मी० चौड़ी और १२ मी० ऊँची प्राचीर का निर्माण करवा दिया था ताकि भविष्य में होने वाले आक्रमणों से घाटी के जलाशयों की रक्षा की जा सके।[३१]

तोमरों के शासनकाल में ग्वालियर दुर्ग को सुदृढ़ करने के लिए अनेकों निर्माण कार्य किये गये। इस समय पूर्व में स्थित बादलगढ़ के भवनों तथा गुजरी महल आदि को सुरक्षा की दृष्टि से गणेश पौर से लेकर आलमगीरी गेट तक एक सुरक्षा प्राचीर से इस प्रकार घेरा गया है कि यह न केवल बादलगढ़ के भवनों को अपितु उसके ऊपर स्थित अन्य सभी प्रवेश-द्वारों को भी सुरक्षा प्रदान करती है। इसके निर्माण का श्रेय राजा मानसिंह के चाचा बादलसिंह (लगभग १४७९-१५१६ ई०) को दिया जाता है।[३२]

अट्टालक

कौटिल्य के अनुसार प्राकार की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई के बराबर अट्टालकों का निर्माण किया जाना चाहिए तथा उसकी ऊँचाई के अनुपात से उस पर सीढ़ियाँ भी बनवानी चाहिए।[३३] दो अट्टालकों के बीच की दूरी तीस दण्ड (१८० फुट) होनी चाहिए।[३४] समरांगणसूत्रधार का उल्लेख है कि प्राकार के ऊपर चारों दिशाओं के कर्णो पर तथा प्रवेश-द्वार के कर्णो पर अट्टालकों का निर्माण किया जाना चाहिए। दो अट्टालकों के बीच की दूरी सौ हाथ (१५० फुट) हो तथा उनका आकार द्विभौमिक होना चाहिए।[३५]

प्राचीन स्थलों के उत्खनन से ज्ञात होता है कि हड़प्पाकालीन नगरों की रक्षा-प्राचीर के ऊपर थोड़ी-थोड़ी दूर पर बुर्जियों (अट्टालकों) की रचना की जाती थी।[३६] मेगस्थनीज के विवरणों के अनुसार पाटलिपुत्र नगर में रक्षा-प्राचीर के साथ ५७० बुर्ज (अट्टालक) निर्मित किए गये थे। कौशाम्बी के उत्खनन से छठीं श० ई० पू० में निर्मित दुर्ग के जो अवशेष प्रकाश में आये हैं, उसमें लगभग

---

३१. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३२

३२. वही, पृ० ३३२

३३. विष्कम्भचतुरश्रमट्टालकमुत्सेधसमावक्षेपसोपानं कारयेत्।
अर्थ० अधि० २, अ० ३, प्र० २१

३४. त्रिशद्दाण्डन्तरं च
अर्थ०, अधि० २, अ० ३, पृ० २१

३५. समराङ्गण०, अ० १०, श्लो० ३१-३३

३६. ह्वीलर, आर० ई० एम०, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० १०६ -१०७; द इण्डस सिविलाइजेशन, पृ ३०

३५ फुट ऊँची प्राचीर के साथ ७०-७५ फुट ऊँचे अट्टालकों का भी निर्माण किया गया था।[३७] रामायण के अनेक उद्धरणों से ज्ञात होता है कि अयोध्या, किष्किन्धा, लंका आदि नगरों में रक्षा-प्राचीरों के ऊपर बुर्ज (अट्टालक) बनते थे। इनके ऊपर से शत्रुओं की गतिविधियों का निरीक्षण किया जा सकता था।[३८] इस प्रकार दुर्ग-प्राचीर के साथ अट्टालकों का प्रादुर्भाव अति प्राचीनकाल में ही हो चुका था जो कालान्तर में दुर्ग स्थापत्यकला का एक आवश्यक अंग बन गया।

ग्वालियर दुर्ग में प्राचीर के ऊपर सभी दिशाओं में अट्टालकों के स्थान पर गुम्बदाकार बुर्जियों का निर्माण किया गया है। पूर्वी प्राचीर में राजा मानसिंह के महल की पूर्वी दीवार के साथ-साथ छः वृत्ताकार अट्टालकों की रचना की गयी है (चित्र सं० १)। इनकी ऊँचाई लगभग ३० मी० तथा एक दूसरे से परस्पर दूरी लगभग १५ मी० है। इनके शीर्ष भाग गुम्बदाकार बुर्जियों से सुशोभित हैं। इसी प्रकार की अट्टालकों का निर्माण हथिया पौर तथा हिंडोला पौर के कर्णों पर भी किया गया है (चित्र सं० २, ४)

प्रवेश-द्वार या गोपुर (प्रतोली)

प्राचीनकाल में नगर, दुर्ग अथवा मन्दिरों की रक्षा के लिए, उन्हें एक प्राचीर द्वारा घेरकर उसमें आवागमन के लिए प्रवेश-द्वार अथवा गोपुर निर्मित किए जाते थे। सामान्यतः प्राचीर के साथ चारों दिशाओं में एक-एक प्रवेश-द्वार बनाये जाते थे। लंकापुरी चार विशालकाय द्वारों से युक्त थी, जिनमें सुदृढ़ फाटक एवं मोटी-मोटी अर्गलाएँ लगी हुई थीं।[३९] किन्तु कभी-कभी चार से अधिक द्वारों का उल्लेख भी मिलता है। मेगस्थनीज के विवरणों से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र की प्राचीर ६४ द्वारों से युक्त थी।[४०]

रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, मयमत तथा मानसार आदि ग्रन्थों में प्रवेश-द्वार के लिए 'गोपुर' शब्द का प्रयोग हुआ है।[४१] हैवेल का मत है कि गोपुर शब्द की व्युत्पत्ति 'गो' (गाय) तथा 'पुर' (नगर अथवा दुर्ग), इन दो शब्दों को मिलाकर हुई है।[४२] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार यह 'गुप' (रक्षणे) धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है 'रक्षा करना'।[४३]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है कि दो अट्टालकों के मध्य 'प्रतोली' का निर्माण किया जाना चाहिए जिसकी लम्बाई, चौड़ाई की ढाई गुनी हो।[४४] प्रतोली शब्द का उल्लेख रामायण, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, हर्षचरित, समरांगणसूत्रधार, पृथ्वीचन्द्र चरित, प्रभावक

---

३७. शर्मा, जी० आर०, द एक्सकेवेसन एट कौशाम्बी, पृ० ३८-३९

३८. भट्टाचार्य, तारापद, ए स्टडी आन वास्तुविद्या, पृ० ३७-३८

३९. दृढ़बद्धकपाटानि महापारिधवन्ति च।
चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहान्ति च ॥
रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३, श्लो ११

४०. दत्त, बी० बी०, टाउन प्लानिंग इन एंशिएन्ट इण्डिया, पृ० १४५

४१. आचार्य, पी० के० ए डिक्सनरी आफ हिन्दू आर्कीटेक्चर, पृ० १७४-१७५.

४२. हेवेल, ई० बी०, द ऐन्शिएन्ट एण्ड मेडिवल आर्कीटेक्चर आफ इण्डिया, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ३१-३२.

४३. शब्द०, वाराणसी, १९६१.

४४. द्वयोरट्टालक्योर्मध्ये सहर्म्यद्वितलां द्वयर्धायामां प्रतोली कारयेत् । अर्थ०, अधि० २, अ०३, प्र० २१.

चरित तथा सरित् सागर आदि ग्रन्थों भी मिलता है।[४५] इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त प्रथम के विलसढ़ पाषाण स्तम्भ लेख तथा पृथ्वीराज के हन्सो अभिलेख में भी यह शब्द आया है।[४६] इन सभी साहित्यिक एवं अभिलेखीय उद्धरणों के अध्ययन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतोली' का सम्बन्ध दुर्ग स्थापत्य से था, जिसका निर्माण प्राकार के साथ किया जाता था।[४७] कालान्तर में इसका सम्बन्ध मन्दिर तथा प्रासाद-वास्तु से भी स्थापित हो गया ।[४८]

समरांगणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा तथा जयपृच्छा आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भी 'प्रतोली' की रचना का उल्लेख हुआ है। इन ग्रन्थों का सम्मिलित रूप से अध्ययन करने पर प्रतोली का जो स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है, उससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना प्रवेश-द्वारों में दो अट्टालकों के मध्य स्तम्भ, तोरण और भारपट्टों के संयोग से की जाती थी (चित्र सं० २)। इसके निर्माण का उद्देश्य प्रवेश-द्वारों को अलंकृत करना तथा उन्हें सुदृढ़ता प्रदान करना था। प्रवेश-द्वारों के साथ प्रतोली के संयोजन से उनकी शोभा में अभूतपूर्व वृद्धि हो जाती थी। इस प्रकार प्रारम्भ में 'प्रतोली' प्रवेश-द्वारों का एक अंग थी, किन्तु कालान्तर में यह शब्द प्रवेश-द्वार का पर्यायवाची बन गया।

ग्वालियर दुर्ग में 'प्रतोली' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हमें चतुर्भुज मन्दिर के एक अभिलेख (८७६ ई०) में मिलता है, जिसमें इस मन्दिर को भोजदेव की प्रतोली के नीचे स्थित बतलाया गया है।[४९] यह प्रतोली हथिया पौर रही होगी, क्योंकि चतुर्भुज मन्दिर उसके ही नीचे स्थित है। यहाँ पर 'प्रतोली' शब्द का प्रयोग संभवतः प्रवेश-द्वार के ही अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त हथियापौर, गणेशपौर, भैरोपौर,धोन्धापौर आदि प्रवेश-द्वारों के नामों के अन्त में 'पौर' (पौरी या प्रतोली) शब्द आया है। स्पष्टतः यहाँ यह प्रवेश-द्वार के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

ग्वालियर दुर्ग में आवागमन की सुविधा के लिए चार मार्ग निर्मित किए गये हैं। इनमें से एक मार्ग पूर्व की ओर, दो पश्चिम की ओर तथा एक दक्षिण की ओर है। वर्तमान समय में पूर्व की ओर का 'ग्वालियर गेट' तथा पश्चिम की ओर का 'उरवाही गेट' खुले हैं। शेष को सुरक्षा की दृष्टि से बन्द कर दिया गया है। इन मार्गों में स्थान-स्थान पर प्रवेश-द्वार बनाये गये हैं।

पूर्वी मार्ग की लम्बाई लगभग ७६० मी० है। इस पर पहले सीढ़ियाँ बनी थीं। बाद में उन्हें तोड़कर ढालू बना दिया गया है।[५०] इस मार्ग को सुरक्षित करने के लिए छः प्रवेश-द्वार बनाये गये हैं :-

---

४५. रामायण (५, २, १७; ६, ७५, ६); महाभारत (१२, ६९, ५२-५३); अर्थ० (२, ३,); अग्रवाल, वी० एस० हर्षचरितः-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०२१५; समरांगण० (१०,३८); प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह (सं० श्री सी० डी० दलाल); बड़ोदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी, १९२०, पृ०९४; प्रभावक चरित (४, ७२, ३२); कथासरितसागर (४२, १२४)

४६. फ्लीट, जे० एफ०, कार्पस इन्स्क्रिप्सन इण्डिकेरम, भाग ३, पृ० ४५ तथा इ० ए० भाग XLI, पृ० १७, १९

४७. श्रीवास्तव, ए० एल०, भारतीय विद्या, भाग ३२, १९२७२, पृ १-६

४८. वही

४९. ए० इ०, जिल्द १, पृ० १५९

५०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३३

१. हथिया पौर
२. लक्ष्मण पौर
३. गणेश पौर
४. भैरों पौर
५. बादलगढ़ या हिन्डोला पौर
६. आलमगीरी पौर

हथिया पौर (चित्र सं० २)

दुर्ग में प्रवेश करने के लिए पूर्वी मार्ग पर सबसे ऊपरी प्रवेश-द्वार हथिया पौर है। मुख्य प्राचीर के साथ इसका निर्माण मान-मन्दिर के दक्षिणी-पूर्वी भाग में इस संयोजन के साथ किया गया है कि यह राजा मानसिंह के महल (मान-मन्दिर) का अंग प्रतीत होता है और उसकी भव्यता और विशालता के साथ ही यह द्वार भी अपनी अपूर्व छटा विखेरता है।

इसके नामकरण के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि किसी समय प्रवेश-द्वार के सामने हाथी की एक विशाल पाषाण-प्रतिमा स्थित थी, जिसके कारण इसे 'हथिया पौर' कहा जाने लगा। इस हाथी की मूर्ति को इब्न बतूता ने सन् १३४२ ई० में देखा था। उसके अनुसार "किले के द्वार पर महावत से युक्त हाथी की एक पाषाण-प्रतिमाा स्थित है।"[५१] इसके पश्चात् सन् १५२७ ई० में ग्वालियर दुर्ग का निरीक्षण करते समय बाबर का ध्यान भी इस मूर्ति की ओर गया था। उसने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है, "पूर्वी दिशा के बुर्ज की ओर हाथी पुल (हथिया पौर) है। पील को यहाँ हाथी कहा जाता है और द्वार को पुल (पौर)। इसके फाटक पर एक हाथी की दो महावतों सहित मूर्ति रखी हुई है। हाथी की मूर्ति हाथी के समान ही दृष्टिगत होती है। इसके कारण इस द्वार को हाती पुल (हथिया पौर) कहा जाता है।[५२] विलियम फिन्च ने इसे अन्तिम बार सन् १६१० ई० में देखा था।[५३] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में मुगल गवर्नर मुजफ्फर खॉं (१६२८-४७ ई०) अथवा मुतैमिद खाँ (१६५८-१७०७ ई०) द्वारा इस मूर्ति को यहाँ से हटवा दिया गया, क्योंकि इनके समय में दुर्ग पर इस प्रकार के अनेकों परिवर्तन करवाये गये थे।

इब्न बतूता के उपरोक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि हथिया पौर तथा उसके सामने स्थित हाथी की मूर्ति का निर्माण १३४२ ई० अर्थात् दुर्ग पर तोमरों का शासन स्थापित होने से पहले ही किसी समय हो चुका था। किन्तु निश्चित साक्ष्यों के अभाव में यह कह सकना कठिन है कि उक्त निर्माण कब और किसने करवाया था। चतुर्भुज मन्दिर के वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) के अभिलेख में मन्दिर को भोजदेव की प्रतोली के नीचे स्थित बतलाया गया है।[५४] यदि 'प्रतोली' का तात्पर्य प्रवेश-द्वार से लें तो यह प्रतोली हथिया पौर हो सकती है, क्योंकि चतुर्भुज मन्दिर इसके ही नीचे स्थित है। इसके अतिरिक्त चूँकि अभिलेख में इसे भोजदेव की प्रतोली कहा गया है, अतः बहुत संभावना है कि इसका निर्माण कार्य भी सर्वप्रथम गुर्जर-प्रतिहार शासक मिहिर भोज (८३६-८८५ ई०) ने ही करवाया हो और कालान्तर में मान-मन्दिर के निर्माण के समय इसे भी उसकी योजना में सम्मिलित कर लिया गया हो।

---

५१. द रेहला आफ इब्न बतूता (अनु० महदी हुसेन), ओरियन्टल इन्सटीट्यूट, बड़ोदा, १९५३, पृ० ४५, १६३
५२. बाबर-नामा (अनु० ए० एस० बेवेरिज़), नई दिल्ली, १९७०, पृ० ६०९
५३. नाथ, आर०, हिस्ट्री आफ मुगल आर्किटेक्चर, भाग १, नई दिल्ली, १९८२, पृ० ४८
५४. 'श्री भोजदेवप्रतोल्यावतारे' ए०इ०, भाग १, पृ० १५९

इस बात की पुष्टि हथिया पौर की वास्तुगत विशेषताओं का अध्ययन करने पर भी हो जाती है। द्वार के भित्ति-स्तम्भों के अलंकरण तथा तोरण, भारपट्ट और अट्टालकों आदि की अलंकरण शैली में पर्याप्त असमानता है। भित्ति-स्तम्भों में उत्कीर्ण कीर्तिमुख, चक्रवाक, पद्म, अर्धपद्म आदि (चित्र सं० ३) गुर्जर-प्रतिहार कालीन प्रतीत होते हैं और उनकी साम्यता तेली मन्दिर के गर्भगृह में स्थित भित्तिस्तम्भों पर अंकित उच्चित्रों (चित्र सं० ११) से की जा सकती है, किन्तु तोरण, अट्टालकों तथा द्वितीय तल की रचना व अलंकरण मान-मन्दिर (१४८६-१५१६ ई०) के समकालीन है।

इस प्रकार उपरोक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रकट होता है कि हथिया पौर का निर्माण दो विभिन्न कालों में किया गया। पहली बार इसे गुर्जर-प्रतिहार काल में निर्मित किया गया, जिसके अब केवल भित्ति-स्तम्भ मात्र शेष बचे हैं। उस समय इसे भोजदेव की प्रतोली कहा जाता था। उसके पश्चात् दूसरी बार इसके वर्तमान स्वरूप का निर्माण राजा मानसिंह के शासन काल (१४८६-१५१६ ई०) में मान-मन्दिर के साथ किया गया, जिसमें तोरण, भारपट्ट, वितान और अट्टालकों आदि की रचना की गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि मान-मन्दिर के निर्माण के समय हथिया पौर के प्राचीन स्वरूप को भी उसकी योजना में सम्मिलित कर लिया गया और नवीन संशोधनों एवं अलंकरणों के साथ उसे इस ढंग से सजाकर प्रस्तुत किया गया है कि वह वर्तमान समय में मान-मन्दिर का ही एक अंग दिखलाई पड़ता है।

हथिया पौर की रचना द्विभौमिक है। प्रथम तल में प्रवेश-द्वार तथा द्वितीय तल में दुर्ग-रक्षकों के लिए प्रकोष्ठ बने हैं। दोनों तलों की ऊँचाई १६ मी० है। प्रवेश-द्वार की लम्बाई ५.३० मी०, चौड़ाई ६.८० मी० तथा ऊँचाई ८ मी० है। सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए दोनों पार्श्वों में चार-चार भित्ति-स्तम्भ लगाये गये हैं। उनके ऊपरी भाग में कीर्तिमुख, चक्रवाक, मांगल्य विहग, पद्म, अर्धपद्म तथा अन्य अलंकरण उच्चित्रित हैं (चित्र सं० ३)। स्तम्भों के ऊपर फुल्लियों तथा अन्य शोभांकनों से सुशोभित स्तम्भ-शीर्ष और तोड़े हैं, जिनके ऊपर सादा भारपट्ट स्थित है। तोरण को आमलक और पुष्पों से गुथी हुई दो अर्ध-चन्द्राकार पंक्तियों तथा सादी पट्टियों से सजाया गया है। उसके दोनों पार्श्वों में दो मूषाएं (खिड़कियां) हैं। प्रवेश-द्वार के कर्णों पर दो अट्टालक सुशोभित हैं। इनमें से प्रत्येक की ऊँचाई ३१ मी० है। मध्य भाग तक इन्हें थोड़े-थोड़े अन्तराल पर भूमि-आमलक जैसी मेखला से अलंकृत किया गया है। उसके ऊपर रंगीन टाइलों से सज्जित मकर-मुख, पेंचदार गोल स्तम्भों पर लहरदार मदला (तोरणावलि), तोड़ों पर छाद्य और सबसे ऊपर आठ-आठ स्तम्भों पर आधारित गुम्बदाकार बुर्जियों की शोभा दर्शनीय है (चित्र सं० २)

२. लक्ष्मण पौर

यह प्रवेश द्वार हथिया पौर के नीचे स्थित है। इसका निर्माण हथिया पौर को और अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए किया गया था। नाम के आधार पर एक विद्वान का अनुमान है कि इसका निर्माण ग्वालियर के तोमर वंश के संस्थापक राजा वीरसिंह देव के पुत्र लक्ष्मण सिंह ने करवाया था।[५५] यह द्वार तोमरों के शासनकाल में अवश्य विद्यमान था, क्योंकि इसके लकड़ी के फाटक पर १४८५

---

५५. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३४६

ई० का एक लेख अंकित था, जिसमें एक छोटे से तालाब का भी उल्लेख था।[५६] किन्तु एक किंवदन्ती के आधार पर फजलअली ने इस द्वार के निर्माण का श्रेय कच्छपघात वंश के १७वें शासक लक्ष्मणपाल को दिया है।[५७] कनिंघम का विचार है कि इसे कच्छपघात शासक वज्रदामन ने ग्वालियर दुर्ग पर अधिकार कर लेने के पश्चात लगभग ९७० ई० में बनवाया होगा और अपने पिता लक्ष्मण के नाम पर इसका नामकरण किया होगा।[५८]

लक्ष्मण पौर में चार अलंकृत स्तम्भों के ऊपरी भाग को कपिशीर्षकों से सुशोभित किया गया है। द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ८.२० मी०, चौड़ाई ५.३० मी०, लम्बाई ३.६० मी० तथा निकास की ऊँचाई ६.०० मी० है। स्तम्भों पर उत्कीर्ण कीर्तिमुख, पद्म तथा अन्य अलंकरणों की चित्रण शैली के आधार पर इसे १०वीं शताब्दी में रखा जा सकता है। इस प्रकार संभवतः यह प्रवेश-द्वार तोमरों के पूर्व कच्छपघातों के शासनकाल में ही बनकर तैयार हो गया था।

३. गणेश पौर

यह प्रवेश-द्वार (चित्र सं० ५) लक्ष्मण पौर के नीचे स्थित है। दुर्ग को और अधिक सुरक्षित करने के लिए इसका निर्माण राजा डँगर सिंह या डँगरेन्द्र सिंह (१४२५-१४५९ ई०) ने करवाया और अपने पिता गणपतिदेव (गणेश) के नाम पर इसका नामकरण किया।[५९] इसकी रचना अत्यन्त साधारण है। चार स्तम्भों पर भारपट्टों को रखकर उन्हें कपिशीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसमें उत्तर की ओर नुकीली मेहराब तथा दक्षिण की ओर तोड़ेदार मेहराब निर्मित की गई है। द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ६ मी०, ल० ४.३० मी०, चौ० ३.६० मी० तथा निकास की ऊँचाई ४.६० मी० है।

४. भैरों पौर

यह द्वार अब पूर्णतः नष्ट हो चुका है। रास्ते के दोनों ओर केवल दो चबूतरों के अवशेष बचे हैं। सम्भवतः इन्हीं के ऊपर द्वार के अट्टालकों और स्तम्भों को निर्मित किया गया होगा। कनिंघम ने इसे पूर्णावस्था में देखा था। उनके अनुसार भैरों पौर की निर्माण शैली निश्चयपूर्वक प्राचीन थी।[६०] इसके एक पक्खे में छोटा अभिलेख भी था, जिसमें सं०१५४२ (१४८५ ई०) तिथि अंकित थी।[६१] किन्तु अब वह नष्ट हो गयी है। शाहजहाँ के समकालीन दरबारी कवि खड्गराय के अनुसार इस द्वार को ग्वालियर के कच्छपघात शासक भैरोंपाल ने बनवाया था।[६२] इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि भैरों पौर की रचना बादलगढ़ के भवनों के पूर्व की गयी होगी, क्योंकि यहीं से पहाड़ी की ढलान शुरू होती है और जब बादलगढ़ के भवनों तथा प्रवेश-द्वार का निर्माण नहीं किया गया

---

५६. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३६
५७. वही
५८. वही
५९. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३३६
६०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३४
६१. वही
६२. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३४

होगा, तब ऊपर के सभी द्वारों की रक्षा के लिए इस स्थान पर एक सुदृढ़ द्वार निर्मित करने की आवश्यकता अवश्य पड़ी होगी।

५. बादलगढ़ पौर या हिण्डोला पौर

पूर्व दिशा में ही पहाड़ी के नीचे के समतल भू-भाग में कुछ भवनों का निर्माण राजा कल्याण मल्ल के भाई तथा राजा मानसिंह के चाचा बादल सिंह द्वार करवाया गया था, जिन्हें 'बादलगढ़' के नाम से अभिहित किया जाता है।[६३] इनकी सुरक्षा के लिए इन्हें कपिशीर्षकों से युक्त एक सुदृढ़ प्राचीर द्वार घेरा गया है तथा प्राचीर के साथ एक प्रवेश-द्वार भी निर्मित किया गया है, जिसे 'बादलगढ़' द्वार कहते हैं। किसी समय इस द्वार के ठीक बाहर एक 'हिण्डोल' या झूला पड़ा हुआ था, जिसके कारण आजकल यह 'हिण्डोला पौर' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[६४]

बादलगढ़ पौर की रचना द्विभौमिक है (चित्र सं० ४)। नीचे चार स्तम्भों के ऊपर अलंकृत तोरण है तथा उसके ऊपर दुर्ग रक्षकों एवं सैनिकों के लिए प्रकोष्ठ बने हैं। द्वार के दोनों कर्णो पर दो अट्टालिकाएँ सुशोभित हैं। उनके पार्श्व भागों को बड़ी-बड़ी कमल फुल्लियों से अलंकृत किया गया है। द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ६ मी०, लम्बाई ३.६५ मी०, चौड़ाई ४.७५ मी० तथा निकास की ऊँचाई ४.२० मी० है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह द्वार विशुद्ध हिन्दू शैली में निर्मित है। हथिया पौर, मानसिंह के महलों और हिण्डोला पौर की स्थापत्य कला में पर्याप्त समानता दिखलाई पड़ती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसे या तो राजा कल्याण मल्ल अथवा राजा मानसिंह के शासनकाल में संभवतः १४७९ तथा १५१६ ई० के मध्य किसी समय निर्मित किया गया होगा। हिण्डोला पौर तथा उससे जुड़ी हुई प्राचीर को इस ढंग से घेरकर बनाया गया है कि वे बादलगढ़ के साथ-साथ ऊपर के सभी द्वारों को भी सुरक्षा प्रदान करते हैं।

६. आलमगीरी पौर

यह प्रवेश-द्वार पहाड़ी के सबसे निचले भाग में बादलगढ़ पौर को घेरने वाली प्राचीर के साथ निर्मित किया गया है। इसका उद्देश्य सम्भवतः बादलगढ़ को और अधिक सुरक्षा प्रदान करना था। द्वार का निर्माण ग्वालियर के गवर्नर मुतैमिद खाँ द्वारा १६६० ई० में किया गया तथा तत्कालीन मुगल सम्राट औरंगजेब 'आलमगीरी' के नाम पर इसे 'आलमगीरी पौर' नाम से सम्बोधित किया गया।[६५] द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ६ मी० है, लम्बाई ३.६० मी०, चौड़ाई ३.५० मी० तथा निकास की ऊँचाई ४.५० मी० है। इसकी स्थापत्य-कला साधारण मुगल शैली की है (चित्र सं० ६)। मेहराब के ऊपर मुतैमिद खाँ का एक शिलालेख भी अंकित है, जिसकी लिखावट अब बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। प्रवेश-द्वार के पीछे एक छोटा सा प्रांगण तथा एक खुला हुआ बरामदा है, जिसे 'कचहरी' कहते हैं। इसका उपयोग प्रायः मुस्लिम गवर्नरों द्वारा जनता को न्याय आदि प्रदान करने के लिए किया जाता था।[६६]

---

६३. वही, पृ० ३३३

६४. वही, पृ० ३३३-३३४

६५. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३३

६६. वही

७. धोन्धा पौर

पहाड़ी के पश्चिमोत्तर भाग में एक अन्य मार्ग के अवशेष उपलब्ध हैं, जिन्हें 'धोन्धा पौर' कहते हैं। इसको सुदृढ़ करने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर तीन प्रवेश-द्वार निर्मित किए गये थे, जोकि सुरक्षा की दृष्टि से बन्द कर दिये गये हैं। इनकी रचना साधारण कोटि की है। सबसे ऊपरी प्रवेश-द्वार द्विभौमिक है। नीचे पद्म फुल्लियों से अलंकृत दो-दो अर्धस्तम्भों पर तोड़े तथा उनके ऊपर भारपट्ट रखे गये हैं। सबसे ऊपर सैनिकों के लिए प्रकोष्ठ निर्मित किये गये हैं। द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई १० मी०, लम्बाई २.३० मी०, चौड़ाई ४.२० मी० तथा निकास की ऊँचाई ४ मी० है। रचना-शैली की दृष्टि से यह तोमरकालीन भवनों के अत्यधिक निकट है। मध्य के प्रवेश-द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ६ मी०, लम्बाई तथा चौड़ाई ३ मी०, निकास की ऊँचाई ४ मी० है। इसकी गोलाकार मेहराब अँग्रेजों के शासनकाल में निर्मित प्रतीत होती है। दोनों अट्टालिकाओं को एक-एक मूषा तथा एक-एक पद्म फुल्ली से अलंकृत किया गया है। उनके मध्य में एक दूसरे से गुथे हुए दो नाग भी सुशोभित हैं। मूषाओं के ऊपर खर्बूजिया गुम्बद बनाये गये हैं। यह प्रवेश-द्वार अपेक्षाकृत बाद में (लगभग १९वीं श० के मध्य) किसी समय निर्मित किया गया प्रतीत होता है। सबसे नीचे के प्रवेश-द्वार की रचना द्विभौमिक है। इसमें अर्धस्तम्भों के ऊपर तोड़ेदार मेहराब का निर्माण करके उसके ऊपर भारपट्ट रखे गये हैं। सबसे ऊपर सैनिकों के लिए प्रकोष्ठ तथा दो बुर्जियाँ हैं। द्वार की सम्पूर्ण ऊँचाई ९ मी० तथा चौड़ाई ३ मी० और निकास की ऊँचाई ५ मी० है। प्रवेश-द्वार के दोनों ओर १५ मीटर ऊँची दो अट्टालिकाएँ हैं जिनके मध्य भाग में एक-एक मूषा तथा ऊपर एक-एक बुर्जी है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह तोमरों का समकालीन प्रतीत होता है। इसके सामने 'धोन्धा देव' का एक छोटा सा मन्दिर है। सम्भवः इन्हीं के नाम पर इसे 'धोन्धा पौर' कहते हैं।

फजल अली ने इसके निर्माण का श्रेय एक प्रारम्भिक कच्छपघात शासक 'धन्धेरपाल' को दिया है।[६७] धोन्धादेव मन्दिर के समीप की पहाड़ी पर वि० सं० १५५२ (१४९५ ई०) का एक अभिलेख मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि धोन्धा पौर की सुदृढ़ता के लिए राजा मानसिंह ने कुछ निर्माण कार्य किया था।[६८] इसी प्रवेश-द्वार के दूसरी ओर वि० सं० १५०५ (१४४८ ई०) का एक अन्य अभिलेख प्राप्त हुआ है, जोकि मानसिंह के शासनकाल के पूर्व का है।[६९] इससे प्रमाणित होता है कि इस द्वार का प्रयोग राजा मानसिंह के पहले से हो रहा था। वीरसिंह (१३७५-१४०० ई०) के पुत्र ढोला शाह को इस द्वार की सुरक्षा का भार सौंपा गया था।[७०] इसी ने द्वार के रक्षक के रूप में शिव के मन्दिर का निर्माण करवाया था, जिसे आजकल 'ढोन्ढा देव' कहते हैं।[७१] उपयुक्त साक्ष्यों के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि तोमरों के शासनकाल में इस द्वार का प्रयोग आवागमन के लिए 'होता था तथा मानसिंह तोमर द्वारा उसमें सुदृढ़ता के लिए कुछ निर्माण कार्य भी किए गए थे।

---

६७. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३६

६८. वही

६९. वही

७०. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३४०

घर्गर्ज पौर

यह मार्ग पहाड़ी के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में स्थित है। इसकी सुदृढ़ता के लिए इसमें तीन प्रवेश-द्वारों का निर्माण किया गया था, जोकि बहुत दिनों से बन्द पड़े हैं। ऊपर तथा नीचे के दोनों प्रवेश-द्वार पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं। बीच के द्वार की लम्बाई ४.३५ मी०, चौड़ाई ३.३० मी० तथा ऊँचाई ५.६० मी० है। इसकी रचना-शैली धोन्धा पौर तथा हथिया पौर जैसी ही है। इस आधार पर इसे तोमरों के शासनकाल में निर्मित माना जा सकता है।

इस द्वार के समीप पहाड़ी को काटकर एक तालाब का निर्माण किया गया था। जब पहाड़ी से छनकर पानी तालाब में गिरता था तो उसमें 'झर-झर' की ध्वनि उत्पन्न होती थी, जिससे इसे 'घर्गर्ज बावरी' कहा जाता था। और इसके निकट स्थित प्रवेश-द्वार को 'घर्गर्ज पौर' कहा जाने लगा।[७२]

उरवाही द्वार

यह द्वार आजकल आवागमन के लिए प्रयुक्त किया जाता है और इसमें एक पक्की सड़क बनी है। मुसलमानों के आक्रमण के समय तक पश्चिम की ओर से यही एक मात्र रास्ता था, जो उरवाही घाटी से होकर जाता था।[७३] इल्तुतमिश (१२३२ ई०) ने दुर्ग पर अधिकार करने के पश्चात् घाटी के मुहाने पर एक २०० मीटर लम्बी, १२ मीटर चौड़ी और १५ मीटर ऊँची प्राचीर का निर्माण करवा दिया था, ताकि भविष्य में होने वाले आक्रमणों से घाटी के जलाशयों की रक्षा की जा सके।[७४] प्राचीर के लगभग मध्य में एक प्रवेश-द्वार है, जिसकी लम्बाई ४.४५ मीटर, चौड़ाई ३.७० मीटर तथा ऊँचाई ६.० मीटर है।

गुप्त द्वार (झिलमिली खिड़की)

पहाड़ी के दक्षिणी कोने में एक गुप्त द्वार भी निर्मित किया गया है। इसे 'झिलमिली खिड़की' के नाम से जानते हैं। बाहर से यह सामान्य पहाड़ी सा दिखलाई पड़ता है, किन्तु इसके भीतर चट्टान में सीढ़ियाँ काटकर एक अत्यन्त संकरा रास्ता बनाया गया है, जोकि पहाड़ी में नीचे से ऊपर की ओर जाता है। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-छोटे झरोखे बनाये गये हैं, जिनसे छनकर जाता हुआ झिलमिला प्रकाश रास्ते के अन्धकार को दूर कर देता है। सम्भवतः इसीलिए इसे 'झिलमिली खिड़की' कहते हैं। ये झरोखे इस ढंग से काटे गये हैं कि बाहर से इन्हें देखकर किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। किले की घेराबन्दी के समय इस खिड़की का प्रयोग शत्रु-सेना का निरीक्षण करने तथा उसकी गतिविधियों का पता लगाने के लिए किया जाता रहा होगा।

---

७१. वही
७२. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३९
७३. वही, पृ० ३३२
७४. वही, पृ० ३३२

कण्ठवारिणी

प्राचीर और कपिशीर्षकों के मध्य-भाग को कडवारिणी या कण्ठवारिणी कहते हैं। समरांगणसूत्रधार में इसकी ऊँचाई दो हाथ (३ फुट) तक बतलाई गयी है।[७५] ग्वालियर दुर्ग में प्राचीर और कपिशीर्षकों के मध्य लगभग एक मीटर ऊँचाई तक कण्ठवारिणी उठाई गयी है।

कपिशीर्षक

प्राकार और कण्ठवारिणी के ऊपर माला में गुथी हुई मोतियों के समान पंक्तिबद्ध रूप में कपिशीर्षकों का अलंकरण दुर्ग की शोभा में अभूतपूर्व बृद्धि करता है। साथ ही शत्रु द्वारा आक्रमण करने पर यह कपिशीर्षक (कंगूरे) अस्त्र-शस्त्रों से सैनिकों की रक्षा करने में भी समर्थ होते हैं। भारतीय दुर्गों में इनकी रचना गोल मेहराबदार तथा तोड़ेदार दोनों ही रूपों में मिलती है। मेसोपोटामिया, ईरान और भारत की प्राचीन कला में यह लोकप्रिय था। शूषा, पार्सिपोलिस, भरहुत, साँची, मथुरा, बोधगया और गान्धार के उच्चित्रों में भी इसका अंकन हुआ है।[७६] समरांगणसूत्रधार के अनुसार कपिशीर्षकों की ऊँचाई एक हाथ (१.५ फुट) होनी चाहिए।[७७] प्रायः सभी मध्यकालीन दुर्गों में इनकी रचना की गयी है।

ग्वालियर दुर्ग में प्राचीर के ऊपर पंक्तिबद्ध रूप में कपिशीर्षकों का निर्माण किया गया है (चित्र सं० ७)। इनकी औसतन ऊँचाई १.५ मीटर से २ मीटर तक है। इन कंगूरों के अलंकरण से एक ओर दुर्ग की शोभा में अपार वृद्धि होती है तथा दूसरी ओर शत्रु द्वारा किये गये आक्रमण के समय ये सैनिकों के लिए बहुत उपयोगी रहे होंगे। इनकी ओट लेकरं सैनिक बाहर से होने वाली अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा से न केवल अपनी रक्षा करते थे, अपितु इनकी सहायता से वे शत्रुओं पर सफलतापूर्वक प्रहार भी करते रहे होंगे।

इन्द्रकोश

कौटिल्य के मत से दुर्ग में अट्टालक और प्रतोली के मध्य एक विशेष स्थान का निर्माण करवाना चाहिए जिसको 'इन्द्रकोश' कहते हैं। यह इन्द्रकोश इतना बड़ा होना चाहिए कि तीन धनुर्धर सन्तरी आसानी से उसमें बैठ सकें। उनके आगे एक छिद्रयुक्त तख्ता लगा रहना चाहिए जिससे वे बाहर की वस्तु देख सकें और भीतर से ही छिद्रों द्वारा बाहरी लक्ष्य का निशाना लगा सकें तथा बाहर के लोग उन्हें देख न सकें।[७८] इस प्रकार अट्टालक और प्रतोली के मध्य एक ऐसा प्रकोष्ठ या कक्ष निर्मित किया जाता था जिससे दुर्ग रक्षकों एवं पहरेदारों को समुचित सुरक्षा प्रदान की जा सके। भारतीय दुर्गों में इस अंग की वास्तविक स्थिति की निश्चित पहचान कर पाना कठिन है। बहुत संभव

---

७५. द्विहस्ता काण्डवारिणी। - समरांगण०, १०, ३०

७६. अग्रवाल, वी० एस०, भारतीय कला, पृ० ८४, चित्र ८८-८९

७७. हस्तोच्चं कपिशीर्षं स्याद् । - समरांगण०, १०, ३०

७८. अट्टालकप्रतोलीमध्ये त्रिधानुष्काधिष्ठानं
सपिधानच्छिद्रफलसंहतमितीन्द्रकोशं कारयेत्।
अर्थ०, अधि० २, अ० ३, प्र० २१

है कि यह प्रतोली के ऊपर अथवा अट्टालकों के पार्श्व में निर्मित कक्ष ही हों, जैसा कि ग्वालियर के दुर्ग में हथिया पौर और हिंडोला पौर में प्रदर्शित है (चित्र सं० २ और ४)।

देवपथ

कौटिल्य के अनुसार प्राकार के साथ ही ऐसा देवपथ बनवाना चाहिए जो अट्टालक, प्रतोली तथा इन्द्रकोश के बीच में दो हाथ चौड़ा और प्राकार के साथ आठ हाथ चौड़ा हो।[७९] पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'देवपथ' शब्द आया है।[८०] कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लिखित 'देवपथ' का तुलनात्मक अध्ययन कर डा० अग्रवाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जो मार्ग 'दिव्यपथ' के सदृश है, उसे ही 'देवपथ' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीर के ऊपर चतुर्दिक आकाशीय दिव्यपथ के सदृश मार्ग को 'देवपथ' माना है।[८१] परन्तु यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती। क्योंकि उपयोगिता की दृष्टि से प्राकार के ऊपर ८ हाथ (१२ फुट) चौड़े मार्ग का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। दूसरे अट्टालक, प्रतोली तथा इन्द्रकोश के साथ दो हाथ (३ फुट) चौड़े एक अन्य पथ का भी उल्लेख है। अतः इसे प्राचीर के ऊपर का मार्ग नहीं समझना चाहिए। यहाँ 'देवपथ' का तात्पर्य 'राजपथ' से हो सकता है। प्राकार के साथ १२ फुट चौड़े राजपथ का निर्माण करके उसके दोनों ओर अट्टालक, प्रतोली और इन्द्रकोश के मध्य ३ फुट चौड़े छोटे मार्ग का निर्माण किया जा सकता है। बड़े प्रवेश-द्वारों में इस प्रकार की व्यवस्था मिलती भी है, जहाँ प्रवेश-द्वार में मुख्य मार्ग के दोनों ओर दो छोटी-छोटी रथ्याओं (गली या रास्ते) का विधान दृष्टिगोचर होता है।

ग्वालियर दुर्ग का प्रमुख मार्ग पूर्वी प्रवेश-द्वार से दक्षिण-पश्चिम की ओर उरवाही-द्वार तक जाता है। यही पथ मान-मन्दिर के सामने से निकलकर दक्षिण की ओर सूर्यकुण्ड तथा तेली-मन्दिर के सामने से भी जाता है। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार इसे 'देवपथ' या 'राजपथ' की संज्ञा दी जा सकती है। संभवतः यह दुर्ग का सर्वाधिक प्राचीन मार्ग रहा होगा, क्योंकि यह कई प्राचीन भवनों को एक दूसरे से जोड़ता है। इसके किसी भी प्रवेश-द्वार में छोटे पार्श्व-द्वारों अथवा मार्गों की व्यवस्था नहीं की गयी है।

चार्या

प्राकार के साथ ही एक दण्ड या दो दण्ड की दूरी पर चार्या अर्थात् प्राकार आदि पर चढ़ने-उतरने का सोपान बनवाना चाहिए।[८२] ग्वालियर दुर्ग की प्राचीर के साथ-साथ उस पर चढ़ने-उतरने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर अनेकों सोपान निर्मित किये गये हैं (चित्र सं० ७)।

प्रधावितिका

बाहर से छोड़े गये बाण आदि से सुरक्षित रहने के लिए छिपने योग्य ओट को 'प्रधावितिका' कहते हैं। इसका निर्माण प्राकार के ऊपर ऐसे स्थान पर किया जाता है, जिसको कोई

---

७९. अन्तरेषु द्विहस्तविष्कम्भं पार्श्वे चतुर्गुणयममनुप्राकारमष्टहस्तयतं देवपथं कारयेत्। अर्थ०, अधि० २, अ० ३, पृ० २१

८०. अग्रवाल, वा० श०, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १३८-१३९

८१. वही

८२. दण्डहान्तराद्विदन्डान्तरा वा चार्याः कारयेत्। अर्थ०, अधि० २, अ०३, प्र०२१

देख न सके। इसकी समानता 'कण्डवारिणी से की जा सकती है। प्रधावितिका में निशाना मारने तथा देखने के लिए 'निष्कुह-द्वार' (छिद्र) भी बनवाने चाहिए।[८३]

ग्वालियर दुर्ग में कण्डवारिणी के ऊपर कपिशीर्षकों के मध्य शत्रु पर निशाना साधने के उद्देश्य से विभिन्न कोणों पर निष्कुहद्वार निर्मित किये गये हैं (चित्र सं० ७)। इनसे कपिशीर्षकों की आड़ में रहते हुए किसी दिशा में स्थित शत्रु पर तीर या बन्दूक से सुविधापूर्वक निशाना लगाया जा सकता है।

फाटक

किले के दरबाजे का ऊपरी बुर्ज दो हाथ लम्बा होना चाहिए। दोनों फाटक तीन या पांच तख्तों की पर्त के बने हों। किवाड़ों को बन्द करने के लिए एक अरन्ति परिमाण (एक हाथ) की इन्द्रकील (चटखनी) होनी चाहिए। फाटक के बीच में पांच हाथ का एक छोटा सा दरवाजा भी जुड़ा हो। सम्पूर्ण फाटक इतना बड़ा होना चाहिए कि उसमें चार हाथी एक साथ प्रवेश कर सकें।[८४]

ग्वालियर दुर्ग के प्रायः सभी प्रवेश-द्वारों में लकड़ी के फाटक लगाये गये थे। उनके दोनों पल्लुओं के चूलों को फँसाने के लिए पत्थर के छिद्र आज भी विद्यमान हैं। हथिया पौर तथा आलमगीरी पौर का फाटक भी अपेक्षाकृत बाद का प्रतीत होता है। लकड़ी के पटरों को लोहे की पत्तियों और कीलों से जोड़कर उसे तैयार किया गया है। दक्षिणी पल्ले में आवागमन की सुविधा के लिए एक छोटे दरवाजे की भी व्यवस्था है। फाटक की ऊँचाई भित्ति-स्तम्भों के बराबर तक ही है। उसके ऊपर तोरण के खुले भाग को लोहे की पत्तियों से ढक दिया गया है।

जलाशय

किसी भी दुर्ग को सुरक्षा की दृष्टि से तब तक सुदृढ़ नहीं माना जा सकता जब तक कि उसमें युद्ध सामग्री, खाद्यान्न और जल की पर्याप्त व्यवस्था न हो, क्योंकि शत्रु द्वारा दुर्ग या नगर की घेराबन्दी कर लिए जाने पर इन वस्तुओं की आपूर्ति हार-जीत में बहुत कुछ निर्णायक सिद्ध होती है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, मानसोल्लास आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि दुर्ग में आयुध, अन्न, औषधि, धन, घोड़े, हाथी, भारवाही पशु, ब्राह्मण, शिल्पकार, मशीनें तथा जल आदि की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।[८५] अपराजितपृच्छा तथा वास्तुराजवल्लभ के अनुसार पुण्यात्मा को पुर (दुर्ग) के भीतर चार वापी, दस कूप, चार कुण्ड और छः तड़ाग बनवाना चाहिए।[८६] इस प्रकार प्रायः सभी राजनीतिज्ञ तथा वास्तुशास्त्री दुर्ग में जल के महत्व को स्वीकार करते हैं क्योंकि संकटकाल के लिए यदि जल संग्रह की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है तो कोई भी दुर्ग अधिक समय तक अविजित नहीं रह सकता।

ग्वालियर का दुर्ग जलापूर्ति की दृष्टि से काफी सफल रहा है, क्योंकि कोई भी शत्रु इसे जल की कमी के कारण कभी हस्तगत नहीं कर सका। इसके जलाशय पर्याप्त आकार के हैं और

---

८३. अग्रह्ये देशे प्रधावितिकां निष्कुरद्वारं च ।

८४. अर्थ० अधि० २, अ० ३, प्र० २१.

८५. रामायण, अयोध्या० १००,५३; महाभारत, सभा० ५,३६; मनुस्मृति ७,७५; मत्स्य० २१७, ८; विष्णुधर्मोत्तर० २,२६,२०-८८; मानसोल्लास, ३,५, ५५०-५५५

८६. अपराजित० ७४, १-२; वास्तुराजवल्लभ अ० ४, श्लो० २६

अत्यधिक गर्मी के दिनों में भी नहीं सूखते तथा संकट के समय जल की आपूर्ति में पूर्णतः सक्षम रहते हैं।[८७] इनकी रचना के आधार पर इन्हें निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

१. वापी ३. तड़ाग

२. कूप ४. कुण्ड

वापी (बावरी या बावली)

सोपानों (सीढ़ियों) से युक्त कूप को 'वापी' कहते हैं। निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि कुओं में सीढ़ियाँ जोड़कर वापी बनाने की परम्परा का प्रादुर्भाव कब से हुआ, किन्तु अनेक प्राचीन अभिलेखों में वापियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि उनका निर्माण अत्यन्त प्राचीनकाल से ही होने लगा था।[८८]

अपराजितपृच्छा तथा वास्तुराजवल्लभ में नन्दा, भद्रा, जया और विजया नामक चार प्रकार की वापियों का उल्लेख मिलता है।[८९] एक मुख और तीन कूट की वापी को 'जया' तथा चार मुख और बारह कूट की वापी को 'विजया' कहते हैं।[९०] यहाँ पर 'मुख' का तात्पर्य उस सोपान युक्त मार्ग से है, जिससे वापी का जल निकालने के लिए चढ़ा-उतरा जाता है तथा वापी पर खुलने वाले मुख को 'कूट' कहते हैं। इस प्रकार 'वापी' का आकार एक कुएँ जैसा होता है, जिसमें ऊपर से लेकर जल की सतह तक सीढ़ियाँ बनी होती हैं।

ग्वालियर दुर्ग के ऊपरी भाग में केवल एक वापी का उदाहरण प्राप्त होता है, जिसे 'अस्सी खम्भा बावरी' कहते हैं किन्तु उरवाही घाटी में कई वापियों तथा कुओं का निर्माण किया गया था। ये आज भी 'आठ कुआँ नौ बावरी' नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्तमान समय में उरवाघाटी में केवल दो वापियों के ही अवशेष उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'गुजरी बावरी' और 'धोन्धा बावरी' नामक दो अन्य वापियाँ भी दुर्ग में स्थित हैं।

१. अस्सी खम्भा बावरी

यह वापी (चित्र सं० ८) पहाड़ी के मध्य भाग में राजा मानसिंह के महल के दक्षिणी-पश्चिमी कोने पर स्थित है। इसको चारों ओर से एक ऊँची प्राचीर द्वारा घेर दिया गया है, जिसमें भीतर प्रवेश करने के लिए पूर्व की ओर एक विशाल द्वार है। इसका निर्माण बड़े-बड़े पाषाण-खण्डों को जोड़कर गोलाकार रूप में किया गया है। वापी का व्यास १२.७५ मीटर तथा जल के सतह तक की गहराई ११.४५ मीटर है। ऊपरी सिरे पर टोड़ों के ऊपर २.१५ मीटर चौड़ा छाजन है। उसके चारों ओर १.८५ मीटर चौड़ा ६४ गोल खम्भों पर आधारित एक वृत्ताकार बरामदा भी है। बावरी के पश्चिम में भी एक छोटा प्रवेश-द्वार है, जिसके दोनों ओर दो सीढ़ियाँ कटी हैं, जो नीचे एक स्थान पर मिल जाती हैं। पुनः वहाँ से दोनों ओर दो सीढ़ियाँ निकलती हैं जो वापी में जल के

---

८७. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४१

८८. आचार्य, पी० के०, डिक्सनरी आफ हिन्दू आर्कीटेक्चर, पृ० ५४३

८९. अपराजित० ७४, ९; वास्तुराज० अ० ४, श्लो० २८

९०. अपराजित० ७४, ९-११, वास्तुराज० अ० ४, श्लो० २८

अन्दर तक चली गयी हैं। अतः अपराजितपृच्छा में वर्णित वापियों के आधार पर 'अस्सी खम्भा बावरी' को 'नन्दा' श्रेणी में रखा जा सकता है।

वापी को 'अस्सी खम्भा बावरी' नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस आधार पर इसमें अस्सी खम्भे होने का अनुमान होता है किन्तु वास्तव में इसमें कुल ६४ स्तम्भ ही हैं। इसके उत्तरी भाग में वापी से जुड़ा हुआ स्तम्भों पर आधारित एक विशाल भवन है, जो आजकल 'रहीमदाद का मदरसा' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल में यह कोई सभा-भवन रहा होगा। सामान्य धारणा है कि इस भवन को बाबर ने बनवाया था।[९१] किन्तु इसकी स्थापत्य कला को देखने से ऐसा लगता है कि इसका निर्माण बाबर से पूर्व कभी तोमर राजाओं के शासनकाल में हुआ होगा और वे लोग इस भवन का उपयोग 'सभा-भवन' के रूप में करते रहे होंगे। 'अस्सी खम्भा बाबरी' इस भवन की समकालीन प्रतीत होती है। इसके जल का प्रयोग सभा-भवन में होने वाले उत्सवों तथा सम्मेलनों आदि के अवसर पर किया जाता रहा होगा। इसके अतिरिक्त मानमन्दिर और कीर्तिमहल आदि में निवास करने वाले राजपरिवार के लोगों द्वारा भी इसका जल प्रयुक्त किया जाता रहा होगा।

२. गुजरी बावरी

यह वापी पहाड़ी के नीचे गुजरी महल के उत्तरी भाग में स्थित है। इसका आकार ८.३० मीटर लम्बा, ७.६५ मीटर चौड़ा आयताकार है तथा गहराई ५ मीटर है। वापी का निर्माण छोटे-छोटे पाषाण-खण्डों को जोड़कर किया गया है। इसकी तलहटी और दीवारों पर प्लास्टर भी था, किन्तु वह अब नष्ट हो गया है। वापी के दक्षिणी-पश्चिमी कोने पर तल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ निर्मित की गयी हैं। गुजरी महल से वापी तक आने के लिए एक खिड़की थी, जो अब बन्द कर दी गयी है। इससे स्पष्ट है कि इसके जल का उपयोग गुजरी महल के लोगों द्वारा किया जाता रहा होगा।

३. धोन्धा बावरी

यह पहाड़ी के उत्तरी-पश्चिमी भाग में धोन्धादेव द्वार के बाहर स्थित है। इसका निर्माण पहाड़ी के पाषाण-खण्डों द्वारा अर्धचन्द्राकार रूप में किया गया है। अर्धचन्द्राकार परिधि की लम्बाई २० मीटर है। वापी की गहराई ५ मीटर से ८ मीटर तक है। इसके पूर्वी सिरे पर जल की सतह तक सीढ़ियाँ बनी हैं। वापी के ठीक ऊपर दुर्ग की प्राचीर है, जिसमें एक घाट निर्मित किया गया है। इस घाट के द्वारा भी वापी का जल प्राप्त किया जा सकता है।

४. शरद और अनार बावरी

हथियापौर और लक्ष्मणपौर के बीच में पहाड़ी को काटकर उसके भीतर 'शरद बावरी' और 'अनार बावरी' नाम के दो जलाशय निर्मित किए गये हैं। शरद बावरी में एक छोटा सा मेहराबार प्रवेश-द्वार बनाकर उसे पहाड़ी के भीतर लम्बाई, चौड़ाई और गहराई में काटते हुए एक चौकोर कुण्ड बना लिया गया है। इसकी छत पहाड़ी में काटकर तैयार किए गये स्तम्भों पर आधारित है। इसी प्रकार की रचना अनार बावरी में भी की गयी है।

---

९१. कर्निंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४४

५. घर्गर्ज बावरी

यह बावरी घर्गर्ज द्वार के नीचे स्थित है। अतः इसे 'घर्गर्ज बावरी' कहते हैं। इसकी लम्बाई १५ मीटर तथा चौड़ाई लगभग ७ मीटर है।

कूप (कुआँ)

कूप अथवा कुएँ की साधारण निर्माण-योजना को देखने से ज्ञात होता है कि इसका स्वरूप अत्यन्त प्राचीनकाल में ही विकसित हो चुका था। ऋग्वेद में 'कुओं' का उल्लेख मिलता है।[९२] इसके अतिरिक्त भारत की प्राचीनतम सभ्यता के प्रमुख केन्द्र मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से भी कुओं के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[९३] सिन्धु-सभ्यता के प्रायः सभी बड़े घरों में मीठे पानी से भरा गहरे सोते का कुआँ बनाया जाता था।[९४] इसकी जुड़ाई सुजवा या सुजा-पट्टी ईंटों से की जाती थी।[९५] कुएँ के ऊपर एक ऊँची जगती का निर्माण भी किया जाता था।[९६] इनका आकार गोल अथवा चौकोर दोनों प्रकार का होता था, किन्तु गोलाकार कुओं के उदाहरण अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनका जो स्वरूप आदिकाल में विकसित हुआ, वही थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ परम्परागत रूप में आज तक विद्यमान है। अपराजितपृच्छा तथा वास्तुराजवल्लभ में इस प्रकार के कूपों का उल्लेख मिलता है।[९७] चार हाथ के व्यास वाले कूप को 'विजय', छः हाथ के व्यास वाले कूप को 'प्रान्त', सात हाथ के व्यास वाले कूप को 'दुन्दुभी', आठ हाथ के व्यास वाले कूप को 'मनोहर', नव हाथ के व्यास वाले कूप को 'चूणामणि', दस हाथ के व्यास वाले कूप को 'दिग्भद्र' ग्यारह हाथ के व्यास वाले कूप को 'जय', बारह हाथ के व्यास वाले कूप को 'नन्द' तथा तेरह हाथ के व्यास वाले कूप को 'शंकर' नाम से सम्बोधित किया गया है।[९८] यदि कूप का व्यास चार हाथ से कम है तो उसे 'कूपिका' कहते हैं।[९९]

वर्तमान समय में ग्वालियर दुर्ग पर कुल ग्यारह कुएँ विद्यमान हैं। इनमें आठ उरवाघाटी में तथा तीन बादलगढ़ क्षेत्र में स्थित हैं। बादलगढ़ का एक कुआँ गुजरी महल के पीछे उत्तरी-पूर्वी कोने पर, दूसरा उत्तरी-पश्चिमी कोने पर तथा तीसरा भैरोंपौर के निकट है। उरवा घाटी के कुएँ मुस्लिम आक्रमण के पूर्व ही निर्मित कर लिए गये थे, क्योंकि १२३२ ई० में दुर्ग पर अधिकार कर लेने के पश्चात् इल्तुतमिश ने इनकी सुरक्षा के लिए घाटी के मुहाने पर एक विशाल प्राचीर का निर्माण करवाया था।[१००] जहाँ तक बादलगढ़ के कुओं का प्रश्न है, ये गुजरी महल तथा बादलगढ़ के भवनों के साथ राजा मानसिंह के शासनकाल (१४८६-१५१६ ई०) में निर्मित किए गये प्रतीत होते हैं।

---

९२. ऋग्वेद १०, १०१, ६
९३. ह्वीलर, मार्टिमर, द इण्डस सिविलाइजेशन, पृ० ४२; अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ० २०
९४. वही
९५. वही
९६. वही
९७. अपराजित० ७४,३-७; वास्तुराज० अ०४, श्लो० २७
९८. वही
९९. वही ७४, ८; अ० ४, श्लो० २७
१००. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३२

प्रायः सभी कुओं में जगती तथा जल निकालने के लिए एक-एक घाट निर्मित किए गये हैं किन्तु गुजरी महल के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर स्थित कुएँ में तथा भैरों पौर के निकट वाले कुएँ में दो-दो घाटों की व्यवस्था है। सभी कुओं का आकार गोल है। इनका निर्माण छोटे-बड़े पाषाण-खण्डों को जोड़कर किया गया है। कुओं की औसत गहराई २० मीटर से ३० मीटर तक है। उरवा घाटी पर स्थित छः कुओं का व्यास क्रमशः ३.२५ मीटर (लगभग सात हाथ), ३.३५ मीटर (लगभग सात हाथ), ३.३४ मीटर (लगभग सात हाथ), ३.४५ मीटर (लगभग आठ हाथ), ३.८० मीटर (लगभग नौ हाथ) तथा ४.९० मीटर (लगभग ग्यारह हाथ) है। बादलगढ़ के कुओं का व्यास ५.७० मीटर (लगभग तेरह हाथ), ५.८० मीटर (लगभग तेरह हाथ) है। इस प्रकार अपराजितपृच्छा और वास्तुराजवल्लभ के वर्गीकरण के आधार पर ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सात हाथ व्यास वाले तीन कूपों को 'दुन्दुभी', आठ हाथ वाले कूप को 'मनोहर' नौ हाथ व्यास वाले कूप को 'चूणामणि', ग्यारह हाथ व्यास वाले दो कूपों को 'जय' तथा तेरह हाथ व्यास वाले दो कूपों को 'शंकर' कोटि में रखा जा सकता है।

तड़ाग

अपराजितपृच्छा तथा वास्तुराजवल्लभ में सर, महासर, भद्रक, सुभद्रक, परिघ तथा युग्म परिघ नामक छः प्रकार के तड़ाग बतलाये गये हैं।[१०१] इनमें जिसका स्वरूप अर्धचन्द्राकार हो उसे 'सर', जो वृत्ताकार हो उसे 'महासर', जिसका आकार चतुष्कोण हो उसे 'भद्रक' और जो भद्र से युक्त हो उसे 'सुभद्र' कहते हैं।[१०२] परिघ और युग्म परिघ नामक तड़ागों में एक या दो वक स्थल (पक्षियों के बैठने का स्थान) होना चाहिए।[१०३]

भारत में तड़ागों के निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन है। हड़प्पा सभ्यता के प्रमुख स्थल मोहन जोदड़ों से १८० फुट चौड़े एक तड़ाग के अवशेष प्रकाश में आये हैं।[१०४] इसके मध्य में ३९ फुट x २३ फुट x ८ फुट आकार की जलद्रोणि निर्मित की गयी है। तालाब में उतरने के लिए आमने-सामने सीढ़ियाँ बनी हैं। समीप में ही महाकुण्ड में स्वच्छ जल भरने के लिए एक कुएँ की व्यवस्था की गयी है तथा एक कोने में गंदे जल को बाहर निकालने के लिए नाली बनाई गई है, जो कि बाहर की ओर एक नाले से मिल जाती है।[१०५] इस प्रकार हड़प्पा सभ्यता के इस सरोवर का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है, वह अपने आप में पर्याप्त विकसित है। हाल में हुए श्रृंगवेरपुर (इलाहाबाद, उ० प्र०) के उत्खनन से प्रथम श० ई० में निर्मित एक विशाल तालाब के अवशेष भी प्रकाश में आये हैं।[१०६] यह लगभग १०० मीटर लम्बा, ३० मीटर चौड़ा तथा ६ मीटर गहरा है। इसे एक पतली नाली द्वारा गंगा नदी से जोड़ा गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि इसमें जल की आपूर्ति गंगा नदी से की जाती थी। गंगा का जल पहले एक छोटे से जलाशय में एकत्र किया जाता था, ताकि

---

१०१. अपराजितपृच्छा, ७४, ३२-३४; वास्तुराज०, अ०४, श्लो० २९

१०२. वही

१०३. वही

१०४. अग्रवाल, वा० श०, भारतीय कला, पृ० २०

१०५. अग्रवाल, वा० श०, भारतीय कला, पृ० २०

१०६. नार्दर्न इण्डिया पत्रिका, लखनऊ (१६-४-८०), पृ० १-२; व टाइम्स आफ इण्डिया, दिल्ली, १७.४.८०, पृ० ७

उसकी गन्दगी जलाशय की तलहटी में बैठ जाय। तदोपरान्त स्वच्छ जल नाली द्वारा तड़ाग में पहुँचता था।[१०७]

ग्वालियर दुर्ग में अनेक तालाब निर्मित किए गये हैं जो एक शिरे से दूसरे शिरे तक विभिन्न स्थलों पर स्थित हैं। ये तालाब बारहो महीने जल से भरे रहते हैं और अधिकांशतः गर्मी के दिनों में भी नहीं सूखते। सामान्यतः तालाबों का निर्माण दुर्ग पर स्थित विशाल भवनों को बनाने के लिये पहाड़ों को काटकर पत्थर निकालते समय स्वतः होता गया। कालान्तर में उनकी दीवारों को पत्थरों से जोड़कर पक्का एवं सुन्दर बना दिया गया तथा उनमें जलद्रोणि तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बना दी गयीं। दुर्ग पर स्थित प्रमुख सरोवरों का विवरण निम्नलिखित है :-

१. सूरजकुण्ड या सूर्यकुण्ड

यह तड़ाग पहाड़ी के मध्य भाग में स्थित है। इसकी लम्बाई ९४ मीटर तथा चौड़ाई ८५.५५ मीटर है। तलहटी समतल न होने के कारण यह कहीं पर अधिक गहरा तथा कहीं पर उथला है। दक्षिण की ओर इसकी गहराई सबसे अधिक लगभग ७.८० मी० है। पूर्व तथा पश्चिम की ओर जल तक पहुँचने के लिए सोपान हैं। तालाब के मध्य में एक छोटा मन्दिर है, जिसके गर्भगृह में शिवलिंग स्थापित है। मन्दिर तक पहुँचने के लिए पूर्वी सोपानों से स्तम्भों पर आधारित एक पुल का निर्माण किया गया है।

परम्परा में इस तड़ाग को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है और धार्मिक दृष्टि से भी इसका बहुत अधिक महत्व है। किंवदन्ती है कि यहाँ पर तपस्या रत ग्वालिया नामक एक सिद्ध सन्त ने एक बार 'सूरज कुण्ड' का जल कुन्तलपुरी (कुटवार) के राजा सूरजसेन को पीने के लिए दिया था जिससे उसका कुष्टरोग अच्छा हो गया। इस पर संत के आदेश से राजा ने इस कुण्ड का जीर्णोद्धार करवाया। राजा के नाम पर इस कुण्ड का नाम 'सूरजकुण्ड' या 'सूर्यकुण्ड' पड़ गया।[१०८]

मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से पता चलता है कि गोप नामक पर्वत पर मातृचेट ने एक सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।[१०९] यह सूर्य मन्दिर 'सूरजकुण्ड' के पश्चिमी तट पर ही कहीं स्थित था।[११०] सूर्य मन्दिर का निर्माता, सूरजकुण्ड का जीर्णोद्धार करता तथा ग्वालियर दुर्ग का संस्थापक एक व्यक्ति सूरजसेन को मानकर कनिंघम इसकी तिथि वि० सं० ३३२ (२७५ ई०) निर्धारित करते हैं।[१११] किन्तु उनका यह मत उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि मिहिरकुल के अभिलेख से स्पष्ट है कि सूर्य मन्दिर का निर्माता 'सूरजसेन' नहीं अपितु 'मातृचेट' था। यह मन्दिर हूण शासक मिहिरकुल के शासनकाल के १५वें वर्ष में निर्मित किया गया था।[११२] मिहिरकुल के शासन का प्रारम्भ ५१५ ई० में निर्धारित किया जाता है।[११३] अतः सूर्य मन्दिर की तिथि ५३० ई० ठहरती है। अब यदि

---

१०७. वही
१०८. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३७३
१०९. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्क्रिप्सन्स, भाग १, पृ० ४००
११०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३५३
१११. वही, पृ० ३७१-३७२
११२. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, भाग १, पृ० ४००
११३. ठाकुर, उपेन्द्र, द हूण इन इण्डिया, पृ० १३४

सूर्य मन्दिर और सूरजकुण्ड को साथ-साथ निर्मित हुआ मान लिया जाय तो सूरजकुण्ड का समय ५३० ई० के आस-पास निर्धारित किया जा सकता है। इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि सूरजकुण्ड और सूर्य मन्दिर का निर्माण साथ-साथ हुआ हो क्योंकि मन्दिर को बनाने के लिए जब समीपस्थ पहाड़ी को काटकर पत्थर निकाले गये होंगे, तब उस स्थल पर एक कुण्ड सा बन गया होगा। कालान्तर में उसी का जीर्णोद्धार कर 'सूर्य मन्दिर' के नाम पर कुण्ड का नाम भी 'सूर्यकुण्ड' रख दिया गया होगा।

२. त्रिकोनिया ताल

यह तालाब पहाड़ी के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर स्थित है। इसका आकार त्रिकोणीय होने के कारण इसे 'त्रिकोनिया ताल' कहते हैं। इस तालाब की पूर्वी भुजा की माप २३ मी०, पश्चिमी भुजा की माप ९.३० मी० तथा दक्षिणी अर्धचन्द्राकार भुजा की माप ३३ मी० है। तालाब की गहराई ७ मी० है। इसके दक्षिणी सिरे पर तलहटी तक सोपान बनाये गये हैं।

पहाड़ी के जिस भाग में यह तड़ाग स्थित है, उसे 'जयन्ती थोर' कहते हैं। यहाँ पर एक प्राचीन मन्दिर भी था। ऐसा कहा जाता है कि इसका निर्माण कछवाह वंश के प्रारम्भिक राजा जयन्तपाल ने करवाया था।[११४] वर्तमान समय में यहाँ पर स्तम्भों पर आधारित एक मेहराब है, जिसके भीतरी भाग में दो अभिलेख अंकित हैं। एक में तोमर शासक 'वीरमदेव' का नाम है तथा दूसरे में वि० सं० १४६५ (१४०८ ई०) तिथि उल्लिखित है।[११५] इस प्रकार यह मेहराब तोमर शासक वीरमदेव (१४००-१४१९) के शासनकाल में निर्मित की गई प्रतीत होती है, किन्तु परम्परा के अनुसार त्रिकोनियाताल को अपेक्षाकृत इससे अधिक प्रचीन माना जा सकता है।

३. जोहरा ताल

यह सरोवर भी किले के उत्तरी भाग में शाहजहाँ महल के सामने स्थित है। इसकी लम्बाई ५८.५० मी०, चौड़ाई ५५.५० मीटर तथा गहराई ६.१० मी० है। तालाब में कुल तीन जलद्रोणियाँ निर्मित की गयी हैं, जिनकी ऊपर से गहराई क्रमशः २.७० मी०, १.७० मी०, और १.७० मी० है। इसकी दक्षिणी दिशा में बीचो-बीच एक चबूतरा बनाकर उसके पूर्व में तालाब की तलहटी तक सोपान बनाये गये हैं। इसी प्रकार उत्तरी-पूर्वी कोने पर भी प्रथम जलद्रोणि तक छोटी-छोटी सीढ़ियाँ बनी हैं। तालाब की दीवार के ऊपरी भाग में चारों ओर १८ प्रणालियों की व्यवस्था है, जिनसे वर्षा का जल एकत्र किया जा सकता है। इस तालाब का जीर्णोद्धार दुर्ग के गवर्नर मुतैमिद खाँ द्वारा लखौरी ईंट, चूने और शुर्खी से करवाया गया था।[११६] दीवारों की चिनाई इतने अच्छे ढंग से की गई थी कि तालाब का एक बूँद पानी भी बाहर नहीं रिस सकता था।[११७] इसकी ईंटों की दीवार तो आज भी अच्छी स्थित में हैं, किन्तु उसके ऊपर किया गया मशाले का लेप नष्ट हो गया है।

---

११४. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४२-३४३

११५. वही

११६. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४३

११७. वही

तालाब के 'जोहर' या 'जौहर' नाम के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि प्रतिहार शासक मलयवर्मन देव के शासनकाल में जब इल्तुतमिश (१२३२ ई०) ने इस दुर्ग पर आक्रमण किया तो वहाँ की रानियों और राज परिवार की स्त्रियों ने इसी तालाब के समीप अग्नि में कूदकर 'जौहरव्रत' कर लिया था।[११८] इसी कारण यह तालाब 'जौहरताल' नाम से प्रसिद्ध है।

४. शाहजहाँ ताल

शाहजहाँ महल के प्रांगण में एक तालाब स्थित है। इसका निर्माण बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को जोड़कर किया गया है। इसकी लम्बाई ३१.२० मी०, चौड़ाई २७.३० मी० तथा गहराई १५ मी० है। ४.६० मी० गहराई पर तालाब की जलद्रोणि बनाई गई है, जिसकी लम्बाई २० मी०, चौड़ाई १५.६५ मी० तथा गहराई १० मी० है। जलद्रोणि तक पहुँचने के लिए पूर्व और पश्चिम में सोपान बनाये गये हैं। इसी प्रकार उत्तरी-पश्चिमी कोने पर भी जल की सतह तक पहुँचने के लिए जलद्रोणि में सोपान बने हैं। दक्षिणी दिशा में ३.७५ x ४.०० मी० का एक स्नानागार या कक्ष निर्मित किया गया है, जो सम्भवतः वस्त्रादि बदलने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा होगा। इस तालाब का निर्माण शाहजहाँ महल के साथ ही लगभग सत्रहवीं शताब्दी में किया गया प्रतीत होता है।

५. मानसरोवर

यह सरोवर दुर्ग के पश्चिमी भाग में उरवाही द्वार के निकट स्थित है। ऐसा कहा जाता है कि इसका निर्माण तोमर राजा मानसिंह (१४८६-१५१६ ई०) द्वारा करवाया गया था।[११९] सरोवर का आकार बेडौल है और देखने से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इसका निर्माण योजनाबद्ध ढंग से किया गया है। सम्भवतः भवनों के निर्माण के लिए इस स्थल से पाषाण-खण्ड निकाले गये हैं जिसके कारण यह जलाशय बन गया है। बहुत सम्भव है कि इस तालाब से राजा मानसिंह के भवनों के लिए ही पत्थर निकाले गये हों, जिसके कारण परम्परा में इसे मानसिंह से जोड़ दिया गया है। पश्चिम की ओर इसकी गहराई लगभग ६ मी० है।

६. रानीताल और चेरीताल

यह दोनों तड़ाग पहाड़ी के उत्तरी-पश्चिमी कोने पर स्थित हैं तथा एक दूसरे के अत्यधिक निकट हैं। रानीताल की लम्बाई ३४.५० मी०, चौड़ाई २०.५० मी० तथा गहराई ९ मी० है। उत्तरी दिशा में चौकोर स्तम्भों पर आधारित द्विभौमिक बरामदा है। उत्तरी-पश्चिमी दिशा में जल तक पहुँचने के लिए सोपान बने हैं। जलद्रोणि प्राकृतिक चट्टान को काट कर बनाई गयी है। उसके ऊपरी भाग को पाषाण-खण्डों से जोड़ कर सुदृढ़ किया गया है। सात स्तम्भों पर आधारित निचला बरामदा सामान्यतः जल में डूबा रहता है।

चेरीताल की लम्बाई ३६ मी०, चौड़ाई ३६ मी० तथा गहराई ७ मी० है। इसके पूर्व में छज्जा से युक्त एक प्रवेशद्वार है। उत्तरी तथा दक्षिणी कोनों पर तालाब के जल तक पहुँचने के लिए सोपान निर्मित किए गये हैं।

---

११८. द्विवदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ८-११

११९. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २ पृ० ३४३-३४४

रानीताल और चेरीताल के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार चेरीताल सदैव सूखा पड़ा रहता था। अनेक उपाय करने के बाद भी उसमें पानी नहीं ठहरा तो एक भूतलीय नाली काटकर उसे रानीताल से जोड़ दिया गया, जिससे दोनों तालाबों में जल की सतह बराबर रहने लगी।[१२०] किन्तु वर्तमान समय में दोनों तालाबों का निरीक्षण करने पर ऐसी किसी भी भूमिगत नाली के अवशेष स्पष्ट नहीं हो सके। इन सरोवरों के निर्माण का श्रेय राजा मानसिंह (१४८६-१५१६ ई०) की रानी और उसकी दासी (चेरी) को दिया जाता है।[१२१]

७. गंगोलाताल

किले के लगभग मध्य भाग में तेली तन्दिर के सामने तथा बालकिला के दक्षिण में गंगोलाताल स्थित है। आजकल यह गुरुद्वारे के घेरे में आ गया है। इसका आकार लगभग २०० मी० लम्बा और २०० मी० चौड़ा है। तलहटी ऊँची-नीची होने के कारण यह कहीं पर अधिक गहरा है तथा कहीं पर कम। इस तालाब से कुछ प्रतिहार राजाओं तथा तोमर शासकों में से वीरसिंह देव, उद्धरणदेव और मानसिंह के अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[१२२] इन अभिलेखों में तत्कालीन राजाओं के शासनकाल की किसी विशिष्ट घटना का उल्लेख हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः जब किसी राजा के शासनकाल में कोई विशिष्ट घटना घटती थी, तब इस तड़ाग की सफाई करवाई जाती थी और उसमें उस घटना का उल्लेख करते हुए लेख अंकित करा दिया जाता था।[१२३] वर्तमान समय में यह अभिलेख तालाब के गहरे जल में डूबे हुए हैं और उन्हें प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं है। चूँकि तालाब में कतपिय प्रतिहार वंशी शासकों के अभिलेख भी अंकित हैं, अतः इसका निर्माण लगभग १०वीं शताब्दी के पूर्व में ही हो गया होगा। यह तालाब तेली के मन्दिर के सामने स्थित है। बहुत सम्भव है कि तेली मन्दिर के निर्माण के लिए पाषाण-खण्ड इसी तालाब से निकाले गये हों। इस आधार पर इसे तेली मन्दिर का समकालीन (लगभग आठवीं शताब्दी) माना जा सकता है।

८. कटोराताल

यह सरोवर गंगोलाताल के पश्चिम में उरवाघाटी की प्राचीर के निकट स्थित है। इसका आकार कटोरे जैसा गोल होने के कारण इसे कटोराताल कहते हैं। इसका व्यास ५० मीटर और गहराई ७.५ मी० है। तालाब के मध्य में आठ स्तम्भों पर आधारित द्विभौमिक बुर्जी बनी है, जिसका शिखर गुम्बदाकार है। पूर्वी दिशा में तालाब की तलहटी तक पहुँचने के लिए दोहरे सोपान बने हैं। ऊपरी भाग में वर्षा का जल एकत्र करने हेतु छोटी-छोटी प्रणालियाँ निर्मित की गयी हैं। तालाब की बुर्जी की स्थापत्यकला तोमरकालीन प्रतीत होती है। इस आधार पर कटोराताल को लगभग सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में निर्मित माना जा सकता है।

---

१२०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४३-३४४

१२१. वही

१२२. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३४८; कटारे, सन्तलाल, टू गंगोलाताल इन्स्क्रिप्सन्स आफ द किंग्स आफ ग्वालियर, ज० ओ० इ० बड़ौदा, भाग २३, अंक ४, जून १९७४, पृ० ३५०-५१

१२३. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३४८

९. एक खम्भाताल

यह कटोराताल के उत्तर-पश्चिम में दुर्ग की पश्चिमी दीवार के निकट स्थित है। इसके मध्य में एक पाषाण स्तम्भ होने के कारण इसे 'एक खम्भाताल' कहते हैं। तालाब की लम्बाई ४३ मी०, चौड़ाई २५ मी० और गहराई ८.५० मी० है। इसका पूर्वी कोना दक्षिण की ओर लगभग ५ मी० बाहर निकला हुआ है। दक्षिणी-पूर्वी कोने पर जल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गयीं हैं। तालाब का निर्माण मूलतः पत्थर काटने से हुआ है। कालान्तर में जलद्रोणि के ऊपर पाषाण-खण्डों को जोड़कर इसे सुदृढ़ किया गया है। बीच के एकाश्म स्तम्भ पर एक छोटी बुर्जी बनाई गयी है। इस तालाब के निर्माण का समय निश्चित कर पाना कठिन है।

१०. धोबीताल

यह पहाड़ी के दक्षिणी भाग में रानीताल और चेरीताल के निकट स्थित है। इसकी लम्बाई ३० मी०, चौड़ाई ३० मी० तथा गहराई लगभग ४.५० मी० है। इसके उत्तरी तथा दक्षिणी कोने पर सीढ़ियाँ निर्मित हैं। नीचे का भाग पत्थर काटकर प्राकृतिक रूप से बनाया गया है तथा ऊपरी भाग को पाषाण खण्डों से जोड़कर सुदृढ़ किया गया है।

११. नूरीसागर

यह पहाड़ी के पूर्वी भाग में गणेशपौर के निकट स्थित है। इसकी लम्बाई १९. ५० मी०, चौड़ाई १२ मी० तथा गहराई ५ मी० है। इसके उत्तरी-पूर्वी कोने पर सीढ़ियां बनाई गयी हैं तथा दीवारों पर प्लास्टर किया गया है। १६८७ ई० में दुर्ग के गवर्नर मुतैमिद खाँ द्वारा इसका जीर्णोद्धार करवाया गया था। चूँकि उसकी उपाधि 'नूर-उद्-दीन' थी, अतः इसे 'नूरी सागर' कहा जाने लगा।[१२४]

१२. सास-बहू ताल

इसका उल्लेख कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट में किया है। उनके अनुसार यह सास-बहू मन्दिर के समीप स्थित था।[१२५] इसकी लम्बाई २५० फुट, चौड़ाई २५० फुट तथा गहराई १५ से १८ फुट बतलायी गयी है।[१२६] उस समय यह सामान्यतः सूखा पड़ा रहता था। इसके मध्य में स्तम्भों की एक पंक्ति भी थी।[१२७] वर्तमान समय में सास-बहू मन्दिर के आस-पास इस प्रकार का कोई भी तालाब उतलब्ध नहीं है।

ग्वालियर दुर्ग के उपर्युक्त अंगों एवं उपांगों का निर्माण अलग-अलग समय में किया गया। उपलब्ध साक्ष्यों से यह निश्चय पूर्वक स्पष्ट नहीं हो पाता कि 'गोप' या गोपाद्रि' नामक इस पहाड़ी पर सबसे पहले दुर्ग की स्थापना कब और किसके द्वारा की गयी, परन्तु इस सम्बन्ध में जो साक्ष्य हमें प्राप्त हुए हैं, उनसे पता चलता है कि यह दुर्ग छठीं शताब्दी ई० से पहले का नहीं है।

१२४.कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २ पृ० ३४५

१२५. वही, पृ० ३४३

१२६. वही

१२७. वही

दुर्ग पर प्राचीनतम पुरातात्विक प्रमाण एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जो हूण शासक मिहिरकुल के शासनकाल के १५वें वर्ष का है। इसमें पर्वत (दुर्ग) के निवासी मातृकुल के पौत्र, मात्रदास के पुत्र मात्रचेट नामक व्यक्ति द्वारा नाना धातुओं से सुशोभित 'गोप' नामक रमणीक पर्वत पर (अपने) माता-पिता, अपने राजा...... तथा पर्वतों में श्रेष्ठ इस पर्वत पर रहने वालों की पुण्याभिवृद्धि के लिए सर्वोत्तम मन्दिरों में प्रमुख सूर्य के पाषाण मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है।[१२८] अभिलेख में यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दुर्ग' शब्द नहीं है, किन्तु परोक्ष रूप से यहां दुर्ग होने का अनुमान लगाया जा सकता है। अभिलेख की सभी पंक्तियों के प्रारम्भिक तीन या चार अक्षर नष्ट हो गये हैं।[१२९] पाँचवीं और छठीं पंक्ति में उल्लिखित 'मातृचेट : पर्व (त)—वस्तव्यः' के खण्डित तीनों अक्षरों के स्थान पर सम्भव है कि 'दुर्गानु' अंकित रहा हो। ऐसी स्थिति में, अभिलेख का पाठ 'मातृचेटः पर्वत दुर्गानुवस्तव्यः' (पर्वत दुर्ग का निवासी मातृचेट) किया जा सकता है। इस प्रकार संभव है कि इस अभिलेख में पहले 'दुर्ग' शब्द का उल्लेख रहा हो, जो कालान्तर में नष्ट हो गया हो। इसके अतिरिक्त अभिलेख से इस बात का भी संकेत मिलता है कि 'गोप' नामक सुरम्य पर्वत पर मातृचेट के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी निवास करते थे, जिनकी पुण्याभिवृद्धि के लिए सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया गया था।[१३०] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह लोग संभवतः पहाड़ी पर सुरक्षा की दृष्टि से ही निवास कर रहे होंगे। मिहिरकुल के इसी अभिलेख में एक अन्य स्थान पर सूर्य मन्दिर को (गोप) पर्वत के रमणीक शिखर पर स्थिति अन्य मन्दिरों में सर्वोत्तम कहा गया है।[१३१] इससे स्पष्ट है कि हूण शासक मिहिरकुल के शासनकाल (छठीं शताब्दी ई०) तक ग्वालियर की इस पहाड़ी पर अनेकों पाषाण मन्दिर निर्मित किये जा चुके थे, जिनमें सूर्य मंदिर सर्वश्रेष्ठ था। साथ ही यह संभावना भी व्यक्त की जा सकती है कि उस समय तक इस पहाड़ी का उपयोग सुरक्षा के लिए भी किया जाने लगा था। अन्यथा १०० मी० ऊँची दुर्गम पहाड़ी पर किन्हीं अन्य कारणों से निवास करने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता।

ग्वालियर दुर्ग की स्थापना के संबंध में प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार दुर्ग की स्थापना कुन्तलपुर या कुतवार के राजा सूर्यसेन नामक एक कछवाहा सामन्त द्वारा की गई थी।[१३२] किम्वदन्ती के आधार पर कनिंघम का मत है कि सूर्य मन्दिर का निर्माता, सूरजकुण्ड का उत्खनन कर्ता तथा ग्वालियर दुर्ग का संस्थापक एक ही व्यक्ति 'सूरजसेन' को होना चाहिए।[१३३] वे बुद्धगुप्त के एरण स्तंभ लेख (वर्ष १६५) को शक संवत में रखकर तोरमाण के पुत्र पशुपति (मिहिरकुल) की तिथि २६१ ई० तथा दुर्ग की स्थापना की तिथि २७५ ई० (वि. सं० ३३२) निर्धारित करते हैं।[१३४] किन्तु कनिंघम की यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि बुद्धगुप्त का एरण स्तंभ लेख शक सम्वत् में न होकर

---

१२८. सरकार, डी० सी०-सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, भाग १, पृ० ४००.

१२९. वही

१३०. वही

१३१. सरकार, डी० सी०-सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, भाग १, पृ० ४००.

१३२. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३७३.

१३३. वही, पृ० ३७१-३७२

१३४. वही, पृ० ३७२.

गुप्त सम्वत् में है। उपेन्द्र ठाकुर मिहिरकुल के शासन का प्रारम्भ ५१५ ई० मानकर अभिलेख की तिथि ५३० ई० निर्धारित करते हैं।[१३५] यदि सूर्य मन्दिर के निर्माण तथा सूरजकुण्ड के उत्खनन को एक ही समय की घटना माना जाये और उसका तादात्म्य किंवदन्ती में वर्णित सूर्यसेन से स्थापित किया जाय, तो ग्वालियर दुर्ग की स्थापना का काल भी ५३० ई० माना जा सकता है। किन्तु किम्वदन्ती का उल्लेख १६वीं शताब्दी के दरबारी कवि खड्गराय ने किया है। अतः अन्य पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में उसे विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। मातृचेट द्वारा निर्मित सूर्य मन्दिर और उसके परिणामस्वरूप बने सूर्यकुण्ड ने ही सम्भवतः कालान्तर में सूर्यवंशी राजा सूर्यसेन की कल्पना को जन्म दिया होगा।

हूणों के पश्चात लगभग एक शताब्दी तक ग्वालियर दुर्ग पर अन्य किसी प्रकार के निर्माण के संकेत नहीं मिलते। बप्पभट्टिसूरि-चरित तथा प्रबन्धकोश से ज्ञात होता है कि यशोवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी यशोदेवी से उत्पन्न पुत्र आम ने ग्वालियर में अपना दरबार किया था।[१३६] उसने बप्पभट्टिसूरि के प्रभाव में आकर अनेक जैन मूर्तियों का निर्माण करवाया, जिसमें ग्वालियर में निर्मित महावीर की एक विशाल प्रतिमा भी सम्मिलित है, जिसकी ऊँचाई २७ हाथ बतलाई गई है।[१३७] श्याम मनोहर मिश्र का मत है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् आम ने अपनी पैतृक राजधानी कन्नौज को छोड़कर ग्वालियर में स्थापित किया था।[१३८] अतः स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी में ग्वालियर की स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी। अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए आम ने वहाँ पर स्थित 'गोप' पर्वत की उपेक्षा न की होगी और वाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विद्रोहों से बचने के लिए उसने इस विस्तृत एवं विशाल पर्वतीय क्षेत्र का दुर्गीकरण अवश्य किया होगा। इस प्रकार परोक्ष रूप से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि संभवतः आठवीं शताब्दी में 'गोप' नामक पहाड़ी का उपयोग दुर्ग के रूप में अवश्य किया गया होगा।

दुर्ग पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर से गुर्जर-प्रतिहार शासक मिहिर भोज के शासनकाल के दो अभिलेख मिले हैं। वि० सं० ९३२ (८७५ ई०) के एक अभिलेख में वैल्लभट को ग्वालियर का 'मर्यादा धुर्य' (अन्तपाल) तथा उसके पुत्र अल्ल को गोपगिरि (ग्वालियर) का संरक्षक बतलाया गया है।[१३९] वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) के दूसरे अभिलेख में अल्ल को स्पष्ट रूप से 'गोपाद्रि' का 'कोट्टपाल' कहा गया है।[१४०] इसी अभिलेख में भोजदेव की 'प्रतोली' (प्रवेश द्वार) का भी उल्लेख मिलता है।[१४१] इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि गुर्जर-प्रतिहार शासकों के शासनकाल (९वीं शताब्दी) में ग्वालियर की पहाड़ी पर एक सुदृढ़ दुर्ग विद्यमान था। इस समय तक यह दुर्ग सामरिक दृष्टि से

---

१३५. ठाकुर, डॉ० उपेन्द्र, द हूण इन इण्डिया, पृ० १३४.

१३६. पण्डित एस० पी०, गौडवाहो की भूमिका, पृ० १३९, १४५, राजशेखर प्रबन्धकोश, पृ० २७-२८.

१३७. मजूमदार, आर० सी० तथा पुसालकर, ए० डी०, द एज आफ इम्पीरियल कनौज, बम्बई, १९५५, पृ० २८९-२९०.

१३८. मिश्र, डॉ० श्याम मनोहर, यशोवर्मन आफ कन्नौज, पृ० १२०.

१३९. ए० इ०, जिल्द १, पृ० १५६.

१४०. ए० इ०, जिल्द १, पृ० १५९

१४१. वही, "श्री भोजदेव प्रतोल्यावतारे"

इतना अधिक महत्वपूर्ण हो चुका था कि उसकी रक्षा के लिए वहाँ पर दुर्ग रक्षकों के साथ-साथ 'मर्यादा धुर्य' तथा 'कोट्टपाल' जैसे उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करना भी आवश्यक हो गया था। भोजदेव की प्रतोली (हथियापौर) का निर्माण दुर्ग को प्राचीर से घेरने के बाद ही किया गया होगा।

गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के पश्चात दुर्ग पर कच्छपघातों का आधिपत्य स्थापित हुआ। पूर्व की ओर स्थित भैरोंद्वार तथा लक्ष्मण द्वार के निर्माण का श्रेय कच्छपघात शासकों को दिया जाता है।[१४२] अतः हथियापौर से भैरों द्वार तक की प्राचीरों का निर्माण भी कच्छपघातों के शासनकाल में किया गया होगा। १२३२ ई० में इल्तुतमिश ने ग्वालियर के दुर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया[१४३] और उरवाघाटी के मुहाने पर २०० मी० लम्बी प्राचीर का निर्माण करवाया। इसके पश्चात लगभग एक शताब्दी तक इस पर मुसलमान शासन करते रहे। १३९४ ई० में ऐसाह के राजा वीर सिंह देव तोमर ने ग्वालियर दुर्ग पर अधिकार कर लिया।[१४४] तोमरों ने लगभग एक शताब्दी तक इस पर कुशलतापूर्वक शासन किया। इस काल में दुर्ग को सुदृढ़ बनाने के लिए अनेक निर्माण कार्य हुए। तोमर राजा मानसिंह के शासनकाल (१४७९-१५१६ ई०) में बादलगढ़ के भवनों तथा गुजरी महल आदि की सुरक्षा के लिए गणेशपौर से लेकर आलमगीरी गेट तक एक सुरक्षा प्राचीर बनवायी गयी। इसी काल में मान-मन्दिर के साथ-साथ हथियापौर का भी जीर्णोद्धार कर भव्यता प्रदान की गयी और बादल गढ़पौर (हिण्डोलापौर) तथा गुजरी महल का निर्माण किया गया। धोन्धापौर और घर्गर्जपौर के अधिकांश निर्माण कार्य भी तोमरों के शासनकाल में ही किये गये। इसके अतिरिक्त अधिकांश जलाशयों का निर्माण भी तोमरों के शासनकाल में किया गया प्रतीत होता है। इस प्रकार यद्यपि ग्वालियर दुर्ग के अस्तित्व के संकेत हमें छठी शताब्दी ई० से ही मिलने लगते हैं, किन्तु इसके वर्तमान स्वरूप का अधिकांश भाग तोमरों के शासनकाल में ही निर्मित किया गया।

१४२. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३३४, ३३६.

१४३. इलियट एण्ड डाउसन, जि० २, पृ० २८८.

१४४. कटारे, एस० एल०, टू गंगोलाताल इन्स्क्रिप्सन्स आफ द तोमर किंग्स आफ ग्वालियर, जे० ओ० इ० बड़ौदा, भाग २३, नं० ४ जून १९७४ पृ० ३५०-३५१.

3

प्रतिहार शैली के मन्दिर

मध्यदेश में मन्दिर निर्माण-कला के प्रत्यक्ष प्रमाण हमें लगभग पहली-दूसरी शताब्दी ई० पू० में बेसनगर, सांची, मथुरा आदि स्थलों से मिलने लगते हैं परन्तु विभिन्न कारणों से यह अब नष्ट हो गये हैं और इनके अवशेष मात्रही शेष बचे हैं।[१] गुप्तकाल में इस क्षेत्र में पाषाण और इष्टिका दोनों का प्रयोग करके मन्दिरों का निर्माण बहुत व्यापक रूप में किया गया, जिसके प्रमाण हमें साँची, तिगवा, एरण, नचना-कुठारा, भूमरा, देवगढ़, भीतरगाँव और बोधगया आदि स्थलों में देखने को मिलते हैं।[२]

गुप्तकालीन मन्दिरों को उनकी योजना के आधार पर तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है। पहले समूह के अन्तर्गत साँची का मन्दिर नं० १७, तिगवा (जिला जबलपुर) का गुप्त मन्दिर तथा एरण (जिला सागर) के मन्दिर आते हैं। इन मन्दिरों की रचना में सादगी है। इनमें एक गर्भगृह तथा उससे जुड़ा हुआ साधारण मण्डप बनाया गया है। छतें सपाट, गर्भगृह चौकोर अथवा आयताकार हैं तथा स्तम्भों का मध्य भाग अधिक अलंकृत है। ये मन्दिर अपनी भू योजना तथा रूप-सज्जा की दृष्टि से उदयगिरि की गुफाओं (पाँचवीं शताब्दी ई०) के बहुत निकट हैं। इस आधार पर इन्हें पाँचवी शती ई० में रखा जा सकता है। इस प्रकार जहाँ तक मन्दिर स्थापत्य कला के विकास का प्रश्न है, यह समूह उसकी अत्यन्त शैशवावस्था को ही प्रदर्शित करता है।

दूसरे समूह के मन्दिरों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके गर्भगृह के चारों ओर ढके हुए प्रदक्षिणापथ का निर्माण किया गया है। इस समूह के अन्तर्गत नचना (मध्य प्रदेश के पन्ना जिले में) का पार्वती मन्दिर, भूमरा (मध्य प्रदेश में सतना जिला) का शिव मन्दिर तथा बेग्राम (दीनाजपुर जिला, बंगला देश) का ईंटों का भग्न मन्दिर आता है।

तीसरे समूह के मन्दिरों में उनके चौकोर गर्भगृह के ऊपर शिखर का निर्माण किया गया है। इनमें देवगढ़ (जिला ललितपुर) का पाषाण निर्मित दशावतार मन्दिर, भीतरगांव (जिला कानपुर) तथा बोधगया (गया, बिहार) का ईंटों का बना मन्दिर प्रमुख हैं। अधिकतर विद्वान इन्हें छठीं शताब्दी ई० में निर्मित मानते हैं।[३] गुप्तकाल के पश्चात् छठीं - शताब्दी का युग मन्दिरों की स्थापत्य-कला के विकास का संक्रमण काल था। इस समय के मन्दिरों में जहाँ एक ओर गुप्तकालीन परम्परागत शैली के अनेक तत्वों को अपनाया गया है, वहीं उनमें कतिपय नवीन विशेषताओं का भी समावेश हुआ है।

---

१. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, भाग १, पृ० ८८; बनर्जी, जे० एन०, द टेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ९२; ए० इ०, भाग २२, पृ० १९८-२०४; सरकार, डी० सी० - सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, भाग १, पृ० १२२.

२. देव, कृष्ण, टेम्पुल्स आफ नार्थ इण्डिया, पृ० ७-१४.

३. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग १०, पृ० ११०; बनर्जी, आर० डी०, द एज़ आफ इम्पीरियल गुप्ताज़, पृ० १४७

शैली की दृष्टि से इन मन्दिरों को न तो गुप्तकालीन मन्दिरों की कोटि में रखा जा सकता है और न ही इन्हें आठवीं-नवीं शताब्दी में निर्मित प्रतिहार शैली के मन्दिरों में सम्मिलित किया जा सकता है। वस्तुतः यह समय देवालयों के निर्माण का प्रायोगिक काल था, जिसमें सपाट छत वाले, अविकसित रेखा शिखर वाले तथा कुछ घटते हुए तलों की कोंणाकार छत वाले आदि अनेक प्रकार के मन्दिरों का निर्माण किया जा रहा था। इन मन्दिरों का महत्व इसलिए है कि इन्हें गुप्त तथा प्रतिहार शैली के बीच एक कड़ी के रूप में रखा जा सकता है।[४] इस युग के सर्वाधिक विकसित मन्दिरों में रायपुर जिले (मध्य प्रदेश) के सिरपुर का लक्ष्मण मन्दिर उल्लेखनीय है। लगभग सातवीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में निर्मित यह मन्दिर ईंटों द्वारा बनाया गया है।[५] इसका गर्भगृह चौकोर है, जिसके ऊपर पंचरथ रेखा शिखर है। सम्पूर्ण रचना एक जगती के ऊपर स्थित है। मन्दिर के वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, कलश तथा कपोत गढ़नों से अलंकृत किया गया है। जंघा भाग रथिकाओं तथा भित्ति-स्तम्भों से सुशोभित है। मन्दिरों के शिखर को भूमि-आमलकों द्वारा चार भागों में विभक्त किया गया है। भद्र भाग को तीन बड़ी चैत्य गवाक्षों की पंक्ति, भित्ति-स्तम्भों तथा चन्द्रशालाओं से अलंकृत किया गया है। इस मन्दिर को रचना शैली के आधार पर गुप्त तथा पूर्व मध्यकालीन मन्दिरों के बीच संक्रमणकाल में रखा जा सकता है।[६]

आठवीं-नवीं शताब्दी में मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा पंजाब के क्षेत्रों में गुर्जर-प्रतिहारों का साम्राज्य स्थापित हुआ। इन शासकों ने गुप्तों के पतन के पश्चात् देश में उत्पन्न हुई राजनैतिक अस्थिरता के वातावरण को एक बार पुनः समाप्त कर दिया। इसका प्रभाव तत्कालीन सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के साथ-साथ कला के क्षेत्र में भी पड़ा। अतः उत्तर भारत में मध्य भारत और राजस्थान में इस समय अनेकों मन्दिर निर्मित किये गये, जिनकी निर्माण शैली में परस्पर समानता दृष्टिगोचर होती है। इन मन्दिरों को यद्यपि गुप्तकालीन मन्दिरों की पृष्ठभूमि में ही निर्मित किया गया है, परन्तु साथ-साथ कतिपय नवीन विशेषताओं का समावेश होने के कारण इनमें गुप्त शैली से भिन्न एक विशेष प्रकार की शैली के दर्शन होते हैं। चूंकि इनमें से अधिकांश मन्दिर गुर्जर प्रतिहारों द्वारा शासित क्षेत्र में स्थित हैं अतः कृष्णदेव ने इन्हें 'प्रतिहार शैली के मन्दिर' कहा है।[७] इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए इन मन्दिरों में कुछ स्थानीय विशेषताएँ भी पाई जाती हैं। इन मन्दिरों के वर्गाकार अथवा आयताकार गर्भगृह के ऊपर क्रमशः नागर शैली का त्रिरथ रेखा शिखर अथवा वलभी शैली का गजपृष्ठाकृति शिखर निर्मित किया गया है। गर्भगृह से मिले हुए अन्तराल (कपिली) के ऊपर प्रायः शुकनासिका सुशोभित है। इसमें सामान्यतः गर्भगृह के मूलनायक को ही स्थापित किया गया है। इन मन्दिरों की जगती प्रायः नीची है। इनके वेदीबन्ध को एक या दो भिट्टों के ऊपर खुर, कुम्भ, कलश, कपोत एवं पद्मपीठ से सजाया गया है। काष्ठकला के अनुकरण पर प्रवेश-द्वार की रचना अँग्रेजी अक्षर 'टी' (T) के आकार की बनायी गयी है और उन्हें सामान्यतः तीन

---

४. देव, कृष्ण, उत्तर भारत के मन्दिर, पृ० १४

५. देव, कृष्ण, ए कम्परेटिव स्टडी आफ द रीजनल स्टाइल्स आफ आर्कीटेक्चर इन नार्थ इण्डिया, इण्डियन म्यूजियम बुलेटिन, भाग ६ सं० १, जनवरी १९७१, पृ० २१

६. देव, कृष्ण, उत्तर भारत के मन्दिर, पृ० १२-१३

७. देव, कृष्ण, सेमीनार आन इण्डियन आर्ट हिस्ट्री, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, १९६२, पृ० ८८-८९

द्वार-शाखाओं से अलंकृत किया गया है। नागशाखा में नागों की पूछ ललाटबिम्ब पर अंकित गरुड़ के हाथों में प्रदर्शित है। उत्तरंग के ऊपर किंकिणी जाल (जंजीर और घंटिका) का अलंकरण किया गया है, जो जंघा के ऊपरी भाग में मन्दिर के चारों ओर सुशोभित होती है। मन्दिरों का जंघा भाग सामान्यतः सादा है, किन्तु भद्र भाग को छोटी-छोटी रथिकाओं से अलंकृत किया गया है। इन रथिकाओं में गणेश, कार्तिकेय, लकुलीश, पंचाग्नि तप करती पार्वती, सूर्य आदि की प्रतिमाएं स्थापित हैं। शुकनासिका की चन्द्रशाला में सामान्यतः लकुलीश का अंकन है।

इस समय तक मध्य देश में ग्वालियर तथा इसके आस-पास नरेसर, बटेसर, अमरोल आदि स्थलों पर भी प्रतिहार शैली के मन्दिरों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हो चुका था। इन्हें भी मूलतः गुप्तकालीन मन्दिरों की परम्परागत शैली के आधार पर निर्मित किया गया था, किन्तु फिर भी इनमें कुछ नवीन विशेषताएँ प्रस्फुटित हुई हैं। ये गुप्त और मध्यकालीन मन्दिरों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं जो तत्कालीन मन्दिर स्थापत्य एवं शिल्पकला के विकास को समझने में अहम् भूमिका का निर्वाह करते हैं। नरेसर और अमरोल के प्रारम्भिक मन्दिरों का ग्वालियर दुर्ग पर स्थित मन्दिरों की वास्तुकला पर विशेष प्रभाव पड़ा है। अतः यहां पर उनकी रचना शैली आदि के बारे में संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उचित प्रतीत होता है।

नरेसर (जिला - ग्वालियर, म० प्र०) के मन्दिर ग्वालियर से लगभग १८ किलोमीटर उत्तर-पूर्व मे स्थित हैं। इन्हें प्रतिहार शैली का सबसे प्राचीनतम उदाहरण माना जा सकता है। एक मन्दिर को छोड़कर प्रायः सभी मन्दिरों में वर्गाकार गर्भगृह के ऊपर नागर शैली का त्रिरथ रेखा शिखर निर्मित किया गया है। गर्भगृह के साथ कपिली (अन्तराल) को जोड़कर उसके ऊपर बड़ी चन्द्रशाला से युक्त शुकनास बनाई गयी है। देवी मन्दिर के अतिरिक्त अन्य सभी मन्दिर एक ही जगती पर स्थिति हैं।

मन्दिरों के वेदीबन्ध को सामान्यतः खुर, कुम्भ, कलश, कपोत एवं पद्मपीठ से अलंकृत किया गया है। जंघा भाग सादा है किन्तु उसके भद्रों को छोटे-छोटे उद्गमों से युक्त रथिकाबिम्बों से सजाया गया है। इन रथिकाओं में प्रायः गणेश, कार्तिकेय, लकुलीश, पार्वती तथा सूर्य को प्रदर्शित किया गया है। मन्दिरों के चारों ओर जंघा के ऊपरी भाग को किंकिणीजाल (जंजीर और घण्टा) से सुशोभित किया गया है।

इन मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों को प्राचीन काष्ठकला के अनुकरण पर गुप्तकाल की भांति ही अँग्रेजी अक्षर 'टी' (T) के आकार का निर्मित किया गया है, जिसमें उत्तरंग के दोनों सिरे द्वारशाखाओं से बाहर निकले हुए हैं। उनके नीचे के भाग में मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना का अंकन दर्शनीय है। साथ ही गुप्तकालीन मन्दिरों की पत्रलता, स्तम्भशाखा और रूपशाखा को यहाँ भी प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रवेशद्वारों में नागशाखा का अंकन प्रतिहारकालीन मन्दिरों की अपनी अलग विशेषता है। इसमें नागों की पूँछ को ललाटबिम्ब पर स्थित गरुड़ के हाथों में पकड़े हुए दिखलाया गया है। मन्दिरों के शिखर चन्द्रशाला जाल से सुसज्जित हैं।

नरेसर के मन्दिरों में एक मन्दिर का गर्भगृह आयताकार है। इसके ऊपर वलभी शैली का गजपृष्ठाकृति शिखर शोभायमान है। इसे ग्वालियर दुर्ग पर स्थित तेली मन्दिर की प्रारम्भिक अनुकृति

माना जा सकता है। इन मन्दिरों का निर्माण लगभग आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में किया गया प्रतीत होता है।

मुरैना जिले में स्थित बटेसर के मन्दिर स्थापत्यकला और रचना शैली की दृष्टि से नरेसर के मन्दिरों के समान ही है। किन्तु यहाँ के कुछ मन्दिरों की कला अपेक्षाकृत अधिक विकसित है। अमरोल (जिला ग्वालियर, म० प्र०) का रामेश्वर महादेव मन्दिर प्रतिहार शैली का एक विशिष्ट उदाहरण है। तलछन्द और ऊर्ध्वछन्द योजना में यह नरेसर और बटेसर के मन्दिरों के समान ही है, किन्तु इस मन्दिर का अलंकरण अपनी अत्यधिक उन्नत दशा को प्रदर्शित करता है। इसका गर्भगृह वर्गाकार है जिसके ऊपर नागर शैली का त्रिरथ रेखा शिखर सुशोभित है। वेदीबन्ध कुम्भ, कलश और कपोत से अलंकृत है। कपोत को सादी चन्द्रशालाओं की पंक्ति से सजाया गया है। जंघा के भद्र व कर्णो पर रथिकाएँ निर्मित की गयी हैं, जिनके शीर्ष उद्गमों से अलंकृत हैं। रथिकाओं में अग्नि, गणेश, यम, कार्तिकेय, पार्वती तथा गण देवताओं को प्रदर्शित किया गया है। जंघा के शीर्ष पर चारों ओर किंकिणिका का अलंकरण है। शिखर और जंघा को पद्म, कपोत, पुष्पों और पुनः कपोत जैसी चार गढ़नों से सज्जित वरण्डिका द्वारा विभक्त किया गया है। मन्दिर का प्रवेश-द्वार पत्रलता, नागशाखा (पुष्पशाखा), मिथुन और श्रीवृक्ष नामक चार द्वारशाखाओं से अलंकृत है। नीचे नदी देवियाँ, उत्तरंग पर उड़ते हुए मालाधर विद्याधर तथा ललाटबिम्ब पर गरुड़ का अंकन दर्शनीय हैं। शिखर के भद्र को चन्द्रशाला जाल तथा कर्णो को भूमि-आमलकों और कपोतों से सजाया गया है। मन्दिर की स्थापत्य और शिल्पकला शैली तथा उसके प्रवेश-द्वार के बायें भाग पर अंकित एक अभिलेख की तिथि के आधार पर कलामर्मज्ञ इसकी तिथि ७२५ ई० के आस-पास निर्धारित करते हैं।[८] चन्द्रशालाओं की साज-सज्जा, विभिन्न अंगों में परस्पर अनुपातिक समन्वय तथा अलंकरण की सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति जैसी इस मन्दिर में वन पड़ी है, वैसी पूर्व के अन्य किसी प्रतिहार शैली के मन्दिर में नहीं मिलती। यही कारण है कि इस शैली के सुन्दरतम उदाहरणों में से अमरोल के रामेश्वर महादेव मन्दिर का विशेष महत्व है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्वालियर क्षेत्र में लगभग आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में निर्मित नरेसर और बटेसर के मन्दिरों तक प्रतिहार शैली का स्वरूप निर्धारित हो चुका था तथा अमरोल के रामेश्वर महादेव मन्दिर के निर्माण के समय तक उसमें पर्याप्ति निखार आ चुका था। चूंकि ग्वालियर दुर्ग पर स्थित प्रतिहार शैली के मन्दिर उक्त मन्दिरों के बाद में निर्मित किये गये हैं, अतः इनके निर्माण के लिए इस क्षेत्र में प्रतिहार शैली की एक परिपक्व पृष्ठभूमि पहले से ही तैयार हो चुकी थी।

ग्वालियर दुर्ग पर लगभग छठी शताब्दी ई० के एक सूर्य मन्दिर का साक्ष्य हूण शासक मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख से मिलता है।[९] इसके अतिरिक्त सन्त ग्वालिपा के एक प्राचीन मन्दिर का उल्लेख कनिंघम ने किया है।[१०] यह संभवतः दुर्ग पर निर्मित प्राचीनतम मन्दिर रहे होंगे।

---

८. माइकल, डब्लू० एम०, आम, अमरोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, जनरल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, भग २२, नं. ३, मार्च १९७३, पृ ३५६

९. फ्लीट, जे० एफ०, का० इ० इ०, खण्ड ३, पृ० १६२.

१०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३५३.

इसके अतिरिक्त आठवीं शताब्दी में निर्मित महावीर स्वामी के एक मन्दिर का सदंर्भ प्रबन्धकोश में मिलता है।[११]

सूर्य मन्दिर

मिहिरकुल के ग्वालियर अभिलेख में कहा गया है कि उसके शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष पर्वत (दुर्ग) के निवासी मातृकुल के पौत्र तथा मात्रदास के पुत्र मातृचेट ने अपने माता-पिता तथा अपने राजा की पुण्याभिवृद्धि के लिए सर्वोत्तम मन्दिरों में प्रमुख सूर्य के पाषाण मन्दिर का निर्माण करवाया।[१२]

अभिलेख से स्पष्ट है कि ग्वालियर दुर्ग पर सूर्य का एक पाषाण मन्दिर बनवाया गया था। चूंकि मन्दिर का निर्माण हूण शासक मिहिरकुल के शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष में हुआ था और उपेन्द्र ठाकुर ने मिहिरकुल के शासन का प्रारम्भ लगभग ५१५ ई० निर्धारित किया है।[१३] अतः इस अभिलेख की तिथि लगभग ५३० ई० ठहरती है। यही समय सूर्य मन्दिर के निर्माण का भी रहा होगा। उस समय कार्तिक का महीना था और निर्मल चन्द्र प्रकाशित हो रहा था किन्तु दिन और तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

वर्तमान समय में ग्वालियर दुर्ग पर छठीं शताब्दी ई० का कोई भी सूर्य मन्दिर उपलब्ध नहीं है। सूरजकुण्ड या सूर्यकुण्ड के पश्चिमी तट पर स्वर्गीय माधवरावसिंधिया द्वारा निर्मित एक नया सूर्य मन्दिर स्थित है। प्रतिवर्ष कार्तिक मास में रविवार को यहाँ आज भी मेला लगता है तथा सूर्य उपासना एवं पूजा हेतु अपार जनसमूह एकत्र होता है। बहुत संभव है यह परम्परा उक्त प्राचीन मन्दिर से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हो और प्राचीन सूर्य मन्दिर इसी नवीन मन्दिर स्थल अथवा इसके आस-पास ही कहीं पर स्थित रहा हो।

मन्दिर संरचना एवं अलंकरण आदि के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी कह सकना कठिन है, क्योंकि वर्तमान समय में इसका प्राचीन स्वरूप पूर्णतः समाप्त हो चुका है। अभिलेख से मात्र इतना ही ज्ञात हो पाता है कि यह मन्दिर पाषाण निर्मित था और सर्वोत्तम मन्दिरों में भी प्रमुख था।

ग्वालिपा मन्दिर

पूर्व की ओर से दुर्ग पर बढ़ते समय गणेशद्वार और भैरोद्वार के मध्य गालव ऋषि की एक गुफा है।यह गुफा बहुत प्राचीन बतलाई जाती है। यहीं पर एक आधुनिक मन्दिर का निर्माण किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि इसी स्थान पर संत ग्वालिपा का एक प्राचीन मन्दिर स्थित था, जिसे दुर्ग के प्रशासक मुतैमिद खां ने १६६४ ई० में तुड़वाकर एक मस्जिद में परिवर्तित करवा दिया था।[१४]

---

११. प्रबन्धकोश, पृ० २८-२९

१२. फ्लीट, जे० एफ०, का० इ० इ०, खण्ड ३, पृ० १६२.

१३. ठाकुर, उपेन्द्र, द हुणाज इन इण्डिया, पृ० १३४.

१४. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ ३५६.

महावीर मन्दिर

प्रबन्धकोश में गोपगिरि या गोपालगिरि (ग्वालियर) को यशोवर्मन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी आम (७५५ ई०) का नगर कहा गया है तथा यहाँ पर उसे महावीर के एक मन्दिर के निर्माण का श्रेय दिया गया है।[१५] ग्वालियर दुर्ग से आठवीं शताब्दी ई० की कई जैन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनमें सिन्धिया स्कूल परिसर में रखी पार्श्वनाथ की मूर्ति, तेली मन्दिर के सामने कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आदिनाथ की मूर्ति तथा गुजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित आदिनाथ की मूर्ति उल्लेखनीय है।[१६] अतएव संभव है कि दुर्ग पर आठवीं शताब्दी का कोई महावीर मन्दिर रहा हो।

वर्तमान समय में ग्वालियर पर प्रतिहार शैली के दो मन्दिर विद्यमान हैं - तेली का मन्दिर और चतुर्भुज मन्दिर। इसके अतिरिक्त दुर्ग से ही प्राप्त इस शैली के दो अन्य लघु एकाश्म मन्दिर गुजरी महल संग्रहालय के प्रांगण में भी सुरक्षित हैं।

तेली का मन्दिर

पहाड़ी के लगभग मध्य में गंगोलाताल के सामने 'तेली का मन्दिर'' स्थित है। (चित्र सं० ९-१०)। यह अपनी विशालता, भव्यता एवं गजपृष्ठाकृति शिखर के लिए विख्यात है। इसके निर्माण के समय तक प्रतिहार शैली अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर थी। अतः इस मन्दिर में वह अपनी सभी विशेषताओं के साथ प्रस्फुटित हुई है। इसे प्रतिहार शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

नामकरण

मन्दिर का वर्तमान नाम 'तेली का मन्दिर'' कब और कैसे पड़ गया, इस संबंध में प्रकाश डालने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव है। इसका यह नाम अपेक्षाकृत बाद में उद्भूत हुआ प्रतीत होता है। कनिंघम का मत है कि सम्भवतः किसी तेली के धन से निर्मित होने के कारण इसका नाम 'तेली का मन्दिर'' पड़ गया। एक अन्य विद्वान की धारणा है कि इस मन्दिर के शिखर का आकार द्रविड़ शैली का होने के कारण प्राचीनकाल में यह 'तेलंगाना मन्दिर' नाम से सम्बोधित किया जाता था। वर्तमान नाम 'तेली का मन्दिर' इसी 'तेलंगाना मन्दिर' का बिगड़ा हुआ रूप है।[१७] वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) के ग्वालियर अभिलेख में 'अक्षयनिधि' के रूप में अनेक तेली श्रेणियों के मुखियों (तैलक महत्तक) द्वारा मन्दिरों में दीपक जलाने के लिए प्रत्येक महीने के एक निश्चित दिन पर एक पलिका (परी) तेल उपलब्ध कराने का उल्लेख हुआ है।[१८] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गुर्जर-प्रतिहार काल में आवश्यकता पड़ने पर तेली श्रेणियों के मुखियों को मन्दिर में दीपक जलाने तथा उनका रख-रखाव आदि करने का भार सौंप दिया जाता था। बहुत संभव है कि इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए किसी

---

१५. प्रबन्धकोश, पृ० २८-२९

१६. सिंह, अमर, ग्वालियर दुर्ग में जैन धर्म और कला, जैन सन्देश (शोधांक-४७), मथुरा, १९८१

१७. गार्दे, एम० बी०, डायरेक्टरी आफ फोर्ट्स इन ग्वालियर स्टेट, भाग १, पृ० ४७

१८. ए० इ०, खण्ड १, भाग २०, पृ० १५९-६०.

तेली या उनके मुखिया को इस मन्दिर में दीपक आदि जलाने का भार सौंप दिया गया हो। कालान्तर में उसके उत्तराधिकारियों द्वारा भी इसी परम्परा का निर्वाह किया जाता रहा होगा। इस प्रकार बाद में तेलियों से सम्बद्ध होने के कारण इसे 'तेली का मन्दिर' कहा जाने लगा होगा।

तलछन्द योजना

तेली के मन्दिर का गर्भगृह आयताकार है, जिसके ऊपर वलभी शैली का गजपृष्ठाकृति शिखर सुशोभित है। गर्भगृह की बाहरी माप १८ मी० X १५ मी० तथा भीतरी माप ९.२० मी० X ६.६० मी० है। गर्भगृह के आगे कपिली (अन्तराल) का निर्माण किया गया है। इसकी बाहरी माप १२ मी० X ४ मी० तथा भीतरी माप ६ मी० X ४ मी० है (रेखाचित्र सं. १)।
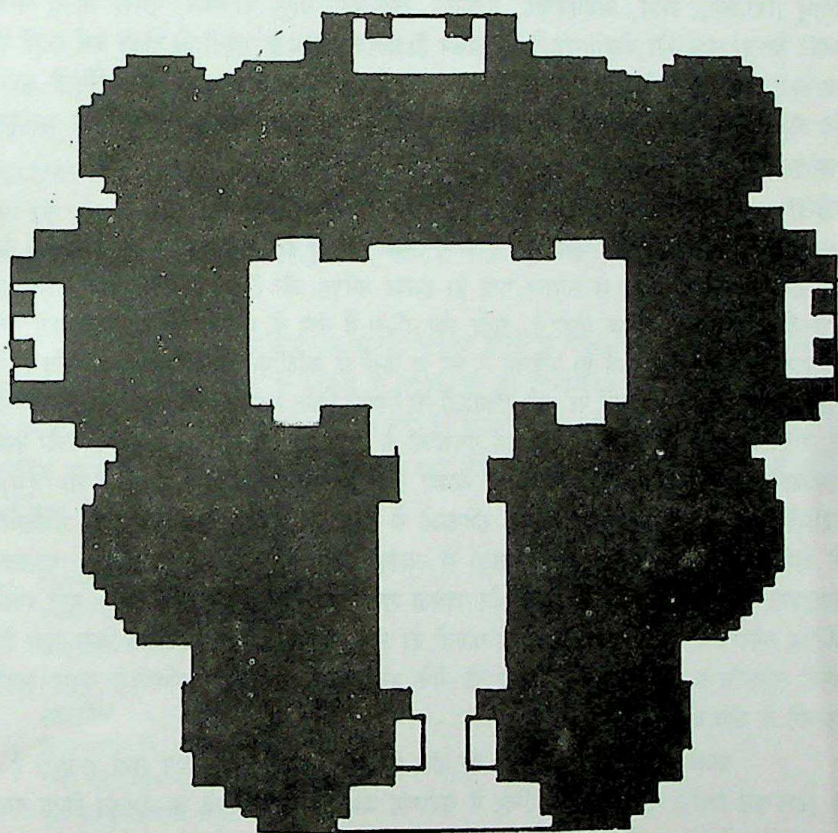
रेखा चित्र संख्या १ .तलछन्द, तेली का मन्दिर
(साभार, कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २)

ऊर्ध्वछन्द योजना

मन्दिर की सम्पूर्ण ऊँचाई लगभग २८ मी० है।तीन भिट्टों के ऊपर मन्दिर की ऊर्ध्वछन्द योजना वेदीबन्ध, जंघा, वरण्डिका और शिखर नामक चार भागों में विभक्त है।

वेदीबन्ध

तीन भिट्टों पर आधारित मन्दिर के वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, अन्तरपट्ट तथा कपोतपाली द्वारा अलंकृत किया गया है। सामान्यतः प्रतिहार शैली के मन्दिरों में वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, कलश, अन्तरपट्ट और कपोतालि से सजाने की परम्परा थी, किन्तु इस मन्दिर में कलश का निर्माण नही किया गया है अपितु उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए अन्तरपट्ट को और अधिक चौड़ा कर रूपपट्टी का अंकन किया गया है। अलंकरण की दृष्टि से अन्तरपट्ट दो भागों में विभाजित है। नीचे के भाग को रूपपट्टी (देवपट्टी) से सजाया गया है, जिसमें ११३ छोटी-छोटी रथिकाओं में ब्रह्मा, विष्णु (त्रिविक्रम), शिव, अजएकपाद, गजान्तक, लकुलीश, वायु, कार्तिकेय, गणेश अग्नि, भैरव आदि देवता, साधु और शैव द्वारपालों का अंकन है। प्रत्येक रथिका के पार्श्वों को दो-दो अर्ध पद्मों से अलंकृत रुचक शैली के अर्ध-स्तम्भों से सजाया गया है। ईसके ऊपर पुष्प-पत्रों तथा कीर्तिमुखों आदि से अंकित तुलाशिरों (चौकोर गुटकों) के मध्य जालक तथा उसके ऊपर चन्द्रशालाओं से अलंकृत कपोतपाली सुशोभित है (चित्र सं० १०)।

जंघा

मन्दिर का जंघा भाग सादा है किन्तु उसके भद्र को बड़ी रथिकाओं से तथा अन्य रथों को अपेक्षाकृत छोटी रथिकाओं से सजाया गया है। इसका गर्भगृह और शिखर उत्तर-दक्षिण की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम की ओर अधिक चौड़ा है। उत्तर और दक्षिण में जंघा के भद्र पर तीन उभार दिखाये गये हैं। उसके पार्श्वों में दो कर्ण हैं। पश्चिम में भद्र व कर्णो के अतिरिक्त दो प्रतिरथ भी प्रदर्शित किये गये हैं (चित्र सं० १०)। भद्रों पर बड़ी रथिकाओं का निर्माण किया गया है, जबकि प्रतिभद्र और कर्णो की रथिकाएँ अपेक्षाकृत छोटी हैं। सभी भद्र रथिकाओं के शीर्ष चौड़े उद्गमों से तथा प्रतिभद्र और कर्ण रथिकाओं के शीर्ष नागर शैली के शिखर अथवा लम्बे उद्गमों से सुसज्जित हैं (चित्र सं० १०)। कपिली के दोनों पार्श्व भद्र भी बड़ी-बड़ी रथिकाओं से सुशोभित हैं। भद्र तथा कपिली की रथिकाओं के दोनों बाजुओं को पांच-पांच द्वारशाखाओं से अलंकृत किया गया है। इनमें सामान्यतः पत्रलता, नागशाखा या पुष्पशाखा, मिथुन, स्तम्भ और पत्रलता शाखा का अंकन है (चित्र सं० १०)। इसी प्रकार प्रतिभद्र और कर्ण की रथिकाओं के दोनों पार्श्वो को तीन-तीन शाखाओं से अलंकृत किया गया है। उनके ललाटबिम्ब पर गरुड़ तथा चौखट के नीचे मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना अपने अनुचरों के साथ प्रदर्शित हैं।

प्रारम्भिक गुप्तकालीन मन्दिरों का जंघा भाग सादा होता था। लगभग छठी शताब्दी ई० के आस-पास देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में सर्वप्रथम जंघा को रथिकाबिम्बों से अलंकृत किया गया है। कालान्तर में प्रतिहार शैली के मन्दिरों में जंघा को रथिका-बिम्बों से सजाने की परम्परा सामान्य रूप से प्रचलित हो गयी। इनमें प्रायः भद्र और कर्ण पर देवी-देवताओं से युक्त एक-एक छोटी रथिका का निर्माण किया जाता था तथा उनके शीर्षो को उद्गमों से सुशोभित किया जाता था। तेली के मन्दिर में

छोटी-छोटी रथिकाओं के स्थान पर जंघा के भद्र, प्रतिभद्र और कर्णो पर अपेक्षाकृत बड़ी रथिकाओं का निर्माण किया गया है तथा उनके शीर्षो को नागर शैली के शिखर अथवा लम्बे उद्‌गमों से अलंकृत किया गया है। वर्तमान समय में ये रथिकाएँ रिक्त हैं परन्तु किसी समय इनमें सम्भवतः बड़े आकार की मूर्तियाँ रही होंगी।

प्रवेशद्वार

मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों के निर्माण तथा उनके अलंकरण के सम्बन्ध में वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता का निर्देश है कि मन्दिर के गर्भगृह का जो विस्तार मान हो, उसके चतुर्थांश विस्तार मान का द्वार करना चाहिए और विस्तार से दो गुना उस द्वार की ऊँचाई हो तथा ऊँचाई का चतुर्थांश द्वार-शाखाओं का विस्तार होना चाहिए। वह द्वार तीन, पाँच, सात अथवा नौ शाखाओं से प्रशस्त हो।[१९] द्वारशाखाओं के चौथाई भाग में प्रतिहारी, मांगल्य विहग, श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, मिथुन, पत्रलता तथा प्रमथ (कुब्जक) का अलंकरण होना चाहिए।[२०]

प्रवेश-द्वारों को विभिन्न द्वारशाखाओं, प्रतिहारी, मांगल्यविहग, नदीदेवता तथा अन्य अनेक मांगलिक चिह्नों एवं अलंकरणों से सजाने की परम्परा गुप्त काल से ही चल पड़ी थी।[२१] तिगोवा, भूमरा, नचनाकुठारा, दहपर्वतिया आदि मन्दिरों के प्रवेशद्वारों को प्रायः तीन या पाँच द्वारशाखाओं से अलंकृत किया गया है। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में द्वारशाखाओं की संख्या छः है। इसे पत्रलता, पुष्प, मिथुन, स्तम्भशाखा, श्रीवृक्ष और पुष्प पट्टियों से सजाया गया है। ऊपरी भाग में गंगा-यमुना अंकित हैं तथा ललाटबिम्ब में शेषनाग पर आसीन चतुर्भुजी विष्णु को प्रदर्शित किया गया है।

द्वारालंकरण की गुप्तकालीन परम्परा प्रतिहार शैली के मन्दिरों में भी दृष्टिगोचर होती है। नरेसर, बटेसर, अमरोल आदि के मन्दिरों में प्रवेश-द्वारों को सामान्यतः तीन द्वारशाखाओं पत्रलता, स्तम्भशाखा तथा नागशाखा से अलंकृत किया गया है। नागशाखा में नागों की पूँछ को ललाटबिम्ब पर अंकित गरुड़ के हाथों में प्रदर्शित किया गया है तथा नीचे अपने अनुचरों के साथ गंगा-यमुना अंकित की गयी हैं।

---

१९. विस्तारार्ध भवेद्‌गर्भो भित्तयोऽन्याः समन्ततः ।
गर्भपादेन विस्तीर्णा द्वारं द्विगुणमुच्छ्रितम् ॥ १२ ॥
उच्छूयात् पाद विस्तीर्णा शाखातद्वदुदुम्बर :
विस्तार पाद प्रतिमं बाहुल्यं शाखयोः स्मृतम् ॥ १३ ॥
बृहत्संहिता, ५६, १२-१३

२०. त्रियञ्चसप्तनवभिः शाखाभिस्तत्प्रशस्यते ।
अधः शाखाचतुर्भागे प्रतीहारौ निवेशयेत् ॥ १४ ॥
शेषं माङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोव शोभयेत् ॥ १५ ॥
बृहत्संहिता ५६, १४-१५

२१. अग्रवाल, वासुदेव शरण, स्टडीज़ इन इण्डियन आर्ट, पृ० २११

प्रवेश-द्वारों पर नागशाखाओं का अंकन प्रतिहार शैली के मन्दिरों की अपनी अलग विशेषता है। यद्यपि गुप्तकालीन मन्दिरों में नागशाखा का अलंकरण नहीं मिलता किन्तु देवगढ़ के दशावतार मन्दिर की उत्तरी रथिका के दोनों ओर अर्धस्तम्भों के निचले भाग में इसका प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है, जिसमें दो नागों को एक दूसरे से गुथा हुआ प्रदर्शित किया गया है। कालान्तर में इसी अभिप्राय को और अधिक विकसित करके प्रतिहार शैली के मन्दिरों में नागशाखा के रूप में अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त स्तम्भशाखा में कीर्तिमुख से निकलते हुए जंजीर और घण्टा का अंकन भी इस युग की विशेषता रही है। गुप्तकालीन मन्दिरों में ललाटबिम्ब पर सामान्यतः मूल नायक को ही प्रतिस्थापित किया गया है, जबकि प्रतिहार शैली में ललाटबिम्ब पर प्रायः गरुड़ का अंकन मिलता है तथा गर्भगृह के देवता को शुकनास पर प्रदर्शित किया जाने लगा था।

तेली के मन्दिर का प्रवेश-द्वार (चित्र सं० ९) पूर्वाभिमुख है। इसकी ऊँचाई लगभग १०.६६ मी० है। गर्भगृह तक पहुँचने के लिए इसके सामने सोपान निर्मित किये गये हैं। प्रवेशद्वार की चौखट के दोनों बाजुओं को पत्रलता, नागशाखा, मिथुनशाखा, स्तम्भशाखा तथा संयुक्त पत्रशाखा नामक पाँच द्वारशाखाओं से अलंकृत किया गया है। इनमें से तीन शाखाएँ उत्तरंग पर भी अंकित की गयी हैं, जिनके मध्य में ललाटबिम्ब पर उड़ते हुए गरुड़ अपने दोनों हाथों में नागों की पूँछ पकड़े हुए प्रदर्शित हैं। द्वारशाखाओं के नीचे बाईं ओर मकरवाहिनी गंगा तथा दाईं ओर कूर्मवाहिनी यमुना अपने-अपने अनुचरों तथा महाकाल और नन्दी नामक शैव द्वारपालों के साथ अंकित हैं। गंगा-यमुना के ऊपर आकाश का दृश्य दिखलाया गया है, जिसमें बादलों के साथ उड़ते हुए मांगल्य विहग, मालाधर विद्याधर तथा अन्य मानवाकृतियाँ उपस्थित हैं। लगभग ऐसा ही अलंकरण भद्र-रथिकाओं के प्रवेशद्वारों पर भी मिलता है। एक अन्य प्रवेशद्वार मन्दिर के गर्भगृह के सामने निर्मित है। वर्तमान समय में यह काफी क्षतिग्रस्त हो गया है। लगभग १५वीं शताब्दी में मुख्य प्रवेशद्वार के बीच में एक अन्य छोटा द्वार लगाकर बड़े द्वार के ऊपरी भाग को बन्द कर दिया गया है। छोटे द्वार के ललाटबिम्ब पर गणेश को प्रदर्शित किया गया है।

वितान

मन्दिर का भीतरी भाग सादा है, किन्तु गर्भगृह के ऊपर समतल वितान निर्मित किया गया है, जिसका अलंकरण अब नष्ट हो चुका है। एक स्थान पर केवल थोड़ा सा अलंकृत भाग बच रहा है, जिस पर कीर्तिमुख अंकित है।

गर्भगृह के चारों कोनों पर स्थित भित्ति-स्तम्भों के ऊपरी भाग का अलंकरण भी उल्लेखनीय है। इनके फलकों के ऊपर पद्म, अर्धपद्म, मांगल्य विहग, चक्रवाक, कीर्तिमुख व अन्य वानस्पतिक एवं ज्यामितीय आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है (चित्र सं० ११)।

वरण्डिका

जंघा के ऊपर मन्दिर के चारों ओर प्रतिहार शैली के अन्य मन्दिरों की भाँति इसमें भी किंकिणिका (जंजीर और घंटा) का अलंकरण दर्शनीय है। उसके ऊपर कपोतपाली और अर्धपद्म

सुशोभित हैं। वरण्डिका को सादी कपोत जैसी गढ़न, अलंकृत तुलाशिरों (चौकोर गुटकेनुमा आकृति) तथा कपोतपाली से विभूषित किया गया है (चित्र सं० १०)।

शिखर

अध्ययन की दृष्टि से मन्दिर के शिखर को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। नीचे के भाग में उत्तर और दक्षिण के भद्र पर एक-एक सिंहकर्ण प्रदर्शित है। दक्षिण के सिंहकर्ण में एक शिरविहीन अष्टभुजी दुर्गा की प्रतिमा स्थापित है। इसमें वे एक शान्त सिंह पर ललितासन मुद्रा में बैठी हैं (चित्र सं० ४४)। वे अपने एक दाहिने हाथ में खड्ग तथा बायें हाथ में खेटक धारण किये हैं। शेष भुजाएँ या तो खण्डित हैं अथवा उनके आयुध अस्पष्ट हैं। वे नाभिछन्दक, केयूर, कंकण, कटिसूत्र आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। उनके दोनों ओर नीचे एक-एक अनुचर भी दिखलाया गया है। उत्तरी सिंहकर्ण में एक चतुर्भुजी देवता उत्कूटिकासन में बैठे हैं। उनके घुटनों में योगपट्ट बंधा है तथा ऊपरी दाहिने हाथ में अक्षमाला लिये हैं। इनकी पहचान लकुलीश अथवा शिव की दक्षिणामूर्ति से की जा सकती है। कर्णों को कपोत, उद्गम, चन्द्रशालाओं तथा भूमिआमलकों से सजाया गया है। इसी प्रकार का अलंकरण पश्चिमी दिशा में कर्णों और प्रतिरथों पर भी प्रदर्शित है।

शिखर के ऊपरी भाग में पूर्व और पश्चिम की ओर स्कन्धवेदी पर रथिका-पंक्ति दिखलायी गयी है, जिनके शीर्ष उद्गमों से सुशोभित हैं (चित्र सं० ९)। इसी प्रकार स्कन्धवेदी के ऊपर गजपृष्ठाकृति शिखर के दोनों ओर भी आठ-आठ रथिकाओं की पंक्तियाँ अंकित की गयी हैं। वलभी शिखर के उत्तरी तथा दक्षिणी पार्श्वों को नीचे विशाल शूरसेनकों से तथा उनके मध्य भाग को दो रथिकाओं, मणियों, पद्मोंऔर चन्द्रशालाओं से अलंकृत किया गया है (चित्र सं० १०)। सबसे ऊपर एक बड़ी चन्द्रशाला प्रदर्शित की गयी है। इस प्रकार इस मन्दिर के नीचे के आयताकार भाग को नागर शैली के शिखर की भाँति सजाया गया है तथा ऊपरी भाग को वलभी शैली के गजपृष्ठाकृति शिखर से सुशोभित किया गया है।

आयताकार भवनों के ऊपर वलभी (गजपृष्ठाकृति) छत के निर्माण की परम्परा मौर्यकाल से ही प्रचलित थी, जिसके स्वरूप का अनुमान साँची, भरहुत और उदयगिरि (भुवनेश्वर, उड़ीसा) के उच्चित्रों से किया जा सकता है। अमरकोष में 'वलभी' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है- 'गोपानसी तु वलभी छादने वक्र दारुणि'।[२२] यहाँ पर वलभी शब्द का प्रयोग ऐसी अर्धगोलाकार अथवा ढोलाकार छत के लिए किया है, जिसका निर्माण लकड़ी अथवा काष्ठ कर्म द्वारा किया गया हो। मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, गरुड़पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में भी 'वलभी' शब्द का प्रयोग एक ऐसे आयताकार भवन के अर्थ में हुआ है, जिसके ऊपर गजपृष्ठाकृति छत का निर्माण किया गया हो।[२३] इन्हीं अर्थों में इस शब्द का प्रयोग ४६७-८० ई० के गढ़वा (जिला इलाहाबाद) अभिलेख तथा कुमारगुप्त और बुधवर्मन के मन्दसोर अभिलेख में भी मिलता है।[२४] इस प्रकार 'वलभी' एक ऐसे आयताकार भवन, प्रासाद या मन्दिर को कहते हैं जिसकी छत गजपृष्ठाकृति हो।

---

२२. अमरकोश, पुरुवर्ग २, श्लो० १५

२३. मत्स्यपुराण, अ० २६९, ३५, ५०, ५३; अग्निपुराण अ० २०४, श्लो० १६-१७; गरुड़पुराण, अ० ४७, श्लोक २१-२२, २६-२७; रामायण, २, ८८, ५; महाभारत, १, ३, १३३

२४. फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रिप्सन्म् इंडिकेरम, खण्ड ३, पृ० २६९ तथा ८१

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार वलभी प्रकार के मन्दिर की लम्बाई उसकी चौड़ाई की तीन गुनी होनी चाहिए तथा उसके पार्श्व और पृष्ठ भागों में चन्द्रशालाओं का अलंकरण होना चाहिए। मन्दिर में एक प्रवेशद्वार होना चाहिए, जिसका मुख किसी भी दिशा की ओर हो सकता है। इसके गर्भगृह में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर अथवा बलराम और श्रीकृष्ण के बीच में एकानंशा अथवा कार्तिकेय और गणेश के मध्य त्रिलोचन (शिव) अथवा त्वष्टा अथवा सूर्य और चन्द्र के मध्य जनार्दन अथवा बहुभुजी दुर्गा अथवा लक्ष्मी अथवा अनन्तशायी विष्णु अथवा चतुर्भुजी विष्णु अथवा कुबेर के साथ इन्द्र, यम और वरुण के अतिरिक्त अन्य किसी देवता की प्रतिस्थापना नहीं करनी चाहिए।[२५]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि वलभी प्रकार के मन्दिर की तलछन्द योजना आयताकार होनी चाहिए। उसका यह स्वरूप इसलिए निर्मित किया जाता है कि उसके गर्भगृह में कई देवताओं को सामूहिक रूप से स्थापित किया जा सके अथवा उसमें लक्ष्मी, दुर्गा या अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति रखी जा सके।

अपराजितपृच्छा में वर्णित चौदह प्रकार के मन्दिरों में वलभी का भी उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के मन्दिरों की उत्पत्ति का श्रेय गौरी और आद्या जैसी देवियों को दिया गया है।[२६] अपराजितपृच्छा में कहा गया है कि चार और पाँच के अनुपात का आयताकार गर्भगृह निर्मित करके स्कन्धवेदी के ऊपर गजपृष्ठाकृति वलभी की रचना करनी चाहिए तथा बाएँ, दायें, आगे और पीछे का भाग चन्द्रशालाओं से अलंकृत करके गर्भगृह के आगे शुकनासिका निर्मित करनी चाहिए।[२७]

वस्तुतः विष्णु के दशावतारों, अनन्तशायी विष्णु, सप्तमातृकाओं अथवा शिशु के साथ लेटी हुई माता (देवी) अथवा किसी अन्य देव समूह को स्थापित करने के लिए गर्भगृह में कुछ अधिक स्थान की आवश्यकता होती है और उसके लिये मन्दिर के चौकोर गर्भगृह की अपेक्षा आयताकार गर्भगृह अधिक उपयुक्त है। इसके साथ ही आयताकार गर्भगृह के ऊपर नागर शैली के रेखाशिखर की अपेक्षा वलभी शैली का गजपृष्ठाकृति शिखर निर्मित करना अधिक सुविधाजनक पड़ता है। गुजरात, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, हिमांचल प्रदेश तथा पश्चिमी भारत के कई स्थलों से ऐसे मन्दिरों के उदाहरण प्राप्त हुए हैं, जिनमें आयताकार गर्भगृह के ऊपर वलभी शिखर का निर्माण किया गया है।

वलभी शैली के मन्दिरों का प्राचीनतम उदाहरण संभवतः खिमेश्वर मन्दिर नं० ६ है, जिसे विद्वानों ने सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रखा है।[२८] भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मन्दिरों में वलभी

---

२५. विस्णु धर्मोत्तर०, खण्ड ३, अ० ८६, श्लो० २१-३०

२६. गौर्याद्याभिश्च देवीभिः कृपाः पूजा महोत्सयाः ।
पुष्प्याकारसंकीर्णा रत्नज्योतिर्भहार्चिषः ॥ ३४ ॥
कृता बलभिकाकाराः प्रासादाः स्त्रयभिधानकाः ।
आयताश्चतु रश्राश्च वृत्तावृत्तायतास्तथा ॥ ३५ ॥
महापुष्योदयस्तेभ्यस्तेजः सौभाग्यवर्द्धनम् ।
जन्मजन्मनि भूपालाः पुष्पवाणपरायणाः ॥ ३६ ॥
अपराजितपृच्छा, १०५, ३४-३६

२७. अपराजित०, १७६, ६-८

२८. नानावती, जे० एम० तथा ढाकी, एम० ए०, द मैत्रक एण्ड सैंधव टेम्पुल्स आफ गुजरात, पृ० ३१-३२, ६७

शैली के पांच उदाहरण उल्लेखनीय हैं- १. वैताल देउल, २. गौरी मन्दिर, ३. गोपालिनी (भुवनेश्वरी) मन्दिर, ४. सावित्री मन्दिर तथा ५. मुक्तेश्वर मन्दिर के सामने स्थित छोटा मन्दिर।[२९] इन मन्दिरों मे वैताल देउल सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मध्यभारत में नरेसर (ग्वालियर, म० प्र०) का देवी मन्दिर सरहन बुजुर्ग (फतेहपुर, उ० प्र०) का भगवती मन्दिर, उत्तराखण्ड में जागेश्वर (अल्मोड़ा उ० प्र०) का पुष्टिदेवी, चण्डिका और नवदुर्गा मन्दिर, वमन सुआल (अल्मोड़ा उ० प्र०) का त्रिनेत्रेश्वर महादेव मन्दिर, वजिंगा (टिहरी गढ़वाल, उ० प्र०) का नन्दा देवी मन्दिर आदि इस शैली के प्रमुख उदाहरण हैं।

वलभी शैली के उपरोक्त मन्दिरों में सामान्यः आयताकार गर्भगृह के ऊपर गजपृष्ठाकृति शिखर तथा कपिली के ऊपर शुकनासिका की रचना की गयी है। इनके वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, अन्तरपत्र (कलश के स्थान पर) और कपोतालि से अलंकृत किया गया है। जंघा भाग को प्रायः देवी-देवताओं से युक्त एक रथिका-पंक्ति से सजाया गया है। जंघा और शिखर के मध्य दो या तीन पट्टियों की वरण्डिका निर्मित की गयी है। शिखर के नीचे के भाग को भूमिआमलकों तथा चन्द्रशालाओं से अलंकृत किया गया है तथा ऊपरी भाग में स्कन्धवेदी और गजपृष्ठाकृति छत का निर्माण किया गया है। शिखर के पाश्वों और पृष्ठ भाग को चन्द्रशालाओं व सूरसेनकों से अलंकृत किया गया है। इस प्रकार आयताकार गर्भगृह के ऊपर गजपृष्ठाकृति शिखर का निर्माण किया जाना तथा उसके पार्श्व और पृष्ठ भाग को सूरसेनकों व चन्द्रशालाओं से अलंकृत किया जाना इस शैली के मन्दिरों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इन मन्दिरों को अधिकांशतः शाक्त सम्प्रदाय को ही समर्पित किया गया है।

तेली के मन्दिर में उपरोक्त सभी विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। यह मन्दिर उत्तर भारत के वलभी शैली के मन्दिरों में सबसे अधिक विशाल, भव्य और ऊँचा है। अलंकरण की दृष्टि से भी इसकी तुलना में इस शैली का अन्य कोई मन्दिर नहीं ठहरता। ग्वालियर क्षेत्र में प्रतिहार शैली की जिस परम्परा का प्रादुर्भाव नरेसर और बटेसर के मन्दिरों में हुआ उसकी पूर्णता हमें अमरोल (ग्वालियर, म० प्र०) और महुआ (शिवपुरी, म० प्र०) के मन्दिरों में देखने को मिलती है तथा तेली के मन्दिर में हम उसके विकास की चरम परिणति का दर्शन करते हैं। अमरोल के रामेश्वर महादेव मन्दिर और तेली के मन्दिर के अलंकरण में तो इतनी साम्यता है कि इन दोनों को एक ही शिल्पियों द्वारा निर्मित कहा जा सकता है। दोनों मन्दिरों की चन्द्रशालाओं, कपोतपाली, भूमिआमलक तथा रथिकाबिम्बों की अलंकरण शैली एक जैसी है। तेली के मन्दिर में विशालता और भव्यता के साथ-साथ उसके विभिन्न अंगों में परस्पर अच्छा अनुपातिक समन्वय स्थापित किए रहना, उसके स्थपतियों एवं शिल्पियों की महान कुशलता एवं दक्षता का परिचायक है। अलंकरण की सफाई तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जैसी इस मन्दिर में बन पड़ी है, वैसी अन्यत्र दुलर्भ है। इस दृष्टि से अमरोल के रामेश्वर मन्दिर और तेली के मन्दिर को एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार तेली का मन्दिर न केवल वलभी शैली के मन्दिरों में अपितु उत्तर भारत के समस्त प्रतिहार शैली के मन्दिरों में भी अपना सर्वोच्च स्थान रखता है।

---

२९. मित्रा. देबाला, फोर लिटिल नोन खाखरा टेम्पुल्स आफ उड़ीसा, ज० ए० सो०, भाग २, नं० १, १९६०

मूल नायक

मन्दिर के गर्भगृह में किसी प्रतिमा के अभाव में यह अनुमान लगा पाना कठिन है कि यह मन्दिर किस देवी या देवता को समर्पित था। प्रतिहार शैली के मन्दिरों की एक विशेषता यह भी थी कि इनकी शुकनास पर प्रायः उसी देवता को प्रदर्शित किया जाता था जिसकी प्रतिमा गर्भगृह में स्थापित की जाती थी। इस प्रकार यदि किसी मन्दिर के गर्भगृह में मूल देवता की प्रतिमा न हो तो भी उसके शुकनास पर अंकित प्रतिमा को देखकर मन्दिर के मूलनायक का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्यवश तेली के मन्दिर की शुकनास भी ध्वस्त हो चुकी है। अतः मन्दिर के मूल देवता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें अप्रत्यक्ष साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ेगा।

इस मन्दिर के प्रवेशद्वार के ललाटबिम्ब पर 'गरुड़' अंकित है। बाद में (लगभग १६वीं शताब्दी के आस-पास) इसमें एक छोटा प्रवेशद्वार और जोड़ दिया गया है जिसके ललाटबिम्ब पर 'गणेश' के प्रदर्शित किया गया है। चूँकि 'गरुड़' का सम्बन्ध वैष्णव धर्म से है, अतः कनिंघम का मत है कि प्रारम्भ में यह वैष्णव मन्दिर था किन्तु कालान्तर में इसे शैव धर्मावलम्बियों द्वारा अधिकृत कर लिया गया।[३०] परन्तु कनिंघम का उक्त मत उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि प्रतिहार शैली के प्रायः सभी मन्दिरों में नागशाखा के साथ ललाटबिम्ब पर 'गरुड़' के अंकन की परम्परा मिलती है और बाद (लगभग १५वीं-१६वीं शताब्दी) के सभी मन्दिरों में ललाटबिम्ब पर प्रायः 'गणेश' को प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त मन्दिर के वेदीबन्ध की रथिकाओं में उत्कीर्ण मूर्तियों में जहाँ एक ओर शिवमूर्तियों का आधिक्य है, वही विष्णु की केवल एकमात्र प्रतिमा 'त्रिविक्रम' रूप का ही अंकन हुआ है। अतः इसे विष्णु का मन्दिर नहीं माना जा सकता।

इस मन्दिर में जिन देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं, उनमें शैव मूर्तियों की प्रधानता है। शिखर के उत्तरी और दक्षिणी सिंहकर्ण पर क्रमशः शिव और दुर्गा को प्रदर्शित किया गया है। प्रवेशद्वार की चौखट पर नीचे शैव द्वारपाल महाकाल और नन्दी अंकित हैं। वेदीबन्ध की ११३ रथिकाओं में भी अधिकांशः शैव प्रतिमाएँ ही हैं। इनमें से शिव गजान्तक, अजएकपाद, लकुलीश, गणेश, कार्तिकेय तथा शैव द्वारपाल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जंघा के पश्चिमोत्तर कर्ण पर एक रथिका में अंकित एकमुखी शिवलिंग भी इस मन्दिर का शैव धर्म से ही अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु अन्य साक्ष्य इसके शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अपराजितपृच्छा में वलभी शैली के मन्दिरों की उत्पत्ति का श्रेय गौरी और आद्या जैसी देवियों को दिया गया है।[३१] कपिली की दक्षिणी रथिका की दीवार पर अंकित लेख 'नमः वाणाग्रशक्र (सक्त) नेत्रा वलित दिघ-भुजा चक्र सू (शू) लासि' दुर्गा की स्तुति में लिखा गया प्रतीत होता है। इसमें देवी को अपनी सुदृढ़ भुजाओं में चक्र, शूल और खड्ग धारण किए हुए तथा दृष्टि के वाणाग्र पर केन्द्रित किए हुए बतलाया गया है।[३२] लिपिविज्ञान के आधार पर इस अभिलेख की तिथि लगभग आठवीं श० ई० अर्थात् मन्दिर के समकालीन ठहरती है। अतः बहुत सम्भव है कि यह स्तुति (लेख) मन्दिर के मूल नायक से ही सम्बन्धित हो। शिखर के दक्षिणी सिंहकर्ण

---

३०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३५६

३१. अपराजित०, १०५, ३४-३६

३२. लेख के पाठ तथा उसके अनुवाद के लिए लेखक श्री कृष्णदेव जी का आभारी है।

पर चतुर्भुजी सिंहवाहिनी दुर्गा की बैठी हुई प्रतिमा (चित्र सं० ३३) भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त मन्दिर का स्थापत्य भी उक्त विचार का समर्थन करता है। उत्तरी भारत में उपलब्ध जितने भी मन्दिरों में आयताकार गर्भगृह और उसके ऊपर वलभी शैली के गजपृष्ठाकृति शिखरों की रचना की गयी है, वे अधिकांशतः देवी मन्दिर ही हैं। उदाहरणार्थ भुवनेश्वर (उड़ीसा) स्थित बैताल देउल, गौरी मन्दिर, गोपालिनी मन्दिर, नरेसर (ग्वालियर, म० प्र०) स्थित देवी मन्दिर; सरहन बुजुर्ग (फतेहपुर) स्थित भगवती मन्दिर; जागेश्वर (अल्मोड़ा) स्थित अम्बिका, पुष्टिदेवी, चण्डिका और नवदुर्गा मन्दिर; पाताल भुवनेश्वर (पिथौरागढ़) का देवी मन्दिर; बजिंगा (टिहरी गढ़वाल) का नन्दा देवी मन्दिर; बरवा सागर (झाँसी) का जराय मठ आदि देवी मन्दिर ही हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन मन्दिरों की निर्माण योजना एक ही प्रकार की है और ये सभी शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के मन्दिरों का निर्माण तत्कालीन समाज में विशेषकर शक्ति या देवी की स्थापना के लिये प्रचलित था। अतः बहुत संभव है कि समान निर्माण योजना वाला तेली का मन्दिर भी शक्ति की प्रतीक किसी देवी का मन्दिर ही रहा हो।

तिथि

मन्दिर की तिथि के सम्बन्ध में एच० गोट्ज़े ने यह विचार व्यक्त किये थे कि इस मन्दिर का निर्माण कन्नौज के शासक यशोवर्मन (लगभग ७२५-७५० ई०) द्वारा उसके शासन के अन्तिम वर्षों में करवाया गया था।[३३] कृष्णदेव और माइकल ने भी अनेक साक्ष्यों के आधार पर तेली के मन्दिर की तिथि लगभग आठवीं शताब्दी का मध्यकाल ही माना है।[३४]

मन्दिर के जंघा के दक्षिणी-पूर्वी कर्ण और कपिली के दक्षिणी भद्र की रथिका में चार छोटे-छोटे लेख उत्कीर्ण हैं :

१. श्री महरदेव ज सर्व्व, २. ना सिंग्न ह, नागसिंह, ३. ॐ नमः सो

४. नमः वाणाग्राशक्र (सक्त).... नेत्रा वलित दिघ भुजा चक्र शू लासि

इसके अतिरिक्त वेदीबन्ध मे प्रयुक्त पाषाण खण्डों पर पछीम (पश्चिम), उत्तर (उत्तर), वायव (वायव्य), दक्षी (दक्षिण), नेर्त्य (नृति) आदि शब्द अंकित किये गये हैं जो संभवतः शिल्पियों के लिए दिशा सूचक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उत्तरी भद्र की रथिका में दो पंक्तियों का एक अन्य लेख भी है। इसे गेरू से लिखा गया है। इस समय यह पूर्णतः अस्पष्ट है। इन लेखों की लिपि के आधार पर कृष्णदेव ने इन्हें आठवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में रखा है।

मन्दिर के अलंकरण के लिए जिन अभिप्रायों का प्रयोग किया गया है वे सामान्यतः मध्यदेश और मालवा के सातवीं-आठवीं शताब्दी के मन्दिरों में प्रयुक्त मिलते हैं। सिंहमुखाकृतियों से युक्त तुलाशिरों का प्रयोग सर्वप्रथम मुण्डेश्वरी महादेव मन्दिर (६३६ ई०) में मिलता है। आधार और शीर्ष पर घटपल्लवों से अलंकृत रुचक स्तम्भ, घण्टमाला (किंकिणिका) का अलंकरण, प्रवेशद्वार पर गंगा-यमुना के साथ नागशाखा, मांगल्यविहग तथा ललाटबिम्ब पर गरुड़ का अंकन महुआ, नरेसर और अमरोल के मन्दिरों में दर्शनीय है। वेदीबन्ध के अन्तरपट्ट पर अलंकारिक पत्रवल्लियों के साथ

---

३३. गोट्ज़े, एच०, द लास्ट मास्टरपीस आफ गुप्ता आर्ट, आर्ट एण्ड लेटर्स, जि० २९, पृ० ४७-५९

३४. माइकल, डब्लू० एम०, आम, अमरोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, ज० ओ० इ०, बड़ोदा, भाग २२, १९७२, पृ० ३५४-३५८

इहामृगों का शोभांकन भी मन्दिर की प्राचीनता का द्योतक है। वेदीबन्ध की रथिकाओं में प्रदर्शित कार्तिकेय, गणेश, लकुलीश, सूर्य आदि का अंकन शैली और प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से अमरोल और नरेसर के मन्दिरों की भाँति ही हुआ है। इस प्रकार मन्दिर का स्थापत्य एवं शिल्प भी आठवीं शताब्दी के मन्दिरों से मिलता - जुलता है। अतः तेली के मन्दिर में उत्कीर्ण लेख की लिपि, अलंकरण, स्थापत्य एवं शिल्पकला तथा प्रतिमा विज्ञान के आधार पर मन्दिर की तिथि लगभग आठवीं शताब्दी का मध्यकाल (७५० ई० के आस-पास) अनुमानित की जा सकती है। इस समय ग्वालियर पर कन्नौज का शासक यशोवर्मन (७२५-७५० ई०) शासन कर रहा था। कन्नौज में कश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तापीड से पराजित होने के पश्चात् भी उसका प्रभुत्व ग्वालियर पर बना रहा। अतः बहुत सम्भव है कि उसी ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में इस भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया हो।

चतुर्भुज मन्दिर

ग्वालियर - गेट से दुर्ग पर चढ़ते समय गणेश पौर के बाद लक्ष्मणपौर के अत्यन्त निकट मोड़ पर सड़क के बाईं ओर एक छोटा सा किन्तु अलंकृत मन्दिर स्थित है (चित्र सं०१२)। इसको एक ही शिलाखण्ड (एकाश्म) में गढ़कर निर्मित किया गया है। मन्दिर के गर्भगृह में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा स्थापित होने के कारण वर्तमान समय में इसे 'चतुर्भुज मन्दिर' कहा जाता है।

मन्दिर का प्रवेशद्वार पूर्व की ओर है। तलछन्द योजना की दृष्टि से इसका त्रिअंग शैली का गर्भगृह वर्गाकार है। इसकी बाहरी माप ३.५५ मी० X ३.५५ मी० है। उसके सामने छोटा अन्तराल या कपिली तथा दो स्तम्भों व दो अर्धस्तम्भों पर आधारित एक अर्धमण्डप है। इसकी माप ३.२० मी० X ३.२० मी० है (रेखाचित्र सं० २)।
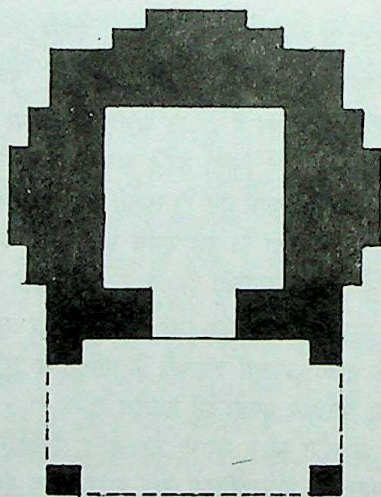
रेखा चित्र संख्या २.तलछन्द, चतुर्भुज मन्दिर
(साभार, कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २)

वेदीबन्ध

पद्मपीठ (चित्र सं० १३) के ऊपर मन्दिर के वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, कलश तथा कपोतालि से अलंकृत किया गया है। नरेसर, बटेसर और अमरोल के मन्दिरों में सामान्यतः वेदीबन्ध सादा है, किन्तु इस मन्दिर में खुर, कुम्भ, कलश और कपोतालि के ऊपर भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण पर

देवी-देवताओं से युक्त छोटी-छोटी रथिकाओं का निर्माण किया गया है। रथिकाओं के पार्श्व भागों को रुचक शैली के सादे अर्धस्तम्भों से तथा शीर्षो को उद्‌गमों से सजाया गया है। वेदीबन्ध के उत्तरी भद्र पर पंचाग्नि तप करती हुई स्थानक मुद्रा में चतुर्भुजी पार्वती, पश्चिमी भद्र पर द्विभुजी कार्तिकेय तथा दक्षिणी भद्र पर चतुर्भुजी नृत्य गणेश अंकित हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिभद्रों और कर्णो पर भी छोटे - छोटे गण देवता प्रदर्शित किये गये हैं, जिनकी पहचान कर सकना कठिन है।

जंघा

पंचरथ जंघा के भद्र और कर्ण को देवमूर्तियों से युक्त रथिकाओं से अलंकृत किया गया है। इन रथिकाओं के पार्श्वों में वृत्ताकार अर्धस्तम्भ तथा व्याल प्रदर्शित किये गये हैं (चित्र सं० १३) और उनके शीर्ष को छाद्‌य, कपोत एवं उद्‌गमों से अलंकृत किया गया है। जंघा के उत्तरी भद्र पर चतुर्भुजी त्रिविक्रम, पश्चिमी भद्र पर चतुर्भुजी विष्णु तथा दक्षिणी भद्र पर चतुर्भुजी नृवराह अंकित हैं। प्रतिरथों को स्तम्भशाखा से सजाकर उसके दोनों ओर के सलिलान्तरों को पत्रावली से विभूषित किया गया है। स्तम्भशाखा घटपल्लव, रथिकाबिम्ब, कीर्तिमुख, अर्धपद्म आदि अभिप्रायों से अलंकृत है। उसके शीर्ष पर पुनः घटपल्लव प्रदर्शित है। भद्र की भाँति कर्ण को भी मूर्तियों से युन्त रथिका तथा उसके ऊपर छाद्‌य, कपोत और एक लम्बे उद्‌गम से सजाया गया है। कर्णो पर नरसिंह, कार्तिकेय, शिव, तथा दिग्पालों की मूर्तियाँ हैं। जंघा का ऊपरी शिरा घण्टमाला (जंजीर और घण्टा) से अलंकृत है।

वरण्डिका

जंघा और शिखर को तीन पट्टियों की वरण्डिका से विभक्त किया गया है। नीचे तथा ऊपर की पट्टी में चन्द्रशालाओं से अलंकृत कपोतालि तथा मध्य में तुलाशिरों पर हंस, पुष्प, पत्र, कीर्तिमुख आदि का अंकन दर्शनीय है (चित्र सं० १४)।

शिखर

मन्दिर का नागर शैली का लतिन रेखा शिखर पंचरथ है, जिसके भद्र और प्रतिभद्र को चन्द्रशालाओं से अलंकृत लम्बे उद्‌गमों से विभूषित किया गया है तथा कर्ण को तीन कपोतों के एक समूह पर उद्‌गम की रचना कर उन्हें भूमि-आमलकों से विभक्त किया गया है (चित्र सं० १४)। शिख़र का ऊपरी भाग तथा कलश नष्ट हो चुका है। उसके स्थान पर नये कलश का निर्माण किया गया है।

प्रवेशद्वार

गर्भगृह का प्रवेशद्वार पत्रलता, पुष्प, स्तम्भ और पत्र-शाखाओं से अलंकृत है। स्तम्भशाखा के आधार और शीर्ष पर घटपल्लव तथा मध्य में कीर्तिमुख से निकला हुआ जंजीर और घण्टा सुशोभित है। प्रतिहार शैली के अन्य मन्दिरों में सामान्यतः नागशाखा का अंकन किया गया है, जिसमें नागों की पूँछ ललाटबिम्ब पर स्थित गरुड़ के हाथों में प्रदर्शित है किन्तु इस मन्दिर के प्रवेशद्वार पर नागशाखा के स्थान पर पुष्पशाखा बनायी गयी है, जिसे ललाटबिम्ब के नीचे पत्रलता के साथ उड़ते हुए गरुड़ के हाथों में दिखलाया गया है।

चौखट में नीचे की ओर मकरवाहिनी गंगा तथा कूर्मवाहिनी यमुना के साथ वैष्णव द्वारपालों का अंकन है तथा उत्तरंग में स्तम्भशाखा के ऊपर नागर शैली का त्रिरथ रेखा शिखर अंकित है। ललाटबिम्ब पर उद्गम से अलंकृत रथिका में किसी देवता की अस्पष्ट प्रतिमा है तथा उसके दोनों ओर की छोटी रथिकाओं में भी अस्पष्ट मूर्तियाँ अंकित की गयी हैं। उदुम्बर के मध्य मन्दारक तथा उसके दोनों ओर बैठी हुई सिंहाकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं।

अर्धमण्डप

प्रतिहार शैली के मन्दिरों में प्रायः गर्भगृह के सामने अन्तराल या कपिली बनाये जाने की परम्परा थी, किन्तु इस मन्दिर में गर्भगृह के सम्मुख दो स्तम्भों पर आधारित एक छोटा सा अर्धमण्डप या मुखमण्डप निर्मित किया गया है। इसके स्तम्भों तथा अर्धस्तम्भों की रचना एक जैसी है। स्तम्भों की कुम्भिका 'भद्रक' प्रकार की चौकोर है। कुम्भिका के चारों ओर उद्गमों से अलंकृत रथिकाओं में देवमूर्तियाँ अंकित हैं। कुम्भिका के ऊपर स्तम्भ यष्टि है, जिसके आधार और शीर्ष को घटपल्लव तथा मध्य भाग को कीर्तिमुख से निकलती हुई किंकिणिका से अलंकृत किया गया है। स्तम्भों पर कीर्तिमुख से निकलते हुए जंजीर और घण्टे का अलंकरण इस युग की अपनी एक विशेषता थी। स्तम्भ-यष्टि के ऊपर चौकोर आमलक तथा भारपुत्रकों (कीचकों) का अंकन है, जिनके ऊपर भारपट्ट रखे हैं। इन्हीं भारपट्टों पर मण्डप की छत आधारित है। उसके चन्दोवा को एक समतल वितान के रूप में निर्मित किया गया है, जिसमें पूर्ण विकसित पद्म पंखुड़ियों का अलंकरण दर्शनीय है। भारपट्टों के भीतरी भाग में कृष्ण-लीला दृश्य प्रदर्शित किए गये हैं। इनमें कृष्ण जन्म, बालकों का बदलाव, पूतना-वध, सकट-भंग, यमलार्जुन-उद्धार, केशीवध, माखन-चोरी, कंश-वध, कालिय-मर्दन, कुवलयापीड-वध आदि बड़े सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण किये गये हैं।

शुकनाश

कपिली (अन्तराल) के ऊपर शिखर से लगा हुआ अर्धचन्द्रशालाओं और चन्द्रशालाओं का अलंकरण शुकनास कहलाता है। प्रतिहार शैली के मन्दिरों में अन्तराल के ऊपर शिखर के साथ ऐसी शुकनास निर्मित करने की परम्परा थी। इसमें सामान्यतः गर्भगृह के मूलनायक की प्रतिमा भी अंकित की जाती थी। वास्तुशास्त्रों में शुकनास की रचना के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। वास्तुसार के अनुसार मंडोवर के छज्जा से स्कन्ध तक ऊँचाई का इक्कीस भाग करके उसमें नौ, दस, ग्यारह, बारह व तेरह भाग के बराबर लम्बे उदय का शुकनास बनाना चाहिए और उदय से आधा शुकनास का पिण्ड (मोटाई) होना चाहिए।[३५] यह प्रासाद के ललाट का तिलक माना जाता है। शुकनास के ऊपर स्थित सिंह को मण्डप के ऊपर के कलश के बराबर रखना चाहिए अर्थात् मण्डप की ऊँचाई शुकनास के सिंह से अधिक नहीं होनी चाहिए।[३६]

चतुर्भुज मन्दिर की शुकनास चन्द्रशालाओं व अर्धचन्द्रशालाओं से अलंकृत है। सबसे ऊपर की चन्द्रशाला में संभवतः योगासन में चतुर्भुजी विष्णु बैठे प्रदर्शित हैं।

तिथि

सौभाग्य से इस मन्दिर में विक्रम संवत् ९३२ (८७५ ई०) तथा ९३३ (८७६ ई०)

---

३५. वास्तुसार, प्रासाद प्रकरण, श्लो० २९

३६. प्रासाद मण्डन, अ० ७, श्लो० ७

के दो अभिलेख उपलब्ध हैं। पहला अभिलेख मन्दिर के प्रवेशद्वार के ऊपर उत्कीर्ण है। इसमें कुल २७ श्लोक हैं। इस अभिलेख से ज्ञात होता हैं कि इस विष्णु मन्दिर का निर्माण वर्जरवंशीय नागरभट्ट के पौत्र तथा वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल ने करवाया था।[३७] वैल्लभट्ट को रामभद्र ने ग्वालियर में मर्यादाधुर्य (अन्तपाल) के पद पर नियुक्त किया था। वैल्लभट्ट का पुत्र अल्ल अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ, जिसे आदिवराह (भोज) ने गोपाद्रि का संरक्षक नियुक्त किया था।[३८] दूसरा अभिलेख गर्भगृह की दक्षिणी दीवार पर अंकित है। वि० सं० ९३३ (८७६ ई०) के इस अभिलेख में वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल द्वारा निर्मित दो मन्दिरों को दिये जाने वाले चार दानों का उल्लेख है तथा अल्ल को गोपाद्रि का 'कोटपाल' कहा गया है।[३९] उपरोक्त दोनों अभिलेखों से स्पष्ट है कि चतुर्भुज मन्दिर का निर्माण मिहिरभोज के शासनकाल में 'गोपाद्रि' (ग्वालियर) के 'कोट्टपाल' अल्ल ने ८७५ ई० में करवाया था।

मूलनायक

मन्दिर के गर्भगृह में विष्णु की एक चतुर्भुजी स्थानक प्रतिमा स्थापित है। संभवतः इसी कारण इसे चतुर्भुज मन्दिर कहा जाता है किन्तु यह प्रतिमा मन्दिर की समकालीन नहीं प्रतीत होती। संभवतः इसका निर्माण बाद में किया गया होगा। जंघा के भद्रों पर नृवराह, त्रिविक्रम तथा विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियाँ स्थापित हैं। इसके अतिरिक्त नृसिंहावतार, कृष्णावतार आदि भी यत्र-तत्र अंकित हैं। शुकनास पर योगासन में चतुर्भुजी विष्णु को बैठे हुए दर्शाया गया है। ललाटबिम्ब पर भी चतुर्भुजी विष्णु प्रदर्शित हैं। साथ ही प्रवेश-द्वार पर गंगा-यमुना नदी देवियों के साथ वैष्णव द्वारपालों का भी अंकन किया गया है। वि० सं० ९३२ के अभिलेख का प्रारम्भ विष्णु-स्तुति से किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी साक्ष्यों से स्पष्ट है कि यह मन्दिर वैष्णव धर्म से सम्बन्धित था और जैसा कि इसके 'चतुर्भुज' नाम से प्रतीत होता है, इसमें विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा ही स्थापित की गयी होगी। यद्यपि वर्तमान समय में भी इसके गर्भगृह में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा स्थापित है, किन्तु इसके मौलिक होने में सन्देह है।

वि० सं० ९३२ के अभिलेख में इस मन्दिर के लिए 'टङ्कोत्कीर्ण' (शैल - मन्दिर) और 'एकशिला' (एकाश्म) शब्दों का प्रयोग महत्वपूर्ण है।[४०] तत्कालीन संरचनात्मक मन्दिरों की परम्परा से हटकर अल्ल द्वारा शैल मन्दिर का निर्माण एक महत्वपूर्ण कार्य रहा होगा और इसके लिए निश्चय ही उसने अपने आपको गौरवान्वित अनुभव किया होगा, जिसका उल्लेख उसने उक्त अभिलेख में किया है।

शैल - मन्दिरों का निर्माण उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में विशेषकर राष्ट्रकूटों के शासनकाल में अधिक प्रचलित था। राष्ट्रकूटों और गुर्जर - प्रतिहारों में कई पीढ़ियों तक कन्नौज की प्रभुसत्ता को लेकर राजनीतिक प्रतिस्पर्धा चलती रही। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रभाव उनके

---

३७. ए० इ०, जिल्द १, पृं० १५६

३८. वही

३९. ए० इ०, जिल्द १, पृष्ठ १५९

४०. वही, पृ० १५४-१५९

सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ा और राष्ट्रकूटों की शैल - मन्दिर निर्माण परम्परा का अनुकरण कर संभवतः गुर्जर - प्रतिहारों के शासन - काल में एलोरा के कैलाश मन्दिर की भाँति ही मन्दसौर में धमनार के मन्दिर तथा मिहिर भोज के कोट्टपाल अल्ल द्वारा ग्वालियर के 'टङ्कोत्कीर्ण' और 'एकशिला' चतुर्भुज मन्दिर को निर्मित करवाया गया होगा।

चट्टानों को काटकर वास्तु - निर्माण परम्परा का आरम्भ भारत में मौर्यकाल (तीसरी शताब्दी ई० पू०) से ही हो चुका था। उस समय बिहार प्रदेश में बराबर की पहाड़ियों में अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने अनेक शैलगुहाएँ बनवायी थीं। इस परम्परा का जन्म यद्यपि उत्तर भारत (बिहार) में हुआ था, परन्तु इसका विकास विशेषकर दक्षिण और पश्चिम भारत में ही हुआ। भाजा, कोन्डने, पीतलखोरा, अजन्ता, वेदसा, नासिक, कार्ले और कन्हेरी आदि स्थलों से द्वितीय शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० के मध्य निर्मित अनेक शैल -गुहाओं के सुन्दर उदाहरण प्रकाश में आये हैं। अजन्ता में इनकी परम्परा सातवीं शताब्दी ई० के मध्य तक विद्यमान रही। उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि की पहाड़ियों में प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० तक अनेक जैन गुहाएँ निर्मित की गयीं। इसी प्रकार एलोरा, एलीफैन्टा, बादामी, ऐहोल और मामल्लपुरम् आदि स्थलों में भी चौथी - पाँचवीं शताब्दी ई० से आठवीं शताब्दी ई० के मध्य शैल - गुहाएँ उत्कीर्ण की गयीं। इनका निर्माण चट्टान को भीतर गहराई में काटते हुए किया जाता था। यह परम्परा लगभग आठवीं शताब्दी ई० तक इस देश में जीवित रही।

शैल - गुहाओं से भिन्न चट्टानों को काटकर वास्तु निर्मित करने की परम्परा में एक अन्य शैली के दर्शन भी होते हैं, जिसका उद्भव एवं विकास संभवतः चिनाई द्वारा निर्मित मन्दिरों के प्रभाव से हुआ प्रतीत होता है। इस विधा के अन्तर्गत शिल्पी चट्टान को भीतर की ओर गहराई में काटने की अपेक्षा संरचनात्मक मन्दिरों के अनुकरण पर मूर्ति निर्माण - शैली में किसी एक पर्वत-खण्ड (एकाश्म) को ऊपर और भीतर दोनों ओर से काट-छाँट एवं गढ़कर वास्तु को मूर्त रूप प्रदान करते थे। इस नवीन शैली का आरम्भ मामल्लपुरम् के पल्लवरथों (लगभग ६४० ई० - ६९० ई०) से होता है। कालान्तर में इसी के अनुकरण पर कृष्ण प्रथम के शासनकाल (७५७-७८३ ई०) में एलोरा के अत्यन्त सुन्दर कैलाश मन्दिर का निर्माण किया गया। यहाँ पर शैल - मन्दिरों के अन्य उदाहरण भी विद्यमान हैं। इनमें नन्दी - मण्डप, इन्द्र - सभा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके थोड़ा बाद (लगभग ८वीं - ९वीं शताब्दी ई०) में पाण्ड्य राजाओं ने भी कलुगुमलइ में इसी प्रकार के एक विमान का निर्माण करवाया था।

उत्तर भारत में शैल - मन्दिरों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत सीमित है। फिर भी यत्र - तत्र इनके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इनमें ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर के अतिरिक्त मन्दसोर जिलान्तर्गत धमनार की पहाड़ी में निर्मित आठ वैष्णव मन्दिर (लगभग ८वीं - ९वीं श० ई०), कांगड़ा जिलान्तर्गत मसरूर का शैल - मन्दिर (लगभग ९वीं शताब्दी ई०), भागलपुर जिलान्तर्गत कोलगोंग का शैल - मन्दिर (लगभग ९वीं - १०वीं शताब्दी ई०) तथा पिथौरागढ़ जिलान्तर्गत थल का शैल - मन्दिर (लगभग १२ वीं श० ई०) इस शैली के विशिष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि संरचनात्मक-मन्दिरों की अपेक्षा शैल-मन्दिरों का निर्माण - कार्य बहुत कठिन होता है। इसमें समय, धन और श्रम भी अधिक लगता है तथा शिल्पी को भी अत्यधिक कुशल एवं अनुभवी होना चाहिए। मन्दिर की सम्पूर्ण रचना को तलछन्द और ऊर्ध्वछन्द योजना में एक ही शिला-खण्ड पर गढ़ना पड़ता है। मूर्ति-निर्माण शैली में चट्टान को काटकर पहले एक साधारण रूपरेखा तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् उस पर विभिन्न अलंकरणों एवं रूपों को उच्चित्रित किया जाता है। यह कार्य बहुत अधिक श्रमसाध्य एवं कुशलतापूर्वक किया जाने वाला होता है, जिसे बहुत अभ्यस्त शिल्पी ही कर सकते हैं। उनकी एक भी छेनी गलत नहीं पड़नी चाहिए क्योंकि एक बार त्रुटि हो जाने पर उसे सुधारा नहीं जा सकता और न ही उस शिला-भाग को परिवर्तित किया जा सकता है। अतः मन्दिर बनाना प्रारम्भ करते ही शिल्पी को पत्थर पर प्रत्येक चोट अत्यन्त सावधानी से लगानी पड़ती है। इस प्रकार इस कार्य के लिए उसे अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न, अनुभवी, कुशल एवं धैर्यवान होना चाहिए।

चतुर्भुज मन्दिर के निर्माण के समय (९वीं शताब्दी ई०) तक भारतीय शिल्पी शैल-स्थापत्य एवं शिल्प-कला के क्षेत्र में लगभग १२०० वर्षों का अनुभव प्राप्त कर चुके थे। इस समय तक उनके सामने एलोरा के कैलाश मन्दिर जैसे उत्तम उदाहरण भी उपस्थित थे। अतः चतुर्भुज मन्दिर के निर्माण में उन्होंने परम्परा से प्राप्त अनुभवों का भरपूर उपयोग किया है। कुशल कारीगरों ने एक शिला-खण्ड को उत्कीर्ण कर उसे लतिन प्रकार के पंचरथ मन्दिर का ऐसा सुन्दर स्वरूप प्रदान किया, जिसकी तुलना तत्कालीन गुर्जर-प्रतिहार शैली के किसी भी संरचनात्मक मन्दिर से की जा सकती है। इसके अलंकरणों एवं छन्दबद्ध योजना से शिल्पियों की असाधारण कार्य-कुशलता एवं क्षमता का परिचय मिलता है। मन्दिरों की यह शैली अत्यधिक श्रम-साध्य, खर्चीली एवं दुरूह होने के कारण बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी। यही कारण है कि भारतवर्ष में विशेषकर उत्तर भारत में इसके उदाहरण बहुत कम संख्या में मिलते हैं।

दो अन्य मन्दिर

एक शिलाखण्ड अथवा एकाश्म मन्दिरों के दो अन्य लघु उदाहरण गुजरी महल संग्रहालय के प्रांगण में उपलब्ध हैं। संग्रहालय के अभिलेखों में इनका प्राप्ति-स्थल ग्वालियर दुर्ग बतलाया गया है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें यहाँ मन्दिर संख्या - १ (संग्रहालय सं० ४४९) और मन्दिर संख्या - २ (संग्रहालय सं० ४५०) सम्बोधित किया गया है। यह दोनों मन्दिर एक ही शिलाखण्ड को काटकर उत्कीर्ण किये गये हैं। इनकी निर्माण-योजना तथा अलंकरण शैली उपर्युक्त चतुर्भुज मन्दिर के सदृश है। यह निश्चित कर पाना कठिन है कि उक्त दोनों मन्दिर दुर्ग के किस भाग में स्थित थे। आकार - प्रकार में चतुर्भुज मन्दिर की अपेक्षा बहुत छोटे होते हुए भी अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण ये मन्दिर अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं।

मन्दिर संख्या - १

गुर्जर-प्रतिहार कालीन अन्य मन्दिरों की भाँति इस मन्दिर (चित्र सं०१५) का भी तलछन्द साधारण है। इसमें वर्गाकार गर्भगृह तथा कपिली या अन्तराल बनाया गया है। गर्भगृह पंचरथ है।

ऊर्ध्वछन्द को सामान्यतः वेदीबन्ध, जंघा, वरण्डिका और शिखर नामक चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। वेदीबन्ध खुर, कुम्भ, कलश और कपोत से अलंकृत है। पंचरथ जंघा के भद्र और कर्णो पर छोटी-छोटी रथिकाओं में कुछ शैव प्रतिमाएँ तथा पंचाग्नि तप करती पार्वती, गणेश आदि प्रदर्शित हैं। रथिकाओं का शीर्षभाग उद्‌गमों से सुशोभित है। इसी प्रकार कपिली के पार्श्व भागों को भी शैव प्रतिमाओं से युक्त रथिकाबिम्बों से सजाया गया है तथा इनके भी शीर्षो पर उद्‌गम सुशोभित हैं। मन्दिर की चारों दिशाओं में जंघा का ऊपरी भाग किंकिणिका (जंजीर और घण्टानुमा आकृति) से सजाया गया है। जंघा और शिखर के मध्य वरण्डिका को दो कपोतों के बीच तुलाशीर्षो की पंक्ति से अलंकृत किया गया है। तुलाशीर्षो पर भी पुष्प, पत्र अथवा अन्य आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

मन्दिर का नागर (लतिन) शैली का पंचरथ रेखा शिखर पंच भौमिक है। इसके भद्र भाग को चन्द्रशालाओं से अलंकृत लता-जाल से सजाया गया है। प्रतिरथ तथा कर्ण की प्रत्येक भूमि को तीन कपोतों के समूह पर चन्द्रशालाओं का अलंकरण करके भूमि-आमलकों द्वारा विभक्त किया गया है। सबसे ऊपर आमलसारिका सुशोभित है। अन्तराल के ऊपर बड़ी चन्द्रशाला से युक्त अलंकृत शुकनास है, जिसमें संभवतः शिव नटराज की चतुर्भुजी प्रतिमा अंकित है।

प्रवेशद्वार तीन द्वारशाखाओं से अलंकृत है। इनमें मालाशाखा, रूपशाखा और पत्रशाखा उत्कीर्ण हैं। नागशाखा का अंकन प्रतिहार शैली के मन्दिरों की प्रमुख विशेषता थी। इसमें एक नाग अथवा परस्पर गुथे हुए नागों की पूँछ ललाटबिम्ब पर अंकित गरुड़ के हाथों में प्रदर्शित की जाती थी। उक्त मन्दिर में ललाटबिम्ब पर यद्यपि गरुड़ को ही दिखलाया गया है, किन्तु नागशाखा के स्थान पर यहाँ मालाशाखा है। रूपशाखा में नृत्य करती हुई मानवाकृतियाँ उच्चित्रित हैं, जो उत्तरंग पर उड़ते हुए विद्याधरों में परिवर्तित हो गयी हैं। नीचे पेद्या पर गंगा-यमुना तथा उनके अनुचर दिखलाये गये हैं। उत्तरंग के ऊपर कपोत, चन्द्रशाला और किंकिणिका सुशोभित है। प्रवेश-द्वार और शुकनास के मध्य एक लम्बा उद्‌गम बनाया गया है जिसके दोनों ओर कपोत, तुलाशीर्ष तथा छोटी-छोटी दो रथिकाएँ उत्कीर्ण हैं।

ललाटबिम्ब पर गरुड़ के अंकित होने से इस मन्दिर के वैष्णव धर्म से सम्बन्धित होने का भ्रम हो सकता है, किन्तु तत्कालीन प्रायः सभी मन्दिरों में ललाटबिम्ब पर गरुड़ के अंकन की परम्परा थी तथा मूलनायक की प्रतिमा शुकनास पर अंकित की जाती थी। यहाँ शुकनास पर शिव नटराज प्रदर्शित हैं। इसके अतिरिक्त जंघा की रथिकाओं में पंचाग्नि तप करती पार्वती, गणेश तथा अन्य शैव प्रतिमाएँ स्थापित हैं। इनके आधार पर यह शैव मन्दिर प्रतीत होता है।

मन्दिर के वेदीबन्ध, जंघा की रथिकाएँ, उद्‌गम, किंकिणिका, तुलाशीर्ष, चन्द्रशालाएँ तथा प्रवेशद्वार पर अंकित द्वारशाखाएँ, गंगा-यमुना, शुकनास आदि का अलंकरण नरेसर, बटेसर

(८वीं-९वीं शताब्दी ई०) तथा ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर (८७५ ई०) के सदृश है। अतः शैलीगत विशेषताओं के आधार पर यह मन्दिर भी लगभग ९वीं शताब्दी ई० में निर्मित प्रतीत होता है।

मन्दिर संख्या-२

मन्दिर संख्या - १ की भाँति यह मन्दिर भी गुर्जर - प्रतिहार शैली मे निर्मित है। इसकी तलछन्द योजना में गर्भगृह और अन्तराल या कपिली का आयोजन है। गर्भगृह पंचरथ है, जिसमें रथ, प्रतिरथ और कर्ण प्रदर्शित हैं।

ऊर्ध्वछन्द में इसका वेदीबन्ध खुर, कुम्भ, कलश और कपोत से अलंकृत है। पंचरथ जंघा के भद्र तथा कर्णो पर रथिकाओं में शैव प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। उनके शीर्ष भाग उद्गमों से अलंकृत हैं। प्रतिरथ तथा जंघा का अन्य भाग सादा है। इसी प्रकार कपिली के दोनों ओर भी देवी - देवताओं से युक्त रथिकाएँ हैं। शलिलान्तरों को भी सादा रखा गया है। जंघा का शीर्ष भाग किंकिणिका से सुशोभित है।

वरण्डिका दो कपोतपट्टियों के मध्य तुलाशीर्षो से अलंकृत है। तुलशीर्ष यहाँ भी पत्र, पुष्प आदि से विभूषित हैं। गर्भगृह के ऊपर नागर (लतिन) शैली का रेखा शिखर पंचरथ है। उसे चार भूमि - आमलकों से पांच भूमियों में विभक्त किया गया है। इस प्रकार यह मन्दिर पंचभौमिक है। इसकी भी प्रत्येक भूमि को कर्ण और प्रतिरथ पर कपोत, चन्द्रशाला और भूमि-आमलक से सजाया गया है। भद्रभाग चन्द्रशालाओं से अलंकृत लता-जाल से सुशोभित है। सबसे ऊपर आमलसारिका प्रदर्शित है। अन्तराल के ऊपर शुकनास की अलंकृत चन्द्रशाला में संभवतः अष्टभुजी नटराज शिव अंकित किये गये हैं।

मन्दिर का प्रवेशद्वार यहाँ भी माला, रूप और पत्रशाखा से अलंकृत है। नीचे पेद्या पर अनुचरों के साथ गंगा-यमुना तथा ललाटबिम्ब पर गरुड़ का अंकन है। गरुड़ के दोनों और मालाधर विद्याधर प्रदर्शित हैं। उसके ऊपर कपोत पट्टियों पर चन्द्रशालाएँ सुशोभित हैं। सबसे ऊपर किंकिणिका है। प्रवेशद्वार और शुकनास के मध्य उद्गम के दोनों ओर कपोत और चन्द्रशालाओं का सुन्दर अलंकरण है। शुकनास पर अंकित शिव नटेश तथा जंघा की अन्य शैव प्रतिमाओं से प्रतीत होता है कि यह मन्दिर भी शिव अथवा शैव धर्म से सम्बन्धित था।

अलंकरण शैली तथा निर्माण योजना की दृष्टि से यह मन्दिर भी गुर्जर - प्रतिहार कालीन उपरोक्त मन्दिरों के समकालीन प्रतीत होता है। इस प्रकार इस मन्दिर की भी तिथि लगभग ९वीं शताब्दी ई० के आस-पास निर्धारित की जा सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आकार-प्रकार के अतिरिक्त ये मन्दिर तलछन्द में भी चतुर्भुज मन्दिर की अपेक्षा कम विकसित हैं। इनमें गर्भगृह के सामने मात्र कपिली या अन्तराल ही बनाया गया है, जबकि चतुर्भुज मन्दिर में इन अंगों के अतिरिक्त मुखमण्डप भी प्रदर्शित है। इसी प्रकार इन मन्दिरों का वेदीबन्ध मात्र चार परम्परागत गढ़नों से अलंकृत है, किन्तु चतुर्भुज मन्दिर में वेदीबन्ध की गढ़नों पर भद्र, प्रतिभद्र और कर्णो पर छोटी-छोटी रथिकाएँ भी बनाई गयी हैं तथा उनमें देवी-देवता प्रदर्शित किये गये हैं। चतुर्भुज मन्दिर में जंघा के सलिलान्तर तथा शुकनास भी इन मन्दिरों की अपेक्षा अधिक अलंकृत हैं। फिर भी जैसा कि राजकीय संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर के

उल्लेख से पता चलता है, यदि ये नन्दिर ग्वालियर दुर्ग के ही किसी स्थल से प्राप्त हुए हैं, तो एकाश्म या एकशिला मन्दिरों की श्रृंखला में दुर्ग पर दो और महत्वपूर्ण गुर्जर - प्रतिहार कालीन मन्दिरों की स्थिति को स्वीकारना होगा जो न केवल तत्कालीन मन्दिर स्थापत्यकला के विशिष्ट उदाहरण हैं, अपितु एकशिला मन्दिरों के अध्ययन में भी इनका विशेष महत्व है।

गणेश मन्दिर

यह दुर्ग के पूर्वी प्रवेश-मार्ग के बाईं ओर चतुर्भुज मन्दिर और लक्ष्मणपौर के मध्य स्थित है। इसमें भी एक शिलाखण्ड या पहाड़ी की चट्टान को काटकर मन्दिर बनाने का प्रयास किया गया है किन्तु किन्हीं कारणों से यह पूर्ण नहीं किया जा सका। मन्दिर में वर्गाकार गर्भगृह निर्मित किया गया है। उसके सामने प्रतिहार कालीन परम्परा में दो भित्ति - स्तम्भ बने हैं। उनके ऊपर चन्द्रशाला से अलंकृत शुकनास जैसी संरचना बनाने का प्रयास किया गया है। गर्भगृह का ऊपरी भाग शिखर विहीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तुकार इस मन्दिर को भी एक ही शिलाखण्ड (एकाश्म) में निर्मित करना चाहते थे, किन्तु चट्टान उत्तम कोटि की न होने के कारण वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। गर्भगृह की दक्षिणी दीवार में गणेश की स्तुति अंकित है। संभवतः यह मन्दिर गणेश जी को ही समर्पित था। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे चतुर्भुज मन्दिर (९वीं शताब्दी ई०) का समकालीन माना जा सकता है।

4

कच्छपघात शैली के मन्दिर

गुर्जर प्रतिहारों के पतन के पश्चात् मध्य भारत के पूर्वी भाग में कलचुरि वंश, मध्य भाग में चन्देलवंश तथा पश्चिमी भाग में परमार-वंशी राजाओं का शासन स्थापित हुआ। इनके साथ-साथ चन्देलों की अधीनता में नरवर, दुबकुण्ड और ग्वालियर के क्षेत्र में कच्छपघातवंशी नरेशों ने शासन करना आरम्भ किया। इन राजवंशों ने मध्यदेश की राजनैतिक व सांस्कृतिक चेतना को बहुत अधिक प्रभावित किया। इनमें न केवल राज्य विस्तार के लिए अपितु धर्म, संस्कृति और कला की अभिवृद्धि के लिए भी परस्पर प्रतिस्पर्धा चल रही थी। मन्दिर स्थापत्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। अतएव सभी राजवंशों के शासकों ने अपने-अपने शासित क्षेत्रों में अनेक उत्तम मन्दिरों का निर्माण करवाया। लगभग १०वी शताब्दी ई० से १२वी शताब्दी ई० के मध्य निर्मित ये मन्दिर स्थापत्य कला के सुन्दर उदाहरण हैं और उसके अत्यन्त विकसित स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। इस काल के मन्दिरों पर गुप्त एवं गुर्जर प्रतिहारकालीन मन्दिरों का समान रूप से प्रभाव पड़ा। अतः इनमें परस्पर बहुत सी समानताएँ दृष्टिगोचर होती है। किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्र में और पृथक्-पृथक् राजवंशों के संरक्षण में निर्मित होने के कारण इनमें कतिपय क्षेत्रीय विशेषताएँ भी प्रस्फुटित हुई हैं, जिनके आधार पर कृष्णदेव ने मध्य भारत के मध्ययुगीन मन्दिरों को अनेक क्षेत्रीय शैलियों में विभाजित किया है तथा उनका नामकरण उस क्षेत्र विशेष में शासन कर रहे राजवंश के नाम पर प्रस्तुत किया है।[१]

मध्य भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में नरवर, दुबकुण्ड और ग्वालियर को केन्द्र में रखकर शासन करने वाले कच्छपघातवंशी शासकों के शासन-काल में विभिन्न अलंकरणों से युक्त मन्दिरों की सुरुचिपूर्ण शैली का विकास हुआ। ग्वालियर इसका प्रमुख केन्द्र था। इसके अतिरिक्त सुहानिया, पढ़ावली, मितावली, ग्यारसपुर, बदोह (विदिशा), कदवाहा, दुबकुण्ड, सुरवाया, महुआ और तिराही आदि स्थलों से भी इस शैली के मन्दिर प्रकाश में आये हैं। इनमें से अधिकांश मन्दिर कच्छघातों के शासन क्षेत्र में स्थित तथा उनके शासनकाल में निर्मित होने के कारण इन्हें 'कच्छपघात मन्दिर' अथवा 'कच्छपघात शैली के मन्दिर' कहा गया है।[२]

इस शैली के मन्दिरों में सामान्यतः वर्गाकार गर्भगृह, अन्तराल तथा मण्डप का निर्माण किया गया है। अधिक विकसित मन्दिरों में मण्डप के पार्श्वभाग और उसके सम्मुख एक अर्धमण्डप (मुखमण्डप) की भी व्यवस्था की गयी है,जिससे इसका आकार महामण्डप का हो गया है। इन मन्दिरों का निर्माण प्रायः एक ऊँची अलंकृत जगती पर किया गया है। जगती के ऊपर मूल प्रासाद को ऊर्ध्वछन्द में पीठ, वेदीबन्ध, जंघा और शिखर नामक चार प्रमुख अंगों में विभक्त किया जा सकता है।

---

१. देव, कृष्ण, उत्तर भारत के मन्दिर, पृ० ४६-६०

२. देव, कृष्ण, उत्तर भारत के मन्दिर, पृ० ५१

जंघा के भद्र या रथ, प्रतिरथ, अनुरथ, कर्ण और प्रतिकर्णो को प्रायः देवी-देवताओं से युक्त दो या तीन रथिका-पंक्तियों से सजाया गया है तथा रिक्त स्थलों और सलिलान्तरों पर व्याल, गन्धर्व, किन्नर, देवी-देवता, सुरसुन्दरी, अप्सराएँ, मिथुन तथा अष्टदिकपाल प्रदर्शित किये गये हैं। गर्भगृह के ऊपर का शिखर पंचरथ अथवा सप्तरथ है। उसे उरशृगों या कूटशृंगों से सजाया गया है। अन्तराल के ऊपर की शुकनास सीढ़ीदार व नुकीली है और इस पर प्रायः सिंहाकृति भी प्रदर्शित की गयी है। इस शैली के मन्दिरों के प्रवेशद्वार प्रायः विशेष रूप से अलंकृत किये गये हैं। परम्परा से चली आ रही नदी देवियों-गंगा-यमुना, द्वारपाल, भारपट्ट, उत्तरंग के अतिरिक्त सामान्यतः सभी प्रवेशद्वार पाँच, सात अथवा नौ द्वारशाखाओं से अलंकृत है।

मण्डप के स्तम्भ और वितान भी पूर्णतः अलंकृत हैं। स्तम्भों को अनेक प्रकार से आद्योपान्त सजाया गया है। रुचक, भद्रक और मिश्रक शैली के स्तम्भ घटपल्लव, पद्मपत्र, पत्रलता, पत्रवल्लरी, रत्न, अर्धरत्न, जालक आदि अलंकरणों से सुशोभित किये गये हैं। इसी प्रकार गर्भगृह, अन्तराल, मुखमण्डप, मण्डप, महामण्डप, रंग अथवा सभामण्डप में प्रत्येक को अलंकृत वितानों से आच्छादित किया गया है। वितानों पर प्रायः गजतालु, पद्मपत्र, कर्णदर्दरिका, कोल आदि थरों का अलंकरण हुआ है।

इस प्रकार लगभग १०वीं शताब्दी में निर्मित सुरवाया (जिला शिवपुरी, मध्य प्रदेश) के मन्दिर कच्छपघात शैली के प्रारम्भिक स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं तथा पढ़ावली और सुहानिया (जिला मोरैना, मध्य प्रदेश) के ककनमठ मन्दिरों में इसके विकास का द्वितीय चरण प्रस्फुटित हुआ है। ककनमठ मन्दिर कच्छपघात राजा कीर्तिराज (१०१५-१०३५ ई०) द्वारा निर्मित करवाया गया था, जो अपनी विशालता और उच्चकोटि की मूर्तिकला के कारण कच्छपघात शैली के मन्दिरों में सर्वाधिक प्रशंसनीय है। इस शैली के विकास का अगला चरण कदवाहा (जिला गुना, मध्य प्रदेश) के मन्दिरों में प्रकट हुआ। यहाँ के मन्दिरों में गर्भगृह और मण्डप या रंगमण्डप का आयोजन करके उनके भीतरी तथा बाहरी भागों को मूर्तियों और अन्य अनेक प्रकार के शोभांकनों से भलीभाँति अलंकृत किया गया है। ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सास-बहू मन्दिरों में इस शैली की स्थापत्य एवं शिल्पकला का चरमोत्कर्ष रूप प्रदर्शित हुआ है। अतः स्पष्ट है कि कच्छपघात शैली के मन्दिर तत्कालीन अन्य मन्दिरों की श्रृंखला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं तथा मध्ययुगीन मन्दिर स्थापत्य कला के अध्ययन में इनका विशेष महत्व है।

सास-बहू मन्दिर

ग्वालियर दुर्ग की पूर्वी प्राचीर के लगभग मध्य में पहाड़ी के बाहर निकले हुए भाग पर दो अलंकृत मन्दिर स्थित हैं, जिन्हें स्थानीय लोग 'सास-बहू मन्दिर' नाम से सम्बोधित करते हैं। इनमें से एक मन्दिर छोटा तथा दूसरा अपेक्षाकृत काफी बड़ा है। दोनों ही मन्दिरों की रचना एवं अलंकरण लगभग एक जैसा है और वे एक दूसरे की अनुकृति प्रतीत होते हैं (चित्र सं० १६-२०)।

पहाड़ी का बाहर निकला हुआ वह भाग, जहाँ यह दोनों मन्दिर स्थित हैं, भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि पूर्वी दिशा में यह दूर-दूर तक लोगों की दृष्टि में आ जाता है। मन्दिर निर्माताओं ने पहाड़ी की इस विशिष्ट स्थिति का लाभ उठाते हुए सास-बहू मन्दिरों का निर्माण

इस योजनाबद्ध ढंग से किया है कि उनके भव्य स्वरूप एवं गगनचुम्बी उन्नत शिखरों का दर्शन प्राचीन ग्वालियर नगर के प्रायः किसी भी भाग से किया जा सके।

मन्दिरों के 'सास-बहू' नामकरण के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों की ऐसी धारणा है कि यह 'सहस्रबाहु' शब्द का अपभ्रंश रूप है। इस प्रकार वे इन मन्दिरों को सहस्रबाहु के मन्दिर मानते हैं।[३] किन्तु अभिलेखीय साक्ष्य तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से यह बात सत्य नहीं प्रमाणित होती। वस्तुतः जहाँ पर एक जैसे दो कुएँ, बावलियाँ अथवा मन्दिर आस-पास निर्मित किये जाते हैं, वहाँ सामान्यतः बड़े को 'सास' तथा छोटे को 'बहू' नाम से सम्बोधित करने की परम्परा है। उदाहरणस्वरूप नागदा (राजस्थान) के ऐसे ही दो वैष्णव मन्दिरों को भी 'सास-बहू' नाम दिया गया है।

सास (बड़ा) मन्दिर

सास मन्दिर पूर्वी प्राचीर के निकट पहाड़ी के बाहर निकले हुए भाग पर बहू (छोटे) मन्दिर के पश्चिम में स्थित है (चित्र सं० १६)। इसका विस्तार उत्तर-दक्षिण की ओर लगभग ३०.४८ मी० तथा पूर्व-पश्चिम में १९.२० मी० है। प्रवेशद्वार उत्तराभिमुख है। समतल पहाड़ी भूमि पर सूक्ष्मकणों के बलुआ पत्थरों से निर्मित यह विशाल मन्दिर अपनी भग्नावस्था में होते हुए भी तत्कालीन शिल्पियों के अद्भुत हस्तकौशल का अनूठा उदाहरण है।

जगती

जगती की रचना मन्दिर के आसन के रूप में की जाती है। प्रासादमण्डन में पाँच प्रकार की जगती या अधिष्ठान का उल्लेख मिलता है - चतुरस्र (वर्गाकार), आयत, अष्टास्र (अष्टकोणीय), वृत्त और वृत्तायत।[४] सामान्यतः जगती को जाड्यकुम्भ, कर्णिका और पद्मपत्र के साथ ग्रासपट्टी से सजाने का निर्देश है। किन्तु उसके ऊपर खुर, कुम्भ, कलश, अन्तरपत्र, कपोतालि और पुष्पकण्ठ भी निर्मित किये जा सकते हैं।[५] विशिष्ट स्थिति में इनके ऊपर गजथर, अश्वथर, सिंहथर, नरथर और हंसथर भी अलंकृत करने का विधान है।[६]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मन्दिरों के लिए अलंकृत जगती का विधान किया गया है। कच्छपघात शैली के अन्य मन्दिरों में प्रायः एक ऊँची अलंकृत जगती का निर्माण किया गया है, किन्तु इस मन्दिर की १.२५ मी० ऊँची जगती का स्वरूप पूर्णतः सादा है।

---

३. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० ३६९; कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३५७

४. चतुरस्रायताष्टास्रा वृत्ता वृत्तायता तथा ।
जगती पञ्चधा प्रोक्ता प्रासादस्यानुरूप्यतः ॥ प्रासादमण्डन, २,२

५. त्रिपदो जाड्यकुम्भश्च द्विपदं कणकं तथा ।
पद्मपत्रसमायुक्ता त्रिपदा सरपट्टिका ।
द्विपदं खुरकं कुर्यात् सप्तभागं च कुम्भकम् ॥
कलशस्त्रिपदः प्रोक्तो भागेनान्तरपत्रकम् ।
कपोतालिस्त्रिभागे च पुष्पकण्ठो युगांशकैः ॥
प्रासादमण्डन, २, ११-१३

६. वास्तुसार, प्रासाद प्रकरण, श्लो० ४

तलछन्द

मत्स्यपुराण तथा अग्निपुराण के अनुसार जिस स्थान पर मन्दिर का निर्माण करना हो, उसको सोलह भागों में विभक्त करके मध्य के चार भागों में गर्भगृह की रचना करनी चाहिए।[७] वास्तुसार में कहा गया है कि प्रासादकमल (गर्भगृह) के आगे गूढ़मण्डप, गूढ़मण्डप के आगे छः चौकी, उसके आगे रंग-मण्डप तथा रंगमण्डप के आगे तोरणयुक्त बलाणक (मुखमण्डप) का निर्माण करना चाहिए।[८] प्रासादमण्डन का भी निर्देश है कि जिन भगवान के प्रासाद के आगे गूढ़मण्डप, उसके आगे त्रिक (तीन) नौ चौकी और उसके आगे नृत्यमण्डप (रंगमण्डप) निर्मित करके सबसे आगे बलाणक (मुखमण्डप) बनाना चाहिए।[९] वास्तुसार के अनुसार प्रासाद के दाहिनी और बाई ओर शोभामण्डप तथा गवाक्ष (झरोखा) युक्त शाला बनानी चाहिए, जिसमें गन्धर्व, देव, गीत, नृत्यव विनोद करते हुए प्रदर्शित हों।[१०]
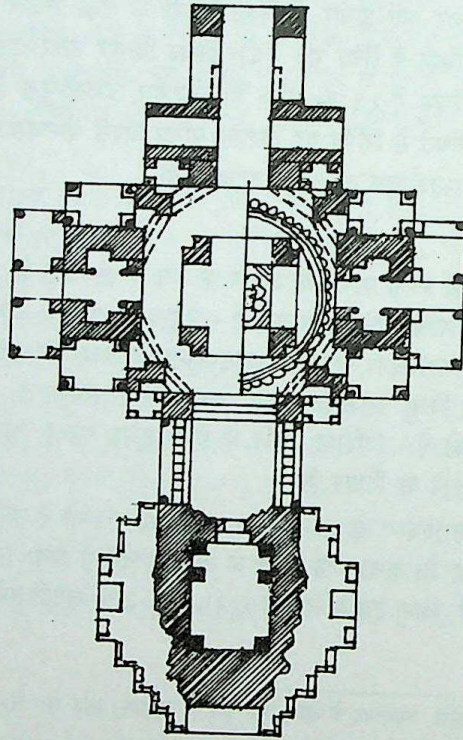
रेखा चित्र संख्या ३.तलछन्द, सास मन्दिर
(साभार, कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २)

७. मत्स्यपुराण, २६९, १-२; अग्निपुराण, ४२, १-२
८. वास्तुसार, प्रासादप्रकरण, श्लो० ४९
९. प्रासादमण्डन, ७, ३
१०. वास्तुसार, प्रासाद प्रकरण, श्लो० ५०

मध्यकालीन मन्दिरों में सामान्यतः गर्भगृह, अन्तराल, उसके आगे रंगमण्डप या सभामण्डप (रंगमण्डप) तथा मुखमण्डप के निर्माण की परम्परा मिलती है। सास मन्दिर में जगती के ऊपर वर्गाकार गर्भगृह, अन्तराल, रंगमण्डप या सभामण्डप तथा मुखमण्डप या मुखचतुष्की का निर्माण किया गया है। सभामण्डप के दोनों पार्श्वों में तथा सामने की ओर मुखमण्डप और भद्रमण्डपों को जोड़ने से इसका आकार महामण्डप का हो गया है। (रेखा चित्र सं० ३)। इस प्रकार तलछन्द योजना की दृष्टि से यह मन्दिर अपने पूर्णविकसित स्वरूप को प्रदर्शित करता है।

ऊर्ध्वछन्द

ऊर्ध्वछन्द में मुख्य प्रासाद को पीठ, वेदीबन्ध, जंघा और शिखर नामक चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। पीठ का निर्माण प्रायः खरशिला अथवा एक, दो या तीन भिट्टों तथा उसके ऊपर जाड्यकुम्भ, कर्णिका, अन्तरपत्र, ग्रासपट्टी, गजपीठ, नरपीठ आदि के संयोजन से किया जाता है। कच्छपघात शैली के मन्दिरों में प्रासादपीठ को सामान्यतः दो या तीन भिट्टों, खुर, जाड्यकुम्भ, कलश, कपोत, बसन्तपट्टी और कर्णिका से सजाया गया है। सास मन्दिर की पीठ दो अलंकृत भिट्टों से निर्मित है। नीचे का भिट्ट जालक, उसके ऊपर पद्मपत्र, रत्न तथा अन्य अनेक अलंकरणों से सुसज्जित है। भिट्टों के ऊपर जाड्यकुम्भ, कर्णिका, ग्रासपट्टी, गजपीठ तथा नरपीठ सुशोभित है (चित्र सं० १६)।

मूल प्रासाद का वेदीबन्ध, जंघा और शिखर पूर्णतः नष्ट हो गया है। अतः उसकी संरचना एवं विस्तार के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तत्कालीन कच्छपघात शैली के विकसित मन्दिरों में खुर, कुम्भ, कलश, अन्तरपत्र, कपोत, कर्णिका, नरपीठ, गजपीठ, वसन्तपट्टिका और मञ्चिका से वेदीबन्ध को अलंकृत किया गया है। कभी-कभी वेदीबन्ध पर उद्गमों से युक्त छोटी-छोटी रथिकाएँ भी प्रदर्शित की गयी हैं। जंघा के भद्र या रथ प्रतिरथ, अनुरथ, कर्ण और प्रतिकर्णों को प्रायः देवी-देवताओं से युक्त दो या तीन रथिका पंक्तियों से सजाया गया है तथा रिक्त स्थलों और सलिलान्तरों पर व्याल, गन्धर्व, किन्नर, सुरसुन्दरी, अप्सराएँ, मिथुन तथा अष्टदिक्पाल प्रदर्शित किये गये हैं। गर्भगृह के ऊपर का शिखर पंचरथ अथवा सप्तरथ है। उसे उरश्रृंगों या कूटश्रृंगों से सजाया गया है। अन्तराल के ऊपर की शुकनास नुकीली है। इस पर प्रायः सिंहाकृति प्रदर्शित की गयी है।

मन्दिरों की उपर्युक्त विशेषताएँ ग्वालियर से लगभग ३५ कि० मी० दूर स्थित पद्मपाल के पूर्वज कीर्तिपाल (१०१५-१०३५ ई०) द्वारा निर्मित सुहानिया के ककनमठ मन्दिर में भी दृष्टिगत होती है। ग्वालियर दुर्ग के सास-मन्दिर तथा सुहानिया के ककनमठ मन्दिर की परस्पर तुलना करने पर ज्ञात होता है कि ग्वालियर का सास मन्दिर अपेक्षाकृत अधिक विकसित था । इसके मण्डप का विस्तार, ऊँचाई एवं अलंकरण आदि भी अधिक है। सुहानियाँ के सभामण्डप की ऊँचाई लगभग २० मी० तथा शिखर की ऊँचाई लगभग ३० मी० है। जबकि सास मन्दिर के सभामण्डप की वर्तमान ऊँचाई लगभग २५ मी० है। इस अनुपात को मोटा आधार मानकर सास मन्दिर के गर्भगृह के शिखर की ऊँचाई लगभग ३५ मी० के आस-पास निर्धारित की जा सकती है। वेदीबन्ध, जंघा और शिखर का अलंकरण भी ककनमठ मन्दिर की अपेक्षा अधिक विकसित रहा होगा। अतः अपनी

पूर्णावस्था में यह मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी के समस्त मध्यदेशीय मन्दिरों में उतुंगतम और मंजुलतम रहा होगा।

सभामण्डप या रंगमण्डप

वास्तुसार का कथन है कि प्रासाद के बराबर, दोगुना अथवा पौने दो गुना विस्तार वाला मण्डप बनाना चाहिए।[११] अपराजितपृच्छा और प्रासादमण्डन के अनुसार मण्डप के उदयमान का साढ़े तेरह या चौदह अथवा साढ़े पन्द्रह भाग करके उनमें से आठ, नौ अथवा दस भाग का चन्द्रावलोकन (खुला भाग) रखना चाहिए तथा आसनपट्ट के ऊपर एक हाथ अथवा इक्कीस अंगुल का मत्तारवरण (कक्षासन) बनाना चाहिए। खुले भाग के नीचे से मण्डप के तल तक साढ़े पाँच भाग करके उनमें से सवा भाग का राजसेनक, सवा तीन भाग की वेदिका और एक भाग का आसनपट्ट निर्मित करना चाहिए। आसनपट्ट के ऊपर से पाट के तल भाग तक साढ़े सात भाग करके उनमें से साढ़े पाँच भाग का स्तम्भ रखना चाहिए। उसके ऊपर पौन अथवा आधे भाग की भरणी, सवा या डेढ़ भाग की शिरावटी बनना चाहिए। शिरावटी के ऊपर दो भाग का पाट बनाकर उसके ऊपर तीन भाग तक निकलता हुआ तथा पाट के पेटा भाग तक झुका हुआ छज्जा निर्मित करना चाहिए। उसके आधे भाग का केवाल (कपोतालि) तथा दो भाग तक पाट का विस्तार होना चाहिए।[१२]

सास मन्दिर के रंगमण्डप (चित्र सं० १६) के निर्माण में उपर्युक्त शास्त्रीय विधान के अनुपालन का प्रयास किया गया है किन्तु कहीं-कहीं पर उसमें विभिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। इसका ऊपरी विस्तार त्रिभौमिक है, जिसकी ऊँचाई लगभग २५ मी० है। प्रासाद पीठ पर राजसेनक के ऊपर वेदिका के स्थान पर देवी-देवताओं से युक्त रथिकाओं का अलंकरण किया गया है। इन रथिकाओं में अपनी-अपनी शक्तियों के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तथा सप्तमातृकाओं का स्वतन्त्र रूप में अंकन हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य परिवार देवताओं का अंकन भी दर्शनीय है। रथिकाओं के ऊपर आसनपट्ट का निर्माण किया गया है। यद्यपि कक्षासन नष्ट हो गया है, तथापि आसनपट्ट के ऊपर बने हुए छिद्रों से स्पष्ट पता चलता है कि कक्षासन की रचना की गयी थी। उसके ऊपर मण्डप का खुला भाग है, जिसमें मुखमण्डपों तथा मण्डप के पार्श्वभद्रों के लिए भरणी एवं स्तम्भशीर्ष (शिरावटी) से युक्त चार-चार ठिगने स्तम्भों का निर्माण किया गया है। इन्हीं स्तम्भों के ऊपर स्थित भारपट्टों पर मुखमण्डप तथा भद्रमण्डपों की छतें आधारित हैं। रंगमण्डप के मध्य में भद्रक प्रकार के चार विशाल स्तम्भों तथा उनके चारों ओर के बारह भित्ति-स्तम्भों के ऊपर अलंकृत भारपट्ट और मण्डप का मुख्य वितान आधारित है रंगमण्डप के पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में मुखमण्डपों की रचना कर इसे महामण्डप का स्वरूप प्रदान किया गया है।

वितान

किसी मण्डप या भवन की छत में नीचे का चंदोवा भाग 'वितान' कहलाता है। समराङ्गणसूत्रधार, प्रासादमञ्जरी, अपराजितपृच्छा, विश्वकर्मवास्तु विद्या , प्रासादमण्डन,

---

११. वास्तुसार, प्रासाद प्रकरण, श्लो० ५१

१२. प्रासादमण्डन, ७,९-१३;
अपराजितपृच्छा १८४, ५-१३२

शिल्परत्नाकर आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मण्डपों की वितान रचना के उल्लेख मिलते हैं। अपराजितपृच्छा के अनुसार सभी प्रकार के मण्डपों में वितान का निर्माण किया जाना चाहिए।[१३] इसकी रचना मुखमण्डप में भी की जानी चाहिए।[१४] समराङ्गणसूत्रधार में वितानों के दो वर्ग बतलाये गये हैं - (१) समतल वितान और (२) उत्क्षिप्त वितान।[१५] अपराजितपृच्छा में इन दो के अतिरिक्त क्षिप्त वितान का भी उल्लेख मिलता है।[१६] प्रासादमण्डन में शुद्ध संघाट, संघाटमिश्र, क्षिप्त और उत्क्षिप्त चार प्रकार के वितानों का वर्णन मिलता है।[१७] इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर वितानों को सामान्यतः निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है -

१. समतल वितान	(शुद्ध संघाट)
२. क्षिप्त वितान	(नीचे के भाग में लटकते थरों वाला)
३. उत्क्षिप्त वितान	(ऊपर उठी हुई गोलाई वाला)
४. संघाट मिश्र	(सम-विषम तल वाले)

प्रासाद मण्डन में मण्डप के चंदोवा या वितान की रचना के लिए कहा गया है कि मण्डप के विस्तार से आधा वितान का उदय रखना चाहिए और उदय में पाँच, छः अथवा सात थर बनाने चाहिए। कर्णदर्दरिका का थर सात के उदय में और सात भाग के निर्गम में रखना चाहिए तथा रूपकण्ठ का उदय पाँच भाग और सात भाग में हो। वितान आठ, बारह, सोलह, चौबीस अथवा बत्तिस विद्याधरों से युक्त हो। विद्याधर का थर विस्तार में सात भाग और निर्गम में दस भाग रखना चाहिए। उसके ऊपर अनेक प्रकार के नृत्य करती हुई देवांगनाएँ सुशोभित हों। तत्पश्चात् तीन गजतालु थर हों, जिनमें प्रथम साढ़े छः भाग का, दूसरा छः भाग का और तीसरा गजतालु साढ़े पाँच भाग का हो। उसके ऊपर तीन अथवा पाँच कोल थर भी निर्मित करने चाहिए। मध्य में वितान को अनेक प्रकार के चित्र-वर्णनों तथा नाटक के कथारूपों से सुशोभित करना चाहिए।[१८]

नानावती तथा ढाकी ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में कर्णदर्दरिका, रूपकण्ठ, गजतालु आदि थरों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।[१९]

मन्दिरों में वितान अलंकरण की परम्परा का आरम्भ गुप्तकाल से होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में निर्मित उदयगिरि की वीरसेन (तवा) शैलगुहा के वितान को चार वृत्तों वाले फुल्ल कमल से सजाया गया है। इसी प्रकार शंकरमढ़, मुकुन्द दर्रा मण्डप और तिगोवा के मन्दिर में भी

---

१३. मण्डपानां समस्तानां मध्ये कुर्याद्वितानकम् । - अपराजित० १८९,३

१४. अलिन्दे मण्डपे वापि चतुष्के वलभीषु वा । - समराङ्गण० ५४, २८

१५. वितानानि विचित्राणि समुत्क्षिप्तलानि च । - वही, ५४, २८

१६. वितानानि विचित्राणि क्षिप्तान्युत्क्षिप्तकानि च ।
समतलानि ज्ञेयानि उदितानि त्रिधा क्रमात् ॥ - अपराजित० १८९, ४

१७. शुद्धसंघाटमिश्राणि क्षिप्ताक्षिप्तानि यानि च ।
वितानानि विचित्राणि वस्त्रचित्रादिभेदतः ॥ - प्रासादमण्डन, ७,३४

१८. प्रासादमण्डन, ७, २९-३३

१९. नानावती, जे० एम० तथा ढाकी, एम० ए०, द सीलिंग्स इन द टेम्पुल्स आफ गुजरात, म्यूजियम बुलेटिन, बड़ौदा, भाग १६-१७, पृ० २३-३४

फुल्लकमल का अलंकरण हुआ है।[२०] लगभग ऐसी ही परम्परा गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों में भी देखने को मिलती है।

८वीं-९वीं शताब्दी में निर्मित ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर (८७५ ई०) तथा मानखेड़ा (जिला टीकमगढ़, म० प्र०) के सूर्य मन्दिर (९वीं श० ई०) के मुखमण्डपों में समतल वितान को पद्म पंखुड़ियों से अलंकृत किया गया है। १०वीं शताब्दी के मन्दिरों में पद्मपंखुड़ियों के साथ-साथ अन्य शोभाकनों का समावेश भी होने लगा। मालादेवी मन्दिर (ग्यारसपुर, जिला विदिशा, म०प्र०) की मुख चतुष्की के वितान को पद्मपंखुड़ी, दन्तुरिका और गजतालु से सुशोभित किया गया है। कालान्तर में अलंकरणों की परम्परा में और अधिक वृद्धि हुई तथा मन्दिरों के मुखमण्डप, मण्डप, महामण्डप अथवा रंगमण्डप (सभामण्डप) के वितानों को पद्म-पंखुड़ियों, मणि-मेखला, कीर्तिमुखों, कर्णदर्दरिका, रूपकण्ठ, विद्याधर, नृत्यांगना, देवांगना, गजतालु, कोल आदि थरों से सजाया जाने लगा।

सास मन्दिर के निर्माण के समय (१०९३ ई०) तक वितानों के अलंकरण की परम्परा अपने विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। उसके सभा-मण्डप, मुख-मण्डप, भद्रमण्डप, अन्तराल और मुख-चतुष्की के वितानों को तत्कालीन शिल्प-कला में प्रचलित विभिन्न प्रकार के अलंकरणों एवं थरों से सजाने का प्रयास किया गया है।

सभा-मण्डप का मुख्य वितान मध्य के चार स्तम्भों तथा बाहर के बारह भित्ति -स्तम्भों पर आधारित है। इसका बाह्य भाग वृत्ताकार तथा केन्द्र का नाभिछन्दक वर्गाकार है। वाह्य वितान में सबसे नीचे कर्णदर्दरिका के तीन थर अलंकृत हैं। उनके बीच के भाग को पत्र - वल्लरी से सुशोभित किया गया है। उसके ऊपर मणिबन्ध प्रदर्शित है। तत्पश्चात् ऊपर के लगातार पाँच थरों को गजतालुपट्टियों से सजाया गया है और उनके अन्तराल मणिबन्ध अथवा पत्र - बल्लरी से सुसज्जित हैं (चित्र सं० १७)। वितान का द्वितीय भाग अर्थात् वर्गाकार नाभिछन्दक बीच के चार स्तम्भों पर स्थित भारपट्टों के ऊपर सुशोभित है। इसमें कर्णदर्दरिका, साधारण पट्टी, गजतालु पट्टी तथा साधारण पट्टियों के पश्चात् तीन कोलथरों का अलंकरण हुआ है। कोलथरों के बीच में ग्रासमुखों का अकंन है, इसके अतिरिक्त विकर्णों में भी एक-एक ग्रासमुख प्रदर्शित है।

मुखचतुष्की का वितान भी वर्गाकार है। उसे वृत्ताकार रूप में कर्णदर्दरिका, दो गजतालु तथा तीन कोल थरों से सजाया गया है। कर्णदर्दरिका तथा गजतालु थरों के मध्य साधारण पट्टियों का अलंकरण है तथा कोलथरों के मध्य ग्रासमुख अंकित है। इसके अतिरिक्त चारों कोनों के विकर्ण वितानों को भी तीन-तीन ग्रासमुखों से सुशोभित किया गया है।

मण्डप के भद्रों (मुखमण्डप) के वितानों में कर्णदर्दरिका, साधारण अलंकृत पट्टी, गजतालु, दो साधारण पट्टी, उसके ऊपर पुनः गजतालु पट्टी और दो साधारण पट्टियों के पश्चात् तीन अलंकृत कोल थरों की रचना की गयी है, जिसके मध्य में ग्रासमुखों का अंकन है। चारों कोनों के विकर्णों में भी एक-एक ग्रासमुख प्रदर्शित है। पाश्र्वभद्रों के वितान गजतालु, ग्रासमुख, किंकिणिका तथा उसके ऊपर तीन अलंकृत कोलथरों से सुसज्जित किये गये हैं।

---

२०. गुप्त, परमेश्वरी लाल, भारतीय वास्तुकला, पृ० ८४

अन्तराल के वितान में कर्णदर्दरिका के ऊपर ग्रासमुख किंकिणिका (ग्रासमुखों से निकलती हुई मणियों की माला) के दो थर बनाये गये हैं, जिनके मध्य में मालाधर-विद्याधरों तथा सबसे ऊपर केन्द्र में पद्म - पंखुड़ियों का अंकन दर्शनीय है। चारों कोनों के विकर्णो को तीन-तीन कीर्तिमुखों, मणिबन्ध तथा पत्र-वल्लरी से सुशोभित किया गया है।

स्तम्भ

मन्दिरों में स्तम्भों के अलंकरण की परम्परा का आरम्भ गुप्तकाल से ही हो जाता है। आधार और शीर्ष के लिए घट-पल्लव तथा यष्टि के लिए कीर्तिमुख से निकलती हुई किंकिणिका का अलंकरण गुप्त और गुर्जर - प्रतिहारकालीन स्तम्भों की प्रमुख विशेषताएँ थीं। कालान्तर में मध्ययुगीन मन्दिरों के स्तम्भों को घट-पल्लवों के अतिरिक्त कीर्तिमुख, इहामृग, किन्नर, हंस, मयूर आदि से अंकित पद्म या अर्धपद्म, जालक, रत्न, अर्धरत्न आदि से पूर्णरूपेण अलंकृत किया जाने लगा। इन मन्दिरों में भद्रक, रुचक, मिश्रक तीन प्रकार के स्तम्भों का प्रयोग हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सास मन्दिर के स्तम्भों के अलंकरण में शिल्पी ने विशेष रुचि दिखलाई है। इस मन्दिर के प्रायः सभी स्तम्भों को आदि से अन्त तक अलंकृत करने का प्रयास किया गया है। सभा-मण्डप के बीच के चार स्तम्भ भद्रक प्रकार के हैं (चित्र सं० १८)। उनके नीचे के भाग में कुम्भिका तथा उसके ऊपर चारों दिशाओं में देवी-देवताओं से युक्त रथिकाओं का निर्माण किया गया है। इन रथिकाओं में विशेषतः नाग-नागियों की प्रतिमाएँ स्थापित की गयी हैं। कुम्भिका को जालकों से अलंकृत किया गया है (चित्र सं० १८)। ऊपरी भाग में कुमारशीर्ष स्थित हैं। स्तम्भ-यष्टि का मध्य भाग नरपट्टी तथा कर्णिका से विभूषित हैं। उसके ऊपर तथा नीचे पत्रावली का अलंकरण हैं। कुमार शीर्षो के ऊपर स्तम्भ का उच्चालक भाग है। तत्पश्चात् अलंकृत भारपट्ट रखे गये हैं। इसी प्रकार का अलंकरण मण्डप के भित्ति-स्तम्भों में भी मिलता हैं। मुख चतुष्की तथा भद्र-मण्डपों के लिए ठिगने कद के वृत्ताकार स्तम्भों का निर्माण किया गया है (चित्र सं० १६)।

संवरणा छत

मध्यकालीन मन्दिरों में मण्डप की छत के ऊपरी भाग को 'संवरणा' अथवा 'फांसणा' से अलंकृत करने की प्रथा थी। प्रासाद मण्डन में 'संवरणा' की रचना का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि इसमें मुख्य घण्टा के चारों ओर चार घण्टिकाओं का निर्माण करके प्रथम संवरणा बनाई जाती है। तत्पश्चात् चार-चार घण्टिकाओं की वृद्धि करते हुए एक सौ एक घण्टिकाओं तक संवरणा का विस्तार किया जा सकता है। प्रत्येक घण्टिका के चारों ओर चार-चार कूट भी निर्मित किये जाने चाहिए। इस प्रकार प्रथम संवरणा में पाँच घण्टा-कलश तथा सोलह कूटों की रचना की जाती है। इसके साथ-साथ कर्ण और उद्गमों के ऊपर आठ सिंह भी स्थापित किये जाने का विधान है।[२१]

अपराजितपृच्छा में पुष्पिका, नन्दिनी, दशाक्षा, देवसुन्दरी, कुलतिलका, रम्या, उद्भिन्ना, नारायणी, नलिका, चम्पका, पद्मा, समुद्भवा, त्रिदशा, देवगान्धारी, रत्नगर्भा, चूड़ामणि, हेमकूटा, त्रिकूटा, हिमाख्या, गन्धमादिनी, मन्दरा, मालिनी, कैलासा, रत्नसंभवा और मेरूकूटा नामक पच्चीस प्रकार की संवरणा बतलायी गयी है।[२२]

---

२१. प्रासादमण्डन ७, ४६-४९

२२. अपराजित० १९३, २-५

सास मन्दिर में सभा-मण्डप की छत को संवरणा द्वारा अलंकृत किया गया है (चित्र सं० १६)। वर्तमान समय में इसके बहुत से घण्टा और कूट नष्ट हो गये हैं। अब वहाँ उनके चिह्न मात्र ही शेष बचे हैं। उनको देखने से ज्ञात होता है कि संभवतः इस संवरणा की रचना प्रासादमण्डन के उपर्युक्त विवरण के अनुसार ही की गयी थी अर्थात् इसमें भी मुख्य घण्टा के चारों ओर चार घण्टिकाओं की रचना करके उनके चतुर्दिक पुनः चार-चार घण्टिकाओं की वृद्धि करते हुए संवरणा का विस्तार किया गया है तथा प्रत्येक घण्टिका के चारों ओर चार-चार कूट बनाते हुए उन्हें मुख्य घण्टा की ओर विकर्णवत सजाया गया है।

प्रवेश-द्वार

मन्दिर के प्रवेश-द्वार को विभिन्न द्वारशाखाओं, प्रतिहारी, मांगल्यविहग तथा अन्य अनेक मांगलिक चिह्नों एवं अलंकरणों द्वारा गुप्तकाल से ही सजाया जाने लगा था। द्वारालंकरण की यह परम्परा मध्यकाल तक लगातार विद्यमान रही और इस युग के मन्दिरों में वह और अधिक विकसित रूप में पायी जाती है। मध्ययुग के प्रवेशद्वारों को सामान्यतः पाँच, सात अथवा नौ द्वारशाखाओं से अलंकृत किया गया है। पूर्वकाल से चले आ रहे द्वारपाल नदी-देवता, श्रीवृक्ष, मिथुन, स्तम्भ, पत्र, माला, नागशाखा तथा अन्य अलंकरणों के अतिरिक्त इनमें व्याल-शाखा, भूतशाखा और रूपशाखा का अंकन विशेष उल्लेखनीय है। बीच की रूप-स्तम्भ शाखा के पार्श्वों को प्रायः व्याल, नाग या मालाशाखा से सजाया गया है। उत्तरंग के ऊपर सप्तमातृकाओं और नवग्रहों को भी प्रदर्शित किया गया है।

प्रासाद मण्डन में कहा गया है कि महादेव प्रासाद का प्रवेशद्वार नवशाखा वाला, दूसरे देवों का सात शाखा वाला, चक्रवर्ती राजाओं का पाँच शाखा वाला, सामान्य राजाओं का तीन शाखा वाला, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जाति के गृहों का द्वार एक शाखा वाला होना चाहिए। एक प्रासाद में जितने अंग हों, उतनी ही शाखाएँ बनानी चाहिए।[२३]

अपराजितपृच्छा में नवशाखा वाले द्वार को पद्मिनी, आठ शाखा वाले को मुकुली, सात शाखा वाले को हस्तिनी, छः शाखा वाले को मालिनी, पाँच शाखा वाले को नन्दिनी, चार शाखा वाले को गांधारी, तीन शाखा वाले को सुभगा, दो शाखा वाले को सुप्रभा तथा एक शाखा वाले को स्मरकीर्ति कहा गया है। इनमें से पद्मिनी, हस्तिनी तथा नन्दिनी उत्तम द्वार कहे गये हैं, मुकुली और मालिनी ज्येष्ठ, गान्धारी और सुभगा मध्यम तथा सुप्रभा को कनिष्ठ श्रेणी का द्वार बतलाया गया है।[२४]

प्रासाद मण्डन के अनुसार सात शाखा वाले प्रवेशद्वार में पहली पत्रशाखा, दूसरी गन्धर्वशाखा, तीसरी रूपशाखा, चौथी स्तम्भशाखा, पाँचवीं रूपशाखा छठीं खल्वशाखा और सातवीं

---

२३. नवशाखं महेशस्य देवानां सप्तशाखिकम् ।
पञ्चशाखं सार्वभौमे त्रिशाखं मण्डलेश्वरे ॥
एकशाखं भवेद्द्वारं वैश्ये शूद्रे द्विजे सदा ।
समशाखं भ्रमाय .... श्वानरास भवायसे ॥
प्रासादमण्डन ३, ५३-५४

२४. अपराजित० १३१, २-५

सिंहशाखा होना चाहिए। इसी प्रकार नवशाखा वाले प्रवेशद्वार में पहली पत्रशाखा, दूसरी गन्धर्वशाखा, तीसरी रूप-स्तम्भ, चौथी खल्वशाखा, पाँचवीं गन्धर्वशाखा, छठवीं रूप-स्तम्भ, सातवीं रूपशाखा, आठवीं खल्व और नवीं सिंहशाखा होनी चाहिए।[२५]

द्वार के 'उदुम्बर' की ऊँचाई कुम्भ के उदय के बराबर रखनी चाहिए। उदुम्बर के तीन भाग करके बीच वाले भाग में पद्मपत्र से युक्त अर्धचन्द्राकार 'मन्दारक' बनाना चाहिए तथा मन्दारक के दोनों ओर एक-एक भाग का कीर्तिमुख (ग्रासमुख) निर्मित करना चाहिए। उदुम्बर की ऊँचाई के अर्धभाग में जाड्यकुम्भ और कर्णी ये दो थर वाली 'कणपीठ' बनानी चाहिए। खुर के उदय के बराबर 'अर्धचन्द्र' की ऊँचाई करके द्वार के व्यास के बराबर उसका विस्तार और विस्तार का आधा उसका निर्गम करना चाहिए। दोनों भागों में दो गगारिक बनाकर उन्हें शंख, पत्र आदि से युक्त कमलों से अलंकृत करना चाहिए।[२६]

द्वार के उदय से सवाया उदय करके 'उत्तरंग' का निर्माण करना चाहिए। जो उदय आवे उसके इक्कीस भाग करके उनमें से ढाई भाग की पंचशाखा और त्रिशाखा बनाना चाहिए। उसके ऊपर तीन भाग का मालाधर, पौन भाग का छज्जा, पौन भाग का फालना, सात भाग की रथिका, एक भाग का कण्ठ और छः भाग के उद्गम निर्मित करना चाहिए।[२७] प्रासाद के गर्भगृह में जिस देवता की मूर्ति प्रतिष्ठित हो, उसी देवता की प्रतिमा द्वार के उत्तरंग में स्थित 'ललाटबिम्ब' में भी रखनी चाहिए। उत्तरंग में गणेश जी को भी स्थापित किया जा सकता है।[२८]

सास मन्दिर में मूलतः दो प्रवेश-द्वार बनाये गये हैं। एक सभामण्डप के सामने तथा दूसरा गर्भगृह के सामने है। सभा-मण्डप के सामने का प्रवेश-द्वार (चित्र सं० १९) नव द्वारशाखाओं से अलंकृत है। इनमें पहली मृणालशाखा, दूसरी खल्वशाखा, तीसरी खल्वशाखा, चौथी पत्रशाखा, पाँचवीं दण्डशाखा (स्तम्भशाखा), छठीं मालाशाखा, सातवीं खल्वशाखा, आठवीं पत्रशाखा तथा नवीं मृणालशाखा है। मृणालशाखा में छोटे आकार की मानव तथा गज आकृतियों को भी चित्रित किया गया है। उदुम्बर को तीन भागों में विभक्त कर उसके मध्य भाग में अर्धचन्द्राकार मन्दारक का निर्माण किया गया है तथा शेष दो भागों में अपने-अपने गणों के साथ एक ओर की रथिका में कुबेर तथा दूसरी ओर की रथिका में गणेश का अंकन है। उत्तरंग को पाँच भागों में विभाजित करके मध्यभाग की रथिका में चतुर्भुजी विष्णु और लक्ष्मी तथा किनारों पर एक ओर की रथिका में ब्रह्माणी के साथ ब्रह्मा और दूसरी ओर की रथिका में पार्वती के साथ शिव प्रदर्शित हैं। इन रथिकाओं के मध्य विष्णु-लक्ष्मी के दोनों ओर नवग्रहों का अंकन है। ललाटबिम्ब पर हाथों में नाग पकड़े हुए गरुड़ को दिखलाया गया है। चौखट के नीचे द्वारपालों तथा नाग-नागियों को प्रदर्शित किया गया है (चित्र सं० १९)। सभा-मण्डप के प्रवेशद्वार की भाँति ही गर्भगृह के प्रवेशद्वार को भी नव द्वारशाखाओं से अलंकृत किया

---

२५. प्रासादमण्डन ३, ६३-६६

२६. वही ३, ३७-४०

२७. वास्तुविद्या, अध्याय ६

२८. यस्य देवस्य या मूर्तिः सैव कार्योत्तरङ्.गके।
शाखायांच परीवारो गणेशश्चोत्तरङ्.गके॥
प्रासादमण्डन ३,६७

गया है। इसके उदुम्बर, मन्दारक, उत्तरंग, ललाटबिम्ब आदि की सज्जा भी लगभग उसी प्रकार की है, किन्तु इसमें उत्तरंग के ऊपर सप्तमातृकाओं का भी अंकन हुआ है।

ध्वज-स्तम्भ

मन्दिरों के सामने ध्वज-स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा प्राचीनकाल से ही मिलने लगती है। लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बेसनगर स्तम्भ-लेख में इस स्तम्भ को गरुड़ध्वज कहा गया है।[२९] इसी प्रकार भिलसा से प्रथम शताब्दी ई० पू० का एक अन्य अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिसमें भागवत के उत्तम प्रासाद के सम्मुख गरुड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख है।[३०] ये गरुड़ध्वज किसी वासुदेव मन्दिर के सामने स्थापित किये गये प्रतीत होते हैं। यह परम्परा गुप्तकाल तथा उसके बाद भी दृष्टिगत होती है। स्कन्दगुप्त की प्रशस्तियुक्त भितरी (जिला गाजीपुर) तथा कहाँव (जिला देवरिया) के स्तम्भ और बुधगुप्त के शासनकाल में मातृविष्णु और धन्यविष्णु द्वारा एरण (सागर, म० प्र०) में स्थापित गरुड़ध्वज मूलतः किसी न किसी मन्दिर के ध्वजस्तम्भ ही हैं।

सास मन्दिर के सामने भी लगभग ३० मी० उत्तर में ८.५० मी० ऊँचा एक पाषाण-स्तम्भ खड़ा है। इसके निचले भाग का व्यास लगभग ६१ से० मी० तथा ऊपरी छोर का व्यास लगभग ४५.७ से० मी० है। स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख मिट गया है तथापि पश्चिमी भाग पर उसके चिह्न आज भी विद्यमान हैं। यह सास मन्दिर का 'ध्वज-स्तम्भ' प्रतीत होता है। बहुत संभव है इस पर गरुड़ की आकृति भी रही हो, जैसा कि मन्दिर के ललाटबिम्ब पर भी अंकित है। इस प्रकार इसे गरुड़ध्वज की संज्ञा दी जा सकती है, जिसका अब मात्र ध्वजदण्ड शेष है और गरुड़ विलुप्त हो गया है।

मूल नायक

इस समय गर्भगृह में कोई भी प्रतिमा उपलब्ध नहीं है, जिससे इस मन्दिर के मूल नायक के सम्बन्ध में कुछ निश्चित प्रकाश डाला जा सके, किन्तु सौभाग्यवश मन्दिर की मुखचतुष्की में दो शिलापट्टों पर वि० सं० ११५० (१०९३ ई०) का एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिससे न केवल ग्वालियर क्षेत्र के कच्छपघात शासकों की वंशावली एवं उपलब्धियों पर प्रकाश पड़ता है, अपितु सास मन्दिर के निर्माता, तिथि तथा उसके मूलनायक के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण सूचना मिलती है।[३१] यह अभिलेख कच्छपघात शासक महीपाल के राज्याभिषेक के पश्चात् वि० सं० ११५० में उत्कीर्ण करवाया गया था। इसके रचनाकार भारद्वाज कुल में उत्पन्न कवि शिरोमणि राम के पौत्र और कवि गोविन्द के पुत्र मीमांसा और न्याय के पण्डित श्री मणिकण्ठ या मणिकण्ठ सूरि थे।[३२]

अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमः पद्मनाथाय' से हुआ है। डा० राजेन्द्रलाल ने संभवतः बहुचर्चित जनश्रुति अथवा 'पद्मनाथ' नाम से भ्रमित होकर इसे जैन मन्दिर माना है।[३३] कनिंघम का भी

---

२९. सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, भाग १ पृ० ८८

३०. बनर्जी, जे० एन०, द डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ९२

३१. इ० ए०, भाग १५, पृ० ३६-४१

३२. वही, पृ० ४०, श्लो० १०४-१०५

३३. ज० व० ए० सो०, खण्ड ३१, पृ० ४०२

उल्लेख है कि स्थानीय लोगों द्वारा इन्हें 'बड़ा जैन मन्दिर' और 'छोटा जैन मन्दिर' कहा जाता है।[३४] किन्तु बड़े मन्दिर में जहाँ एक ओर जैन मूर्तियों का सर्वथा अभाव है, वहीं दूसरी ओर इसके बाहरी और भीतरी भागों में निर्मित अधिकांश मूर्तियाँ हिन्दू देवत्रयी ब्रह्मा, विष्णु, महेश और उनकी पत्नियों से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त सप्तमातृका, नवग्रह, दुर्गा, लक्ष्मी आदि का अंकन भी हुआ है। इस प्रकार यह मन्दिर निश्चय ही ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित था, न कि जैन धर्म से।

मन्दिर के प्रवेश-द्वार के उत्तरंग पर केन्द्र में अपनी अर्धांगिनी लक्ष्मी के साथ चतुर्भुजी विष्णु प्रदर्शित हैं तथा ललाटबिम्ब पर दोनों हाथों में नाग लिए हुए गरुड़ दिखलाये गये हैं। मन्दिर के शिलालेख का आरम्भ 'हरि' और 'अनिरुद्ध' की स्तुति से किया गया है तथा अनेक स्थलों पर मन्दिर को 'भवनम् हरेः' (हरि का भवन) और 'हरि सदनम्' कहा गया है।[३५] यहाँ पर 'हरि' शब्द का प्रयोग विष्णु के लिए ही किया गया प्रतीत होता है। उनके सहस्र नामों में पद्मगर्भ, पद्मिन आदि की भाँति अभिलेख के प्रारम्भ में प्रयुक्त 'पद्मनाथ' भी विष्णु का ही एक अन्य नाम है। इसके अतिरिक्त अभिलेख के अन्त में विष्णु के प्रसंग में लक्ष्मी और उनके अंशावतार नृसिंह का उल्लेख आदि इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि यह मन्दिर वस्तुतः भगवान विष्णु या वैष्णव धर्म से सम्बन्धित था।[३६] अभिलेख में कहा गया है कि ब्रह्माण्ड से समानता करने वाले इस विशाल 'कनकानचल' के भीतर नृसिंह रूप की श्रीपति (विष्णु) की प्रतिमा, स्वर्णिम मेरु पर्वत के सामने विराजमान थीं[३७]। अनेक प्रसंगों में मन्दिर के निर्माता 'पद्म' और उसके अधिष्ठातृ देव 'पद्मनाथ' के भावपूर्ण स्मरण के साथ इस निर्माण का 'श्रीपद्मनाथसुरमन्दिरम्' तथा 'श्री पद्मनाथ सुरालय' नाम से स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[३८] अतः सास मन्दिर के मूल देवता 'पद्मनाथ' तथा मूल नाम 'पद्मनाथ मन्दिर' ही प्रतीत होता है।

अभिलेख से पता चलता है कि मण्डपिका (गर्भगृह) में जो ब्रह्मोत्तर (मूर्तियों के स्थापित करने का चबूतरा) था, उसे राजा ने दो भागों में विभक्त कर दिया था।[३९] आधा भाग पद्मनाथ की मूर्ति के लिए और आधा बैकुण्ठ सुरेश्वर के लिए सुनिश्चित था।[४०] इनके अतिरिक्त महीपाल ने एक प्रतिमा अनिरुद्ध की, दो अच्युत की तथा एक वामनावतार की भी स्थापित की थीं[४१]। अनिरुद्ध की मूर्ति चाँदी की थी। अच्युत की एक प्रतिमा कांसे की तथा दूसरी राजावर्त प्रस्तर की थी। वामनावतार की प्रतिमा भी राजावर्त प्रस्तर की थी।[४२] इससे स्पष्ट है कि गर्भगृह में राजा ने पद्मनाथ, बैकुण्ठ-सुरेश्वर, अनिरुद्ध, अच्युत और वामन की प्रतिमाएँ स्थापित की थीं तथा वहीं उनकी

---

३४. कनिंघम, आ० स० रि०, खण्ड २१, पृ० ४०२
३५. इ० ए०, भाग १५, पृ० ३६-३७, श्लो० १-४, २६-२८
३६. वही, श्लो० २९
३७. वही, पृ० ३९, श्लो० ६९
३८. वही, श्लो० ३०, ६९-७०
३९. वही, श्लो० ७३
४०. वही, चन्द, शान्ति, ग्वालियर का गौरवः पद्मनाथ मन्दिर, अन्वेषिका, ग्वालियर, १९८३, पृ० ६०-६४
४१. वही, पृ० ४०, श्लो० ९३-९४
४२. इ० ए०, भाग १५, पृ० ४०, श्लो० ९३-९४; वही

पूजा-अर्चना भी की जाती थी। इस प्रकार देवताओं की सामूहिक पूजा का यह मन्दिर एक विशिष्ट उदाहरण है।

इन देव मूर्तियों के श्रृंगार और पूजा हेतु दी गयी वस्तुओं का भी विशद वर्णन इस प्रशस्ति में मिलता है। प्रधान मूर्ति के लिए रत्न जटिल स्वर्ण मुकुट दिया गया। इस मुकुट के मध्य में बहुत बड़ा मणि जड़ा हुआ था। राजा ने देव-मूर्ति के लिए पन्नों का हार तथा गले के लिए रत्नों से विभूषित सोने की माला प्रदान की थी। बाहुओं के लिए अनेक बहुमूल्य रत्नों से जटित केयूरों की जोड़ी तथा रत्न-जटित चार कंकण दिए थे।[४३] अनिरुद्ध की प्रतिमा के लिए भी अलंकारों की व्यवस्था की गयी थी।[४४] अच्युत के लिए चार कंकण, एक जोड़ी तालपट्ट या (तालपत्र) और सोने की मूठयुक्त, कृत्तिदार दिये। चाँदी के तारों से बुना हुआ अंगा (अंगालिहा) तथा कचौला मूर्ति के लिए दिया गया।[४५]

इन प्रतिमाओं के ऊपर सुन्दर छत्र की व्यवस्था की गयी। तीन प्रहरी मूर्तियाँ बनाई गयी थीं। उनके हाथों में तीन स्वर्णदण्ड लगाये गये थे। इन स्वर्ण-दण्डों के ऊपर यह छत्र स्थापित किया गया था। इसके नीचे सोने का कमल बना हुआ था।[४६] अनिरुद्ध की मूर्ति के लिए यह व्यवस्था की गयी थी कि उसका स्नान सदा ताँबे की परात (ताम्रपट्ट) में ताँबे के गडुए (गंगासागर) से कराया जायगा।[४७]

मन्दिर की पूजा एवं धर्मोपदेश के लिए राजा ने अनेक विद्वानों और पण्डितों की व्यवस्था की थी। सर्व साधारण का ध्यान मन्दिर की ओर आकर्षित करने के लिए प्रेक्षण-नाट्य, नृत्य-संगीत की भी व्यवस्था की गयी थी। इसके लिए विलासिनी (गायिकाएँ एवं नर्तकियां), वादक, आदि की भी व्यवस्था की गयी थी। इनके द्वारा भगवान पद्मनाथ के समक्ष सभा-मण्डप में प्रदर्शन किये जाते थे और उसे देखने के लिए सर्वसाधारण उपस्थित हो सकते थे।[४८]

मन्दिर की उपर्युक्त व्यवस्था के लिए आवश्यक धन जुटाने के उद्देश्य से पाषाणपल्ली नामक एक पूरा ग्राम, उससे प्राप्त समस्त कर तथा स्कन्धवाटपीट और धरती के ऊपर आकाश तथा नीचे पाताल तक उस ग्राम से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ मन्दिर को अर्पित कर दिये गये। इस ग्राम में नमक की खदान (लवणाकर) भी थी, उसकी आय भी मन्दिर को दे दी गयी थी। ग्राम की आय के तीस भाग किये गये। इनमें से साढ़े पाँच भाग मन्दिर के देवताओं के व्यय (नैवेद्य, आरती, उत्सव आदि) के लिए सुरक्षित रखे गये। शेष साढ़े चौबीस भाग सूरियों, ब्राह्मणों, पुजारियों में यथास्थान बांटने की व्यवस्था की गयी।[४९]

---

४३. वही, श्लोक ८६-८८
४४. वही, श्लो० ८९
४५. वही, श्लो० ९०-९१
४६. वही, श्लो० ९२
४७. इ० ए०, भाग १५, पृ० ४०, श्लो० ९३; वही
४८. वही, पृ० ३९, श्लो० ९४
४९. वही, पृ० ३९-४०, श्लो० ७५-७६

तिथि

मन्दिर के अभिलेख से पता चलता है कि इसका निर्माण कार्य कच्छपघात वंशी राजा पद्मपाल के शासनकाल में ही प्रारम्भ किया गया था, किन्तु दुर्दैव से उसकी मृत्यु युवावस्था में ही हो गयी और मन्दिर का कार्य पूर्ण नहीं किया जा सका। पद्मपाल के पश्चात् उसके भ्राता का पुत्र महीपाल 'भुवनैकमल्ल' सिंहासनारुढ़ हुआ।[५०] राज्याभिषेक के समय उसके द्वारा की गयी दो प्रतिज्ञाओं में से प्रथम पद्मनाथ मन्दिर का शेष कार्य पूर्ण कराने की थी।[५१] अपनी इस प्रतिज्ञा का निर्वाह उसने बड़े प्रशंसनीय ढंग से किया। इस प्रकार अभिलेख से स्पष्ट है कि महीपाल का कार्य मन्दिर के अवशिष्ट भाग को पूर्ण कराने का ही था, न कि उसके निर्माण को प्रारम्भ कराने का, जिसे उसने सिंहासनारोहण के तुरन्त बाद पूर्ण कर लिया। मन्दिर में स्थापित अभिलेख की तिथि वि० सं० ११५० (१०९३ ई०) दी गयी है।[५२] अतः इसके निर्माण का कार्य इस तिथि तक अवश्य पूर्ण कर लिया गया होगा।

लगभग १२०० ई० के आस-पास कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा गोपाचल गढ़ पर अधिकार कर लेने के पश्चात् इस मन्दिर की समस्त मूर्तियाँ, देवोपकरण, स्वर्ण, रत्न-भण्डार मुसलमानों के अधीन हो गये। इसका उत्तुंग शिखर तोड़ दिया गया और समस्त मूर्तियों को खण्डित कर उन पर चूना थोप दिया गया। इसका उपयोग लोगों के निवास के लिए किया जाने लगा। संभवतः भूमिगत खजाने की खोज में किसी लोभी ने इसके सभा-मण्डप में लगभग ३ मी० गहरा गड्ढा खोद दिया था। कनिंघम ने इस गड्ढे को भरवाया, टूटे वेदीबन्ध की मरम्मत करवायी तथा चिटके हुए भारपट्टों-सरदलों में स्तम्भ लगवाये और सीढ़ियाँ बनवा दीं।[५३] मेजर कीथ ने मूर्तियों पर थोपा गया चूना साफ करवाया। माधवराव सिंधिया द्वितीय के समय में भी इसकी कुछ मरम्मत की गयी। वर्तमान समय में यह भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली द्वारा संरक्षित स्मारक है। अनेक द्वेषपूर्ण मानवीय विध्वंशक प्रवृत्तियों, असहिष्णुताओं तथा वर्षा, धूप आदि प्राकृतिक आपदाओं को इतने लम्बे समय तक सहन करते हुए यह मन्दिर आज भी जिस रूप में उपलब्ध है, उसे भारतीय स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प का एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

बहू (छोटा) मन्दिर

यह सास (बड़ा) मन्दिर की अपेक्षा कच्छपघात शैली का छोटा उदाहरण है (चित्र सं०२०)। यह मन्दिर भी पूर्वी प्राचीर के निकट पहाड़ी के बाहर निकले हुए भाग पर सास मन्दिर के पूर्व में स्थित है। रचना एवं अलंकरण में यह बड़े मन्दिर की लघु अनुकृति प्रतीत होता है। इसका निर्माण भी कच्छपघात शैली के अन्य मन्दिरों की परम्परा का अनुसरण करते हुए किया गया है। सूक्ष्मकणों के बलुआ पत्थरों से निर्मित यह मन्दिर भगनावस्था में होते हुए भी स्थापत्य एवं शिल्पकला की अनुपम कलाकृति है।

---

५०. इ० ए०, भाग १५, पृ० ३७, श्लो० ३०; वही
५१. वही, पृ० ३९, श्लो० ६९-७०
५२. वही, पृ० ३९, श्लो० १०८
५३. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४१

तलछन्द

सास मन्दिर की भाँति इसका भी प्रवेशद्वार उत्तराभिमुख है। इसका तलछन्द इस युग के अन्य मध्यदेशीय सामान्य मन्दिरों जैसा ही है। गर्भगृह, अन्तराल, सभा-मण्डप तथा मुख-चतुष्की का निर्माण इसमें भी किया गया है, किन्तु वर्तमान समय में इसका गर्भगृह पूरी तरह से नष्ट हो चुका है। वर्गाकार रंगमण्डप या सभामण्डप (७ मी० X ७ मी०) सास मन्दिर की भाँति विशाल एवं विस्तृत नहीं है। इसके पूर्व और पश्चिम में पार्श्व मण्डप या मुखमण्डप जोड़े गये हैं। मुखचतुष्की का आकार भी वर्गाकार (२.५ मी० X २.५ मी०) है। अन्तराल का परिमाप २ मी० X १.५ मी० है (रेखाचित्र सं० ४)।
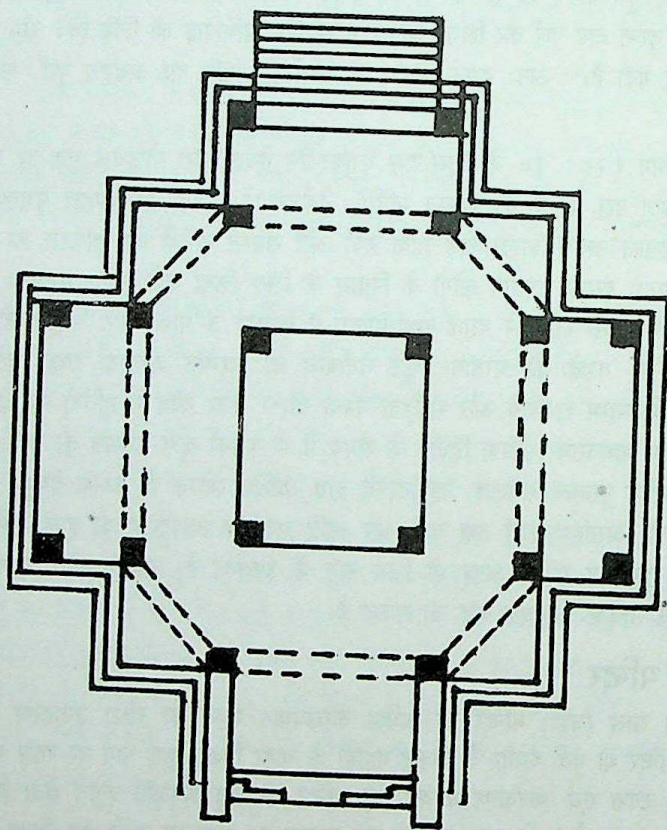
रेखा चित्र संख्या ४.तलछन्द, बहू मन्दिर
(साभार, कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २)

प्रासाद पीठ

कच्छपघात शैली के अन्य मन्दिरों में यद्यपि ऊँची जगती का निर्माण किया गया है, किन्तु इस मन्दिर में उक्त परम्परा से हटकर बहुत नीची एवं सादी जगती बनाई गयी है। सास मन्दिर की भाँति ही इसमें भी दो अलंकृत भिट्टों के ऊपर जाड्यकुम्भ, कर्णिका, ग्रासपट्टी, गजथर और नरथर से प्रासादपीठ की रचना की गयी है। प्रथम भिट्ट मणिबन्ध अथवा रत्नपट्टी तथा द्वितीय भिट्ट अन्य अलंकरणों से सुशोभित है (रेखाचित्र सं० ५)।
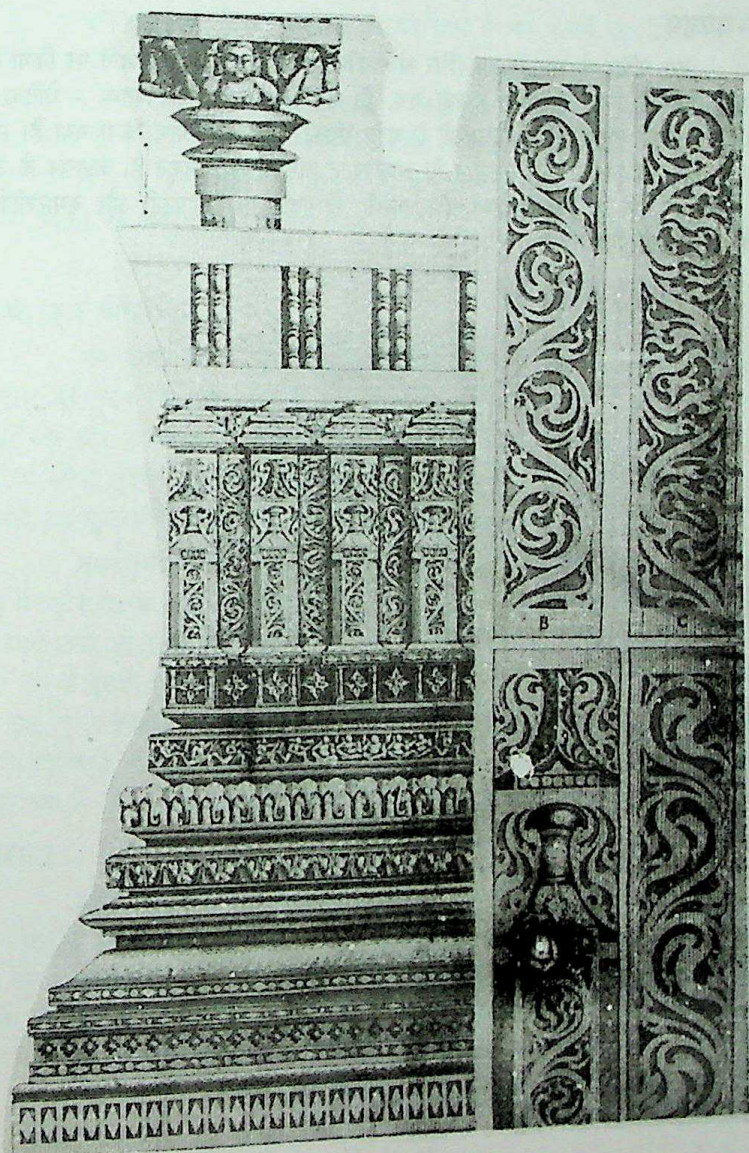
रेखा चित्र संख्या ५.प्रासादपीठ, बहू मन्दिर

ऊर्ध्वछन्द

मन्दिर का गर्भगृह तथा उसके ऊपर का शिखर पूर्णरूपेण नष्ट हो चुका है। अतः उसकी संरचना एवं अलंकरण के सम्बन्ध में कोई अनुमान लगा पाना कठिन है, किन्तु प्रासादपीठ और सभामण्डप की विकसित निर्माण-योजना एवं अलंकरण शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन अन्य मन्दिरों की भाँति इसमें भी मूल प्रासाद का वेदीबन्ध खुर, कुम्भ, कलश, अन्तरपत्र, कपोत और मञ्चिका से, जंघा देवी-देवताओं से युक्त रथिकाओं, व्याल, सुर-सुन्दरी, अप्सरा एवं अष्टदिक्पालों से तथा शिखर उरश्रृंगों व कूटश्रृंगों तथा शुकनास आदि से अलंकृत रहा होगा।

सभा-मण्डप

इस मन्दिर के सभा-मण्डप (चित्र सं० २०) का निर्माण शास्त्रीय पद्धति पर किया गया है। प्रासाद पीठ के ऊपर राजसेनक बनाया गया है। उसके ऊपर अलंकृत स्तम्भ - वेदिका है। सास-मन्दिर में इसके स्थान पर देवी-देवताओं से युक्त रथिका पंक्ति का निर्माण किया गया है। स्तम्भ -वेदिका के ऊपर आसनपट्ट और कक्षासन है। आसनपट्ट ताड़पत्रों से अलंकृत है। कक्षासन के ऊपर मण्डप का खुला भाग है, जिसमें स्तम्भ-यष्टि, भरणी, शिरावटी या शिरःपट्टी और कुमारशीर्ष या भारपुत्रक प्रदर्शित हैं (रेखाचित्र सं० ६)।
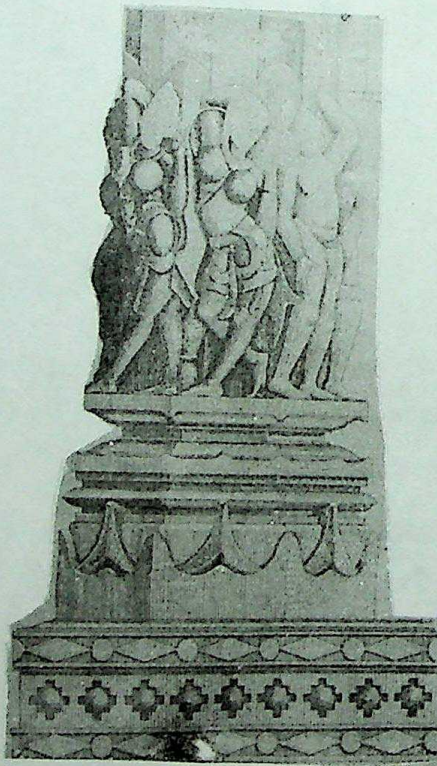
रेखा चित्र संख्या ६ .स्तम्भ, बहू मन्दिर

स्तम्भों के ऊपर छाद्य या छज्जा है तथा उसके ऊपर देवी-देवताओं से युक्त रथिका-पंक्ति और संवरणा छत बनायी गयी है। सभामण्डप का भीतरी विस्तार उत्तर-दक्षिण में ७ मी० तथा पूर्व पश्चिम में भी ७ मी० वर्गाकार है। इसके पूर्व और पश्चिम में २ मी० X १.५ मी० विस्तार के अर्धमण्डप हैं (रेखाचित्र सं० ४)। मध्य में चार स्तम्भों तथा आठ बाह्य स्तम्भों पर आधारित अलंकृत वितान सुशोभित है। इस प्रकार यह सास मन्दिर के सभा-मण्डप की अपेक्षा छोटा होते हुए भी अलंकरण एवं योजना की दृष्टि से पूर्णतः विकसित मण्डप है।

वितान

सभा-मण्डप का वितान वृत्ताकार है। यह मध्य के चार स्तम्भों तथा आठ बाह्य स्तम्भों पर आधारित है। मध्य के चारों स्तम्भ सम्पूर्ण वितान को दो भागों में विभाजित करते हैं। मध्य के नाभिछन्दक का आकार वर्गाकार है, जबकि बाहर के आठों स्तम्भों से वितान का स्वरूप अष्टकोणीय प्रदर्शित होता है। इस बाह्य वितान को क्रमशः तीन कर्णदर्दरिका तथा तीन गजतालु पट्टियों से सजाया गया है। मध्य वितान अर्थात् नाभिछन्दक को तीन कोलथरों से सजाया गया है। मुखचतुष्की के वर्गाकार वितान को कर्णदर्दरिका, गजतालु पट्टी तथा दो अलंकृत कोलथरों से सुशोभित किया गया है।

स्तम्भ एवं भारपट्ट

सभा-मण्डप मध्य के चार स्तम्भों तथा बाहर के आठ स्तम्भों पर आधारित है। इसी प्रकार अन्तराल, अर्धमण्डप और मुखचतुष्की के लिए भी स्तम्भों का निर्माण किया गया है। इनके निचले भाग को कुम्भिका और घटपल्लव से अलंकृत किया है। स्तम्भ-यष्टि का नीचे का भाग अष्टफलीय तथा ऊपर का सोलह फलीय है। मध्य भाग में तीन वृत्ताकार गढ़ने हैं। स्तम्भ के ऊपरी भाग में भरणी, शिरावटी तथा कुमारशीर्ष निर्मित किए गये हैं, जिनके ऊपर अलंकृत भारपट्ट सुशोभित हैं।

मुखचतुष्की के दोनों बाहरी स्तम्भों में नीचे के भाग में कुम्भिका तथा ऊपर के अष्टफलीय हिस्से में प्रत्येक फलक पर त्रिभंग तथा अतिभंग मुद्रा में आठ अप्सराओं का अंकन है (रेखाचित्र सं० ७)। उसके ऊपर की स्तम्भ-यष्टि सोलह फलीय है जिसके मध्य भाग में तीन वृत्ताकार गढ़ने हैं तथा ऊपरी भाग में भरणी, शिरावटी, देवताओं से युक्त रथिका-शीर्ष हैं। उसके ऊपर स्तम्भ का उच्चालक भाग तथा कुमार शीर्षकों का अलंकरण है, जिनके ऊपर अलंकृत भारपट्ट रखे हैं। भारपट्टों को विभिन्न शोभांकनों, पत्रावली, ग्रासमुख, रत्न, दन्तुरिका तथा देवी-देवताओं से युक्त रथिका-पंक्ति से सजाया गया है।

संवरणा

सभा-मण्डप की छत को संवरणा द्वारा अलंकृत किया गया है (चित्र सं० २०)। सास-मन्दिर के सभा-मण्डप की भांति इसमें भी बहुत से घण्टा और कूट टूट कर नष्ट हो चुके हैं, किन्तु यह अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित अवस्था में हैं। प्रासादमण्डन के विवरण के अनुसार ही इसमें भी संवरणा की रचना के लिए सर्वप्रथम मुख्य घण्टा के चारों ओर चार घण्टियों का निर्माण करके प्रत्येक

दिशा में एक-एक घण्टिका की वृद्धि करते हुए उसका विस्तार किया गया है तथा सभी घण्किाओं के चतुर्दिक चार-चार कूटों की रचना करते हुए उन्हें मुख्य घण्टा की ओर विकर्णवत सजाया गया है।

प्रवेश-द्वार

सास मन्दिर के समान इसमें सभा-मण्डप के सामने कोई प्रवेशद्वार नहीं निर्मित किया गया है। गर्भगृह के सामने का प्रवेशद्वार पाँच द्वार-शाखाओं से अलंकृत है। इनमें पहली मृणालशाखा, दूसरी पत्रशाखा, तीसरी स्तम्भ-शाखा, चौथी पत्रावली तथा पाँचवीं खल्वशाखा है। इसके उदुम्बर को तीन भागों में विभक्त कर मध्य में अर्धचन्द्राकार मन्दारक तथा उसके एक ओर की रथिका में गणेश-विघ्नेश्वरी तथा दूसरी ओर की रथिका में कुबेर - हारीति अपने-अपने गणों के साथ अंकित हैं। उत्तरंग को पाँच भागों में विभक्त कर, उसके मध्य में गरुड़ारूढ़ चतुर्भुजी विष्णु तथा दाहिनी ओर वेद लिए हुए ब्रह्मा और बाँयी ओर त्रिशूलधारी शिव विराजमान हैं। इन तीनों देवताओं के बीच में नवग्रहों का अकंन है। चौखट के नीचे द्वारपालों तथा नाग-नागियों को अलंकृत किया गया है।

मूलनायक

गर्भगृह तथा उसकी मूल प्रतिमा के अभाव में यह अनुमान लगा पाना कठिन है कि बहू मन्दिर किस देवता को समर्पित था। प्रवेशद्वार के उत्तरंग पर अंकित देवत्रयी-ब्रह्मा, विष्णु और महेश में केन्द्रीय स्थान गरुड़ासीन चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा को प्राप्त है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मन्दिर भी भगवान विष्णु अथवा वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित था।

तिथि

सास-बहू मन्दिरों के सामने ध्वज-स्तम्भ के निकट ही पूर्वी प्राचीर के पश्चिमी भाग में अन्य पाषाण-खण्डों के साथ एक अभिलेख युक्त शिलापट्ट भी लगा है। इसमें कई स्थलों पर लेख-पंक्तियाँ नष्ट हो गयी हैं तथा शिलापट्ट के नीचे का भाग भी खण्डित है। अभिलेख की लिपि सास मन्दिर के शिलालेख के समकालीन प्रतीत होती है। इसकी चौथी पंक्ति में लक्ष्मण राजदेव तथा आठवीं पंक्ति में रत्नपाल नाम पठनीय है। इस प्रकार यह कच्छपघात शासक लक्ष्मण के वंशज रत्नपाल से सम्बन्धित प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि यह बहू मन्दिर के ही किसी भाग में लगा रहा हो, क्योंकि मन्दिर इसके बहुत निकट स्थित है। यह भी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि मन्दिर का निर्माण पद्मपाल के वंशज रत्नपाल ने ही करवाया हो। अभिलेख में कोई तिथि अंकित नहीं है। बहू मन्दिर में भी कोई अन्य तिथि युक्त अभिलेख उपलब्ध नहीं है। अतः इसके निर्माण का निश्चित समय निर्धारित कर सकना कठिन है। शैलीगत विशेषताओं एवं अलंकरण में समानता के आधार पर इसे सास मन्दिर (१०९३ ई०) का समकालीन माना जा सकता है।

बहू मन्दिर का स्वरूप लघु होते हुए भी स्थापत्य एवं शिल्पकला की दृष्टि से कच्छपघातकालीन मध्यदेशीय मन्दिरों में इसका प्रमुख स्थान है। इस समय तक मन्दिर निर्माण कला चरमोत्कर्ष पर थी, किन्तु उनकी रचना के लिए वास्तुकार स्वच्छन्द नहीं थे। परम्परा एवं शास्त्र दोनों का अनुसरण उनके लिए अनिवार्य था। बहू मन्दिर में भी इसकी झलक स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। यहाँ शिल्प एवं वास्तुशास्त्रीय विधानों और परम्पराओं का अनुपालन करते हुए भी कलाकार की सौन्दर्यानुभूति अत्यन्त सजीवता के साथ प्रकट हुई है।

शिव-मन्दिर

कच्छपघात राजाओं के शासनकाल में ही दुर्ग पर किसी शैव मन्दिर के निर्माण का संकेत एक अभिलेख से मिलता है, जिसमें संवत ११६४ (११०४ ई०) तिथि अंकित है, किन्तु मन्दिर का पता नहीं है।[५४] कनिंघम ने इसकी पहचान सूरजकुण्ड के दक्षिण-पूर्व में स्थित मातादेवी मन्दिर से करने का प्रयास किया है।[५५] परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि मातादेवी मन्दिर अपेक्षाकृत बाद की रचना प्रतीत होती है। जहाँगीर मन्दिर के प्रांगण में एक आधुनिक महादेव मन्दिर विद्यमान है, जिसमें एक शिवलिंग स्थापित है। प्रांगण के मध्य भाग में शिव मन्दिर की उपस्थिति उसकी किसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करती है। सम्भव है उक्त अभिलेख में उल्लिखित शिव मन्दिर यहीं पर स्थित रहा हो, जिसके मूल स्वरूप को कनिंघम के अनुसार १६वीं शताब्दी ई० में शेरशाह ने तुड़वाकर अपना निवास स्थान (महल) बनवाया होगा।[५६]

जैन मन्दिर

दुर्ग की पूर्वी प्राचीर के निकट हाथी पौर तथा सास-बहू मन्दिरों के मध्य कहीं पर कनिंघम को १८४४ ई० में एक जैन मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए थे। उन्होंने स्वयं इस मन्दिर का उत्खनन करवाकर वि० सं० ११६५ (११०८ ई०) का एक अभिलेख तथा कुछ जैन मूर्तियाँ प्राप्त की थीं।[५७] उनके अनुमान के अनुसार इस मन्दिर की लम्बाई कम से कम ६९ फुट तथा चौड़ाई ३५ फुट अवश्य रही होगी। दक्षिणी दीवार में मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए पाँच रथिकाओं का निर्माण किया गया था तथा उसके सामने उत्तर की ओर ६ स्तम्भों की छः पंक्तियाँ निर्मित की गयी थीं (रेखाचित्र सं० ७)।[५८]
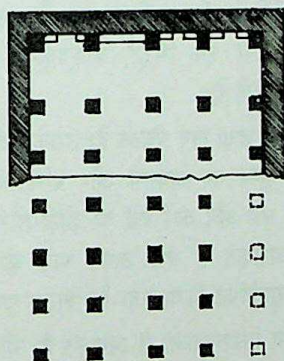
रेखा चित्र संख्या ७.तलछन्द, जैन मन्दिर

५४. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३६४

५५. वही

५६. वही

५७. वही, पृ० ३६२-३६३

५८. वही

मन्दिर की दक्षिणी दीवार में निर्मित पाँच रथिकाओं में से एक रथिका में पद्मासन में बैठे पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित थी, जिसके शीर्ष पर सात सर्पफणों का घटाटोप तथा दोनों पार्श्वों में एक-एक चतुर्भुजी स्त्री प्रदर्शित थी। दूसरी रथिका में कायोत्सर्गमुद्रा में खड़ी दो तीर्थंकर प्रतिमाएँ थीं। एक अन्य रथिका में भी तीर्थंकरों की बैठी हुई दो प्रतिमाएँ स्थापित थीं। शेष दो रथिकाएँ रिक्त थीं।[५९]

उत्खनन से पूर्व धरातल के ऊपर मन्दिर का एक कक्ष (३५ फुट X १५ फुट), उसकी दीवारें तथा प्लास्टर युक्त वृत्ताकार स्तम्भों की तीन पंक्तियाँ दिखलाई पड़ती थीं। ऐसा कहा जाता है कि इसका प्रयोग पहले मस्जिद के रूप में किया जाता था, किन्तु कालान्तर में सन् १८४८ ई० से यह भण्डारगृह के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। स्तम्भों के टूटे हुए प्लास्टर के नीचे कनिंघम को कुछ नष्टप्राय अलंकरणों के अवशेष दिखलाई पड़े। भवन की सतह के नीचे का भाग भी पोला था। अतः उन्होंने इसका उत्खनन करवाया, जिससे उत्तरी भाग में ऊपर की ही भाँति एक भू-तल प्रकाश में आया और दक्षिण की ओर रथिकाओं से युक्त एक दीवार के अवशेष प्राप्त हुए। रथिकाओं में जैन प्रतिमाएँ तथा संवत् ११६५ (११०८ ई०) का एक अभिलेख उत्कीर्ण था। अस्पष्ट होने के कारण लेख पढ़ा नहीं जा सका किन्तु उसकी तिथि तथा पद्मासन में बैठी एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी जैन प्रतिमाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि यह भवन संवत् ११६५ (११०८ ई०) में निर्मित एक जैन मन्दिर के अवशेष थे।[६०] वर्तमान समय में यह मन्दिर पूर्णरूपेण नष्ट हो चुका है और यह भी निश्चित कर पाना कठिन है कि मन्दिर की वास्तविक स्थिति कहाँ पर थी।

माता देवी मन्दिर

यह मन्दिर सूर्यकुण्ड के दक्षिणी-पूर्वी कोने पर पहाड़ी के मध्य भाग में स्थित है (चित्र सं० २०)। मन्दिर का निर्माण एक ऊँची जगती पर किया गया है। इसका प्रवेश-द्वार पूर्व की ओर तथा गर्भगृह वर्गाकार है। जगती के ऊपर एक भिट्ट, जाड्यकुम्भ, कर्णिका और ग्रासपट्टी का अलंकरण कर प्रासादपीठ की रचना की गयी है।

मन्दिर का मण्डोवर अथवा जंघा भाग पंचरथ है। उसके वेदीबन्ध को खुर, कुम्भ, कलश और कपोतालि से सजाया गया है। कुम्भ पर अर्धरत्न और मणिबन्ध तथा कलश पर रत्नपट्टी सुशोभित है। मञ्ची के ऊपर जंघा के भद्र और कर्ण रथों पर छोटी-छोटी रथिकाओं का निर्माण किया गया है, जिनके शीर्ष उद्‌गमों से अलंकृत हैं तथा ऊपरी भाग को अर्धपद्म, उद्‌गम, भरणी, शिरपट्टी, अन्तरपट्ट और छाद्य से सुशोभित किया गया है। शिखर पूर्णतः नष्ट हो गया है।

गर्भगृह का प्रवेशद्वार सप्त द्वारशाखाओं से अलंकृत है। चौखट के नीचे प्रतिहार-प्रतिहारी तथा अन्य अनुचरों का अंकन दर्शनीय है। उत्तरंग के ललाटबिम्ब पर बैठे हुए गणेश अंकित हैं। उदुम्बर के मध्य मन्दारक की अर्धचन्द्रिका पर कमलनाल तथा उसके दोनों ओर दो गज उत्कीर्ण किये गये हैं। उसके दोनों ओर की रथिकाओं में क्रमशः एक-एक देव-प्रतिमा प्रदर्शित है।

---

५९. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३६२-३६३

६०. वही

गर्भगृह का भीतरी भाग सादा है। वर्तमान समय में इसमें अष्टभुजी सिंहवाहिनी दुर्गा की अपेक्षाकृत नवीन प्रतिमा स्थापित है जिसके कारण इसे 'देवी' या 'माता देवी का मन्दिर' कहा जाता है। परन्तु यह मन्दिर की मूल प्रतिमा नहीं प्रतीत होती है। इसे सम्भवतः बाद में कहीं से लाकर स्थापित कर दिया गया है। ललाटबिम्ब पर गणेश का अंकन इस युग की सामान्य विशेषता थी। जंघा की रथिकाओं की मूर्तियाँ भी खण्डित हो चुकी हैं। अतः गर्भगृह की मूल प्रतिमा के अभाव में मन्दिर के मुख्य देवता की पहचान कर पाना कठिन है।

वि० सं० ११६१ (११०४ ई०) तिथ्यांकित किसी शैव मन्दिर का एक अभिलेख कनिंघम को उरवाही-द्वार के निकट से प्राप्त हुआ था।[६१] उन्होंने माता देवी मन्दिर को बारहवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में निर्मित हुआ मानकर उसे उक्त अभिलेख में उल्लिखित शैव मन्दिर से समीकृत करने का प्रयास किया है।[६२] परन्तु उनकी यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि सास-बहू मन्दिर (१०९३ ई०) और अभिलेख में उल्लिखित शिव मन्दिर (११०४ ई०) के रचनाकाल में मात्र ११ वर्ष का अन्तर था, जबकि सास-बहू मन्दिर तथा माता देवी मन्दिर की अलंकरण शैली में पर्याप्त भिन्नता है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि मातादेवी मन्दिर का शिल्पांकन ह्रास की ओर अधिक उन्मुख है तथा उसमें अलंकरण की वह अभिव्यक्ति नहीं मुखर हो सकी है, जो कच्छपघात शैली के विकसित मन्दिरों में मिलती है। इसके वेदीबंध के कुम्भ पर अंकित अर्धरत्न और मणिबन्ध तथा रथिकाओं के शीर्ष और जंघा के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण उद्‌गमों की अलंकरण शैली, प्रवेशद्वार की सज्जा तथा ललाटबिम्ब पर अंकित गणेश प्रतिमा अपेक्षाकृत बाद की लगभग १२वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध अथवा १३वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में निर्मित प्रतीत होती है। इस प्रकार माता देवी मन्दिर कच्छपघात शैली के मन्दिरों की अवनत दशा को प्रदर्शित करता है तथा तत्कालीन मन्दिर वास्तु के विकास-क्रम के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

---

६१. कनिंघम, आ० स० रि० भाग २, पृ० ३६४

६२. वही

5

मन्दिर का अलंकरण एवं उसके विविध माध्यम

ग्वालियर दुर्ग के मन्दिरों को अलंकृत करने के लिए अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों, सुर-सुन्दरी, गंगा-यमुना, नवग्रह, अष्टदिक्पाल, सप्त-मातृकाएँ, मिथुन, कीर्तिमुख, व्याल, घटपल्लव, नाना प्रकार के वानस्पतिक व ज्यामितीय चित्र तथा परम्परा से चले आ रहे अनेकानेक मांगलिक चिह्नों को चुना गया है।

प्राचीन भारत में मन्दिरों के साथ शिल्प का सम्बन्ध तो लगभग दूसरी-पहली शताब्दी ई० पूर्व में निर्मित ध्वजस्तम्भों से ही प्रारम्भ हो जाता है। बेसनगर का गरुड़ध्वज स्तम्भ किसी मन्दिर के सामने ही निर्मित किया गया होगा, किन्तु मन्दिरों में अलंकरण की परम्परा का आरम्भ प्रायः गुप्तकाल से ही देखने को मिलता है। इनके प्रवेशद्वारों की चौखट के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा तथा कूर्मवाहिनी यमुना अंकित की गयी हैं। इसके अतिरिक्त गण, मिथुन, द्वारपाल, उड़ते हुए हंस (मांगल्यविहग), श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, पूर्णघट, पुष्पपत्र, व्याल, कीर्तिमुख आदि शुभ प्रतीकों को भी चित्रित किया गया है। छतों पर फुल्लकमल (पदुमक) उत्कीर्ण किए गये हैं तथा स्तम्भों में आधार या कुम्भिका के ऊपर घटपल्लव, उसके ऊपर स्तम्भ-यष्टि जिसका नीचे का एक तिहाई भाग चौकोर, उसके ऊपर अठपहलू तथा सोलह पहलू है। स्तम्भ-यष्टि के ऊपर पुनः घटपल्लव निर्मित हुआ है, जिसके ऊपर चौकोर बैठकी पर पीठ से पीठ मिलाये दो सिंहों का अंकन है तथा यष्टि के चारों ओर जंजीर से लटकता हुआ घंटा प्रदर्शित है। देवगढ़ के दशावतार तथा भीतरगाँव मन्दिर के जंघा भाग को देव प्रतिमाओं से युक्त रथिकाबिम्बों से सुशोभित किया गया है। गुप्तकालीन मन्दिरों को अलंकृत करने के लिए जिन मूर्तियों का निर्माण किया गया है, उनका कला-सौष्ठव उस काल में स्वतन्त्र रूप से निर्मित मूर्तियों के समान ही स्वाभाविकता, सहजता और सौम्यता से परिपूर्ण है। इनके मूर्तन में तत्कालीन कलाकार उतना ही सफल रहा है, जितना स्वतन्त्र रूप से निर्मित मूर्तियों में। इनका मुखमण्डल न तो शुंगकाल की मूर्तियों की तरह चिपटा है और न कुषाणकाल की तरह गोल अपितु उनके सुडौल चेहरे पर दिव्यता का भाव प्रदर्शित हुआ है। स्त्री और पुरुषों के कुंचित केश कंधों तक लटकते हुए प्रस्तुत हुए हैं। कभी-कभी कृत्रिम केशों का भी प्रयोग हुआ है। इस काल की सभी मूर्तियों के चेहरो पर उनके आन्तरिक भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं। उनका सुगठित मांसल शरीर, स्निग्धता, उल्लसित यौवन स्वाभाविकता को लिए हुए है। देदीप्यमान मुखड़ा, अर्धोन्मीलित नेत्र प्रत्यक्ष संसार को देखने की अपेक्षा अन्तरंग की अनुभूति को प्रदर्शित करता हुआ जान पड़ता है। गुप्तकालीन कलाकारों को नारी सौन्दर्य की सच्ची अनुभूति थी। उन्होंने नायिकाओं के छरहरे एवं सुन्दर शरीर, स्मित हास, क्षीण कटि, चंचल हिरणी के समान आँखें, पृथु नितम्ब और स्तनों के भार से थोड़ा आगे को झुके शरीर का पाषाण में सजीव अंकन किया है। मुखमण्डल पर स्फुटित हो रहा तेज न केवल देवी-देवताओं में अपितु सामान्य स्त्री-पुरुषों के चेहरों पर भी प्रकट हुआ है।

गुप्तोत्तरकाल में परिवार देवताओं की अभिवृद्धि और पौराणिक कथाओं के चित्रण से मन्दिरों में मूर्तियों का अलंकरण बढ़ गया। आठवीं-नवीं शताब्दी ई० के गुर्जर-प्रतिहारकालीन मन्दिरों के जंघा भाग को देवी-देवताओं से युक्त रथिकाओं की एक पंक्ति से सजाया गया है। इन रथिकाओं में सामान्यतः गणेश, कार्तिकेय, लकुलीश, पंचाग्नि तप करती हुई पार्वती, सूर्य आदि का अंकन मिलता है। साथ ही प्रवेशद्वारों पर गंगा-यमुना, द्वारपाल तथा अनुचरों को भी प्रदर्शित किया गया है। ये मूर्तियाँ गुप्तकालीन परम्परागत शैली में ही चित्रित हुई हैं, किन्तु इनके लांछनों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है। चेहरे के भाव, शारीरिक गठन तथा वस्त्राभूषण आदि सब गुप्तकालीन ही हैं। तेली मन्दिर के प्रवेशद्वार पर अंकित गंगा-यमुना, शैवद्वारपाल तथा अन्य अनुचर प्रतिहारकालीन मूर्तिशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं (चित्र सं० ९)। इस युग के प्रवेशद्वारों को सामान्यतः तीन या पाँच द्वारशाखाओं से अलंकृत किया गया है। नागशाखा में नागों की पूँछ ललाटबिम्ब पर स्थित गरुड़ के हाथों में प्रदर्शित है। गुप्तकालीन मन्दिरों की भाँति इनमें भी प्रवेशद्वारों की चौखट पर नीचे गंगा-यमुना के साथ उड़ते हुए मांगल्य विहग, मालाधर विद्याधर, मिथुन, श्रीवृक्ष, पूर्णघट, कीर्तिमुख, व्याल आदि चित्रित किए गये हैं। मन्दिरों का वेदीबन्ध खुर, कुम्भ कलश, अन्तरपत्र और कपोतालि से अलंकृत है। जंघा भाग को देवप्रतिमाओं से युक्त छोटी-छोटी रथिकाओं से अलंकृत किया गया है। रथिकाओं के शिरोभाग में चन्द्रशालाओं से अलंकृत उद्गमों का निर्माण किया गया है। जंघा के ऊपर मन्दिर के चारों ओर किंकिणीजाल सुशोभित है। शिखर को उद्गमों से अलंकृत कर उसके कर्ण भाग पर कपोतों और भूमि-आमलकों का अंकन किया गया है। इन मन्दिरों का भीतरी भाग सादा है। स्तम्भों में कुम्भिका के ऊपर घटपल्लव तथा उसके ऊपर चौकोर स्तम्भ-यष्टि है, जिसके चारों ओर ग्रासमुख से निकलती हुई किंकिणिका अंकित है। यष्टि के ऊपर पुनः घटपल्लव निर्मित है। स्तम्भ के शीर्षभाग में चौकोर आमलक तथा भारपुत्रकों को चित्रित किया गया है।

१०वीं-१२वीं शताब्दी के मन्दिरों में पौराणिक कथाओं तथा परिवार देवताओं के अंकन की परम्परा में और अधिक वृद्धि हुई। यहाँ तक कि इनके भीतर और बाहर के प्रत्येक स्थान को किसी न किसी अलंकरण द्वारा अवश्य सजाया गया है। इस काल के मन्दिरों के जंघा भाग देवी-देवताओं से युक्त सामान्यतः दो या तीन पंक्तियों से अलंकृत हैं। इन देवताओं को विभिन्न रूपों, अनेक भुजाओं, आयुधों तथा लांछनों से सुसज्जित किया गया है। इस काल में वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन तथा बौद्ध धर्म के अनेक देवी-देवताओं को स्वतन्त्रता पूर्वक एक दूसरे में ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त द्वारपालों, मातृकाओं, योगिनियों, यक्षिणियों तथा असंख्य शासन देवताओं के अंकन से मन्दिरों में मूर्तियों की संख्या में अपार वृद्धि हुई है। इस समय तक वज्रयान, सहजयान, सिद्धियों, नाथपंथियों, योगियों तथा तांत्रिकों के सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हो चले थे, जिनका प्रभाव स्पष्ट रूप से इस काल की मूर्तियों में परिलक्षित होता है। ये मूर्तियाँ गुप्तकालीन प्रतिमाओं की भाँति न तो सहज हैं और न सुन्दर। इनके मुख मण्डल पर वह आध्यात्मिक ओज भी लुप्त हो गया है जो कभी गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प का गौरव था। इनमें अपेक्षाकृत अधिक तीक्ष्णता आ गयी है। इनके नाक-नक्स नुकीले, भौंहें आवश्यकता से अधिक तनी हुई, हाथ, पैर और शरीर सामान्य से कुछ अधिक लम्बे और पतले हैं। ये अधिकांशतः द्विभंग या त्रिभंग मुद्रा में प्रदर्शित हैं। शरीर में मांसलता की अपेक्षा कड़ापन अधिक है। मूर्तियों का अलंकरण इस ढंग से किया गया है, मानो कलाकार ने उन्हें आभूषणों से लाद दिया हो। वस्तुतः इस

काल में शिल्पकार ने देवता की शक्ति का प्रदर्शन उसके आन्तरिक भावों से प्रकट न करके प्रतीकों, लांछनों, आयुधों और अलंकरणों के माध्यम से व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त उसका उद्देश्य मूर्तियों को सुन्दर बनाना नहीं, अपितु उनके द्वारा मन्दिरों को बाहर और भीतर भली-भाँति अलंकृत करना था। यही कारण है कि सुहानिया, पढ़ावली, ग्वालियर आदि के कच्छपघातकालीन मन्दिरों के लगभग प्रत्येक अंग को मूर्तियों से सजाया गया है।

कीर्तिमुख

'कीर्ति' और 'मुख' शब्दों को मिलाकर 'कीर्तिमुख' बना है। प्राचीनकाल में 'कीर्ति' शब्द का प्रयोग 'चैत्यगृह' के लिए किया जाता था और उसके मुखभाग में ऊपर बनने वाली बड़ी खिड़की (गवाक्ष या वातायन) को 'कीर्तिमुख' कहते थे।[१] इसी अनुकृति के छोटे-छोटे कीर्तिमुखों का प्रयोग चैत्यगृह के सामने के भाग को अलंकृत करने के लिए किया जाता था। कालान्तर में उनके भीतर मानवमुख भी निर्मित किये जाने लगे। उदाहरण के लिए अजन्ता के चैत्यगृह (संख्या १९) का सामने का भाग नारी मुखाकृतियों से युक्त वातायनों (कीर्तिमुखों) से अलंकृत है।[२] बाद में मानव मुखों के स्थान पर सिंहाकृतियों का अंकन होने लगा और इन्हें ही 'कीर्तिमुख', कीर्तिवक्त्र, ग्रासमुख (सिंहमुख), पंचवक्त्र आदि नामों से सम्बोधित किया जाने लगा। गुप्तकालीन मन्दिरों के स्तम्भों पर इनको इसी रूप में चित्रित किया गया है। प्रारम्भिक चैत्य खिड़की (गवाक्ष या वातायन) का अलंकरण यद्यपि पूर्व मध्यकालीन और मध्यकालीन मन्दिरों के शिखर की लताओं, रथिका के उद्‌गमों, कपोताली तथा शिखर के सामने की शुकनास पर परम्परागत रूप में मिलता है, किन्तु इस समय तक कीर्तिमुख (सिंहमुख) एक नवीन एवं स्वतन्त्र अभिप्राय के रूप में प्रकट होता है। इसकी मान्यता एक मांगलिक प्रतीक के रूप में हो जाती है और इसका सम्बन्ध अनेक आपदाओं को नष्ट करने वाले भगवान रुद्र (शिव) से स्थापित हो जाता है। ऐसा कहा गया है कि दैत्यराज जालंधर के दूत के रूप में राहु ने शिव के पारिवारिक सदस्यों और उनके वाहनों में परस्पर विवाद उत्पन्न कर महान अशान्ति पैदा कर दी थी, जिसका शमन करने के लिए शिव ने तीन मुख, तीन चरण, तीन पुंज और सात भुजाओं वाले एक अत्यन्त तेजस्वी गण को उत्पन्न किया। इसका नाम कीर्तिमुख पड़ा। अपनी क्षुधा शान्त करने के लिए इसने महादेव की आज्ञा से अपना शरीर ही खा डाला, जिससे प्रसन्न होकर शिव ने उसे अपने प्रासाद में सदैव निवास करने का वरदान दिया और साथ में यह भी कहा कि तुम्हारा ध्यान न रखने वाला व्यक्ति शीघ्र ही पतित होगा।[३]

पूर्व मध्यकाल और मध्यकालीन मन्दिरों में कीर्तिमुख का अंकन स्तम्भों, भारपट्टों, उदुम्बर तथा अन्य अनेक अंगों पर हुआ है। स्तम्भों पर कीर्तिमुख से निकलती हुई जंजीर और घंटा (किंकिणिका) बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रदर्शित की गयी है। मानसार के अनुसार कीर्तिमुख के विशालनेत्र (दीर्घनेत्र), वृत्ताकार कपोल (वृत्त गंडस्थल), हाथी की तरह के विस्तृत कान (गजश्रोतकृति श्रोतं) और कपोलो के अन्त में तरंगवत् रेखाएँ (गंडचान्तेतरंगवत्) होनी चाहिए।[४] अपराजितपृच्छा के

---

१. अग्रवाल, वा० श०, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २४१-२४२
२. तदैव, २४२-२४३
३. पद्मपुराण, उत्तराखण्ड, अ० ११, श्लो० ३६-४३
४. मानसार, १८, १४७-१४८

अनुसार मन्दारक के दोनों ओर तनी हुई भौहों (भृकुट्या कुटिलाक्षं) और दाँतों से युक्त दो कीर्तिवक्त्र (कीर्तिमुख) अलंकृत करने चाहिए। उनके कानों के ऊपर सींग (उपश्रृंग) निकले हों।[५] सहस्रस्तम्भों वाले (सहस्रपाद) शिव प्रासाद का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए वायुपुराण में कहा गया है कि इन स्तम्भों पर नाना प्रकार के सिंहमुखों का अंकन किया जाना चाहिए तथा उन्हें चारों ओर से पृथक्-पृथक् श्रृंखलाओं द्वारा अलंकृत किया जाना चाहिए।[६] सिंहमुख (कीर्तिमुखों) से निकलती हुई श्रृंखलाओं के सम्बन्ध में डा० अग्रवाल का मत है कि हरिवंशपुराण, लिंगपुराण और शिवपुराण में रुद्र और अग्नि को पशुपति शिव का ही रूप माना गया है। अतः यहाँ पर श्रृंखला अग्नि-ज्वालाओं का और सिंहाकृति (ग्रासमुख) पशुपति शिव का प्रतीक है।[७]

ग्वालियर के तेली मन्दिर में वेदीबन्ध के अन्तरपत्र में यत्र-तत्र कीर्तिमुखों का अंकन दर्शनीय है। इस मन्दिर के सामने स्थापित कुछ स्तम्भों पर भी कीर्तिमुख का अलंकरण नानारूपों में हुआ है (चित्र सं० २२)। चतुर्भुज मन्दिर (८७५-७६ ई०) के स्तम्भों, अर्धस्तम्भों पर कीर्तिमुख से निकलती हुई श्रृंखला के साथ घंटे का चित्रण अत्यन्त सजीव बन पड़ा है (चित्र सं० १२)। इसी प्रकार सास-बहू-मन्दिर (१०९३ ई०) के वेदीबन्ध, भारपट्ट, वितान एवं स्तम्भों को भी कीर्तिमुखों की पंक्तियों से सजाया गया है। इससे स्पष्ट है कि ग्वालियर दुर्ग के गुर्जर-प्रतिहार शैली के तथा कच्छपघात शैली के मन्दिरों में कीर्तिमुखों का अंकन विविधता एवं बहुलता के साथ किया गया है।

व्याल

प्राचीनकाल में मानव एवं पशु-आकृतियों को एक दूसरे से मिलाकर व्याल रचना की जाती थी। इनमें किसी पशु के मस्तक को किसी के शरीर से जोड़ दिया जाता था। इस प्रकार के काल्पनिक पशुओं को 'व्याल' कहते हैं। अनेक प्रकार की आकृतियों वाले पशु (व्याल) कला में चित्रित हैं। इनमें सिंहव्याल, गजव्याल, अश्वव्याल, नरव्याल, वृषव्याल, मेषव्याल, शुकव्याल, महिषव्याल आदि उल्लेखनीय हैं। मध्यकालीन शिल्प-शास्त्रों में इनकी संख्या १६ कही गयी है।[८] पुनः प्रत्येक को १६ मुद्राओं में अंकित करने का विधान है। इस प्रकार से व्याल रूपों की संख्या २५६ तक पहुँचती है।[९]

भारतीय कला में इनका अंकन मौर्यकाल से मिलता है। ढाकी ने इन पर अक्केमेनियन प्रभाव माना है।[१०] शुंग-कुषाण, शक-सातवाहन तथा गुप्तकालीन कला में इनका अंकन परम्परागत रूप से पाया जाता है। पूर्वमध्यकाल तथा मध्यकालीन मन्दिरों में जंघाभाग के सलिलान्तरों पर इनकी रचना विविधता के साथ की गयी है। ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर तथा सास-बहू मन्दिर में जंघा भाग की रथिकाओं के दोनों ओर सिंह व्याल अंकित मिलते हैं। (चित्र सं० २३) भारतीय पुराणों के साक्ष्य के आधार पर डा० अग्रवाल का मत है कि ये सब रुद्र के प्रमथ या गण हैं, जिसके मुख और अंगों को

---

५. अपराजित०, १२९, १५-१६
६. वायुपुराण, १०१, २९०-२९१
७. अग्रवाल, वा० श०, स्टडीज़ इन इण्डियन आर्ट, पृ० २३७
८. अपराजित० २३३, ४-६
९. वही
१०. ढाकी, एम० ए०, द व्याल फीगर्स आन द मेडिवल टेम्पुल्स आफ इण्डिया, पृ० ११

विकृत रूप से प्रदर्शित किया गया है।[११] इनकी रचना का उद्देश्य मन्दिरों के सलिलान्तरों को अलंकृत करना भी था।

सुर-सुन्दरी

मनुष्येतर देव योनि में एक वर्ग सुर-सुन्दरी या अप्सराओं का है, जो नृत्य, गायन तथा संगीत में अभिरुचि रखती हैं। ये देवांगनाएँ अपनी सुन्दरता और मोहिनी शक्ति के लिए आदिकाल से ही प्रसिद्ध हैं। नारी सौन्दर्य और आकर्षण का प्रतिनिधित्व करते हुए इनके रूप लावण्य का वर्णन साहित्य में भरा पड़ा है। भारतीय कला में भी नारी के स्वरूप की मनोरम झाँकी प्राचीनकाल से ही देखने को मिलती है। इस दृष्टि से मोहन जोदड़ो से प्राप्त एक नर्तकी की कांस्य प्रतिमा उल्लेखनीय है। शुंग-कुषाण काल की बौद्ध और जैन कला में शालभंजिका, यक्षी तथा अन्य नारी आकृतियाँ विविधता के साथ चित्रित हुई हैं। इनकी क्षीण कटि, चौड़े नितम्ब, सुवर्तुल पयोधर और चंचल नेत्र सहज ही दर्शक का मन मोह लेते हैं। इनके अंकन का उद्देश्य कला एवं सौन्दर्य के प्रति जनसामान्य की अभिरुचि को जागृत करना तथा नारी के विविध कोमल अंगों, क्रिया-कलापों, हास-विलास तथा उल्लासपूर्ण वातावरण को दर्शाकर लोगों में जीवन के प्रति आस्था और विश्वास जागृत करना था। गुप्तकालीन मन्दिरों के भित्ति अलंकरण में यद्यपि संयम बरता गया है, किन्तु, पूर्वमध्यकालीन तथा उत्तर मध्यकालीन मन्दिरों के जंघा भाग को मूर्तियों की एक, दो या तीन पंक्तियों से सजाया गया है। इनमें विभिन्न देवी-देवताओं, साधु-संतों, नाग-नागियों तथा सुर-सुन्दरियों को नाना रूपों में चित्रित किया गया है। स्त्री मूर्तियों में उन्हें बालक को गोदी में खिलाते हुए (माता-शिशु), दर्पण देखकर श्रृंगार करते हुए (दर्पणा), पैर अलंकृत करते हुए (प्रसाधिका), पत्र लिखते हुए (लेखिका), कन्दुक-क्रीड़ा करते हुए, स्नानकर बालों को निचोड़ते हुए (सद्योस्नाता) आदि रूपों में प्रदर्शित किया गया है। ये छरहरे बदन, तीखे नाक-नक्स, उन्नत उरोज तथा अलंकृत वेशभूषा वाली नव यौवनाएँ द्विभंग, त्रिभंग या अतिभंग मुद्रा में जंघा भाग के भद्र, प्रतिभद्र, कर्ण अथवा सलिलान्तरों में चित्रित हैं। इनका अंकन तत्कालीन स्तम्भों पर भी मिलता है। ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सास मन्दिर (बड़ा मन्दिर) के मण्डप में बाह्य जंघा की पूर्वी भित्ति पर एक सद्योस्नाता चित्रित है। इसी प्रकार मण्डप के भीतरी भाग में दक्षिणी-पश्चिमी कर्ण पर पैर का अलंकरण करती हुई एक अन्य सुर-सुन्दरी अंकित है। बहू मन्दिर के स्तम्भों के अधिष्ठान में भी अतिभंग मुद्रा में नृत्य करती हुई अप्सराएँ दर्शनीय हैं।

मिथुन

कला में मिथुन का अंकन मांगलिक प्रतीक तथा अलंकरण दोनों ही रूपों में किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग पहली-दूसरी श० ई० पू० की शुंगकालीन कला में साँची, भारहुत, बोधगया आदि के स्तूपों में उनके तोरणों तथा वेदिकाओं पर मिलता है। इसी प्रकार अहिच्छत्रा के उत्खनन से प्राप्त शुंगकालीन ठिकरों पर भी मिथुन मूर्तियों का अंकन दर्शनीय है। इनमें स्त्री-पुरुषों को साधारण रूप में चित्रित किया गया है। कुषाणकाल की मथुरा कला में वे अपेक्षाकृत अधिक नग्नता और विलासिता के साथ प्रस्तुत हुई हैं। मन्दिरों में मिथुन दृश्यों का चित्रण प्रवेशद्वारों की द्वारशाखाओं पर मांगलिक प्रतीक के रूप में हुआ है। वराहमिहिर की वृहत्संहिता में मांगल्यविहग, श्रीवृक्ष,

---

११. अग्रवाल, वा० श०, भारतीय कला, पृ० ७९

स्वस्तिक, घट, पत्रवल्ली और प्रथम के साथ मिथुन को अंकित करने का उल्लेख है।[१२] गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार मन्दिर, उदयगिरि की गुफा संख्या १९ तथा नचना के पार्वती मन्दिर की द्वार-शाखाओं में मिथुनशाखा का अलंकरण उपरोक्त साहित्यिक साक्ष्य की पुष्टि करता है। इनमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे का आलिंगन करते हुए चित्रित हैं (चित्र सं०)। सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर में भी मिथुनशाखा का अंकन दर्शनीय है। गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों में मुख्य प्रवेशद्वार तथा रथिकाओं की चौखटों पर पत्र, स्तम्भ, नाग आदि शाखाओं के साथ मिथुनशाखा को भी अंकित किया गया है (चित्र सं० ९)। उत्तर मध्यकालीन मन्दिरों में मिथुनशाखा का साधारण रूप प्रायः समाप्त हो गया और उसके स्थान पर मैथुन चित्रों की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के उदाहरण मध्य भारत में विशेषकर खजुराहो के मन्दिरों में दर्शनीय हैं।

घट-पल्लव

फूल-पत्तियों से समृद्ध पूर्ण घट सुख-सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है।[१३] वैदिक साहित्य में अमृत से भरे कुम्भ का उल्लेख मिलता है।[१४] शुंग एवं कुषाणकालीन भारतीय कला में पूर्णघटों का चित्रण सांची, भरहुत, अमरावती, मथुरा, कपिसा, नागार्जुनीकोंड, सारनाथ आदि स्थलों से प्राप्त हुआ है। पश्चिमी भारत के चैत्यगृहों के भीतर मण्डप के स्तम्भों पर शीर्ष एवं अभिष्ठान भाग में पूर्ण घट प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार तिगवा, एरण आदि के गुप्ताकालीन मन्दिरों में भी अर्धमण्डप के स्तम्भों के अधिष्ठान और शीर्ष भागों को लतापत्र से युक्त घटों से अलंकृत किया गया है। इसी परम्परा में गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों के स्तम्भ भी घट-पल्लवों से सुसज्जित हैं। ग्वालियर में तेली मन्दिर के प्रवेशद्वार तथा रथिका की स्तम्भशाखाओं, जंघा के कर्णो पर स्थित अर्धस्तम्भों (चित्र सं० २४) और चतुर्भुज मन्दिर के स्तम्भों के अधिष्ठान तथा शीर्ष भागों को घटपल्लव से अलंकृत किया गया है। सास-बहू मन्दिर में भी अनेक स्तम्भों पर घट-पल्लव आकृतियां दर्शनीय हैं।

गंगा-यमुना

भारतीय कला में दो पवित्र नदियों गंगा और यमुना का मानवीय रूप में अंकन कुषाणकाल तक प्रायः अज्ञात है। गुप्तकालीन मन्दिरों में प्रवेशद्वार की चौखट के दोनों ओर द्वारपालों के साथ हाथों में घट लिए मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना के दर्शन होते हैं। इस प्रकार का सर्वप्रथम अंकन सम्भवतः उदयगिरि की वराह गुफा में उपलब्ध हुआ है, जिसमें अपने वाहनों पर आरूढ़ गंगा-यमुना को सागर में मिलते हुए प्रदर्शित किया गया है। मन्दिरों के प्रवेशद्वारों की द्वार-शाखाओं के साथ गंगा-यमुना के अन्य गुप्तकालीन उदाहरण देवगढ़ के दशावतार मन्दिर (जिला ललितपुर), तिगवा (जिला जबलपुर, म० प्र०), भूमरा (नगोद राज्य), नचना कुठारा (अजयगढ़ राज्य), दह पर्वतिया (दरभंगा जिला, आसाम) तथा अहिच्छत्रा (जिला बरेली) से भी प्राप्त हुए हैं।[१५] इन मन्दिरों में वे प्रायः प्रतिहारी या द्वारपाल आदि के साथ प्रदर्शित की गयी हैं।[१६] गुप्तकालीन मन्दिरों की

---

१२. वृहत्संहिता, २६, १२-१५
१३. अग्रवाल, वा० श०, भारतीय कला, पृ० ६१
१४. अथर्ववेद, ३, ११, ८
१५. अग्रवाल, वा० श०, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २११
१६. वही

यह विशेषता पूर्वमध्यकाल तथा मध्यकालीन मन्दिरों में भी दृष्टिगत होती है। बेटसर, नरेसर, अमरोल, ग्वालियर, ओसियां आदि के गुर्जर-प्रतिहार कालीन मन्दिरों में गंगा-यमुना का अंकन परम्परागत रूप में ही हुआ है। ग्वालियर के तेली मन्दिर में प्रवेशद्वार के बायीं ओर मकरवाहिनी गंगा तथा दाहिनी ओर कूर्मवाहिनी यमुना अपने-अपने अनुचरों तथा शैवद्वारपालों के साथ चित्रित हैं। गंगा-यमुना के ऊपर आकाश का दृश्य अंकित है, जिसमें मांगल्य विहग, उड़ते हुए मालाधर-विद्याधर तथा अन्य मानव आकृतियां प्रदर्शित हैं। (चित्र सं० ९)। इसी प्रकार चतुर्भुज मन्दिर के प्रवेशद्वार में भी चौखट के नीचे वैष्णव द्वारपालों के साथ गंगा-यमुना का अंकन दर्शनीय है।

मन्दिरों के प्रवेशद्वार पर गंगा-यमुना के अंकन के विषय में डॉ० अग्रवाल का कथन है कि गुप्तकालीन भारत में गंगा-यमुना का दोआब हिन्दू संस्कृति-सभ्यता का केन्द्र था। सम्भवतः इसीलिए गुप्तकालीन कलाकारों ने इस बात को प्रतीकात्मक भाषा में प्रकट किया है।[१७] कला के क्षेत्र में इनका विकास डॉ० अग्रवाल पर्सीब्राउन के साक्ष्य के आधार पर स्तूप के तोरणों में उपलब्ध शालभंजिकाओं से निर्धारित करते हैं।[१८] देवताओं की सेविका के रूप में गंगा-यमुना का उल्लेख कालिदास ने किया हैं।[१९] वृहत्संहिता में प्रासाद लक्षणाध्याय के अन्तर्गत कहा गया है कि वनों, नदियों, झरनों और मनोहर उद्यानों से युक्त पुरों में देवता रमण करते हैं।[२०] इसी प्रकार जहाँ पर नदियाँ पंक्तिबद्ध उड़ते हुए क्रौन्च पक्षियों के हारों से अलंकृत होती हैं, उनके चारों ओर का वातावरण हंसों (मांगल्य विहग) की मधुर कलरव ध्वनि से गुंजित रहता है तथा वे जल की रेशमी साड़ी धारण किए मछलियों की मेखला से अलंकृत होती हैं, वहीं पर देवतागण निवास करते हैं।[२१] इस प्रकार यहाँ नदियों के साथ देवताओं का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

भारतीय जनजीवन में प्राचीनकाल से ही जल को पवित्र माना जाता रहा है। मन्दिर में देवता की पूजा-अर्चना करने से पूर्व शरीर की स्वच्छता और मन की निर्मलता आवश्यक है। नदियों में स्नान करने तथा उनके दर्शन करने से शरीर स्वच्छ हो जाता है। मन में पवित्रता का भाव जागृत होता है, किन्तु सभी स्थलों पर नदियां उपलब्ध नहीं होतीं। अतः प्राचीन मन्दिरों में उन्हें साकार रूप से मूर्तियों के माध्यम से उपस्थित किया गया है। उपर्युक्त वातावरण प्रस्तुत करने के लिए उनके साथ मांगल्य विहग, श्रीवृक्ष, पत्रलता आदि को भी प्रदर्शित किया गया है, ताकि धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत भक्त जब मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर पहुँचे तो पवित्र नदियों का दर्शन कर उसका मन स्वच्छ हो जाये और वह निर्मल मन से अपने आराध्य की उपासना कर सके।

नवग्रह

भारतीय ज्योतिषशास्त्र में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नामक नवग्रहों का उल्लेख मिलता है। ऐसी मान्यता है कि इनके पूजन से अनिष्ट का नाश हो जाता है। विभिन्न पुराणों एवं शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में ग्रहों के स्वरूप तथा उनके आयुधों आदि का उल्लेख

---

१७. अग्रवाल, वा० श०, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० २११
१८. अग्रवाल, वा० श०, गुप्ता आर्ट, पृ० ६९
१९. कालिदास, कुमारसम्भव, ७, ४२
२०. वृहत्संहिता, ५६, ८
२१. वही, ५६, ६-७३

मिलता है।[22] अपराजितपृच्छा तथा रूपमण्डन में समान रूप से प्रत्येक ग्रह के वर्ण, आयुध, वाहन आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[23]

भारतीय मन्दिरों में नवग्रहों का अंकन हुआ है, किन्तु गुप्तकाल तक प्रायः किसी भी मन्दिर में इनको प्रदर्शित नहीं किया गया। उत्तर गुप्तकालीन उदाहरणों में सारनाथ से प्राप्त एक शिलापट्ट उल्लेखनीय है, जिसमें अब केवल चार ग्रहों-वृहस्पति, शुक्र, शनि और राहु की प्रतिमाएँ ही शेष बची हैं। इस शिलापट्ट में केतु का अंकन नहीं किया गया है। ऐसी प्रतीत होता है कि आराम्भिक चित्रणों में केवल आठ ग्रहों को ही सम्मिलित किया जाता था और नवें ग्रह केतु को अपेक्षाकृत बाद में अंकित किया जाने लगा।[24]

उत्तर भारतीय मन्दिरों में इनकी प्रतिमाएँ पृथक्-पृथक् नहीं मिलतीं, बल्कि सभी ग्रहों का अंकन सामूहिक रूप से एक ही शिलापट्ट में किया गया है। ऐसे नवग्रह पट्ट प्रायः प्रवेशद्वारों के उत्तरंग के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसके विपरीत दक्षिण भारतीय मन्दिरों में प्रत्येक ग्रह की अलग-अलग मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[25]

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित गुर्जर-प्रतिहारकालीन मन्दिरों में से किसी भी मन्दिर में सूर्य के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह की प्रतिमा नहीं मिलती और न ही नवग्रह पट्ट का कोई उदाहरण उपलब्ध होता है। १०९३ ई० में निर्मित सास-बहू मन्दिरों के प्रवेशद्वार तथा गर्भगृह के प्रवेशद्वार के उत्तरंग पर स्थापित ब्रह्मा, विष्णु और महेश मूर्तियों के बीच में नवग्रहों का चित्रण किया गया है इनके अतिरिक्त मण्डप के भीतरी भाग में दक्षिणी-पश्चिमी कर्ण पर स्थित रथिका के उत्तरंग पर भी एक नवग्रह पट्ट दर्शनीय है। इसमें राहु, केतु और सूर्य को छोड़कर सभी ग्रहों के हाथों में अक्षमाला और कमण्डलु प्रदर्शित है। सूर्य दोनों हाथों में पद्म धारण किये हैं। राहु अपने दोनों हाथों को तर्पण-मुद्रा में किये अर्धकाय चित्रित है तथा केतु को सर्प पुच्छ प्रदर्शित किया गया है (चित्र सं० २५)। नवग्रह पट्टों के अन्य उदाहरण खजुराहो और भुवनेश्वर में भी दर्शनीय हैं।[26]

अष्ट दिक्पाल

दिशाओं की कुल संख्या दस होती है। यदि ऊपर और नीचे की दिशाओं को छोड़ दिया जाय तो शेष आठ दिशाओं के अधिपतियों को अष्ट दिक्पाल कहते हैं। प्राचीन परम्पराओं के अनुसार इनके नाम और संख्या में भेद है, किन्तु सामान्यतः इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, कुबेर और ईशान को दिक्पाल माना गया है।[27] इनमें पूर्व के इन्द्र, पश्चिम के वरुण, उत्तर के कुबेर, दक्षिण के यम, दक्षिण-पूर्व के अग्नि, दक्षिण-पश्चिम के निऋति, उत्तर-पश्चिम के वायु और उत्तर-पूर्व के दिक्पाल ईशान माने गये हैं। इनमें इन्द्र, अग्नि, वरुण, वायु आदि का अस्तित्व वैदिक काल में

---

२२. विस्तृत विवरण के लिए देखिये-अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएं, पृ० १८९-१९२
२३. अपराजित० २१४,१०-१९; रूपमण्डन २, १८-२४
२४. बनर्जी, जे० एन०, डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्रफी, पृ० ४४४
२५. राव, टी० ए० जी०, एलीमेन्ट्स आफ आइकनोग्राफी, खण्ड २, पृ० ३००
२६. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० १९४-१९६; पाणिग्राही, के० सी०, आर्कियोलोजिकल रिमेन्स एट भुवनेश्वर, पृ० ६९, पृ० १३२
२७. बनर्जी, डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५१९-५२१

विद्यमान था तथा तत्कालीन देवताओं में ये अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, किन्तु पौराणिककाल में इनका महत्व घटता गया और इनकी गणना दिग्पालों में की जाने लगी।

प्रारम्भ में दिक्पालों की संख्या चार थी। रामायण में इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर को मान्यता प्रदान की गयी है।[२८] महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र, अग्नि वरुण तथा यम और दूसरे स्थान पर यम, इन्द्र, कुबेर और वरुण का उल्लेख मिलता है।[२९] कालान्तर में दिक्पालों की संख्या आठ हो गयी। मनुस्मृति में इनके नाम सोम (चन्द्र), अग्नि, अर्क (सूर्य), अनिल (वायु) इन्द्र, वित्तपति (कुबेर), आपपति (वरुण) तथा यम मिलते हैं।[३०] रूपमण्डन तथा अपराजितपृच्छा में भी दिक्पालों की संख्या आठ दी गयी है। इनके नाम क्रमशः इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, पवन, कुबेर और ईशान हैं।[३१]

मध्य भारत में गुप्तकालीन मन्दिरों में दिक्पाल प्रतिमाओं का अंकन प्रायः अनुपलब्ध है। पूर्व मध्यकालीन (६००-९०० ई०) मन्दिरों में यत्र-तत्र कुछ दिक्पालों का अंकन मिलता है।, किन्तु इनमें वह अपेक्षित दिशाओं में चित्रित नहीं किए गये। ग्वालियर के समीप स्थित नरेसर और बटेसर में आठवीं शताब्दी ई० में निर्मित गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों में भी दिक्पाल प्रतिमाओं का अभाव है। अमरोल के शिव मन्दिर (आठवीं शताब्दी) में यद्यपि कर्ण भाग पर अग्नि और यम चित्रित किये गये हैं, किन्तु वे अपनी अपेक्षित दिशाओं में नहीं हैं। ग्वालियर दुर्ग पर स्थित तेली मन्दिर (आठवीं शताब्दी) में दक्षिणी जंधा के पूर्वी कर्ण पर अग्नि और उत्तरी जंधा के पश्चिमी कर्ण पर वायु का अंकन मिलता है। इसमें यद्यपि स्थिति की दृष्टि से इन्हें उचित ढंग से प्रदर्शित किया गया है, किन्तु यहाँ पर अन्य दिक्पालों का अभाव है। ८७५-८७६ ई० में निर्मित चतुर्भुज मन्दिर में उत्तरी जंघा के पश्चिमी कर्ण पर वायु, पश्चिमी जंघा के दक्षिणी कर्ण पर यम तथा दक्षिणी जंधा के पूर्वी कर्ण पर अग्नि चित्रित हैं। यहाँ पर भी दिक्पालों को बहुत कुछ उनकी अपेक्षित दिशाओं में ही प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है, किन्तु अन्य शेष दिक्पाल यहाँ भी अनुपस्थित हैं।

नवीं शताब्दी ई० में निर्मित तेरही (जिला शिवपुरी, म० प्र०) के एक छोटे से मन्दिर के जंधा भाग में कर्णो पर दिक्पालों का स्पष्ट रूप से अंकन मिलता है। इसी क्रम में इन्दौर (जिला गुना, म० प्र०) के शिव मन्दिर में अष्ट दिक्पालों का अंकन दर्शनीय है।[३२]

दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी ई० के कच्छपघात शैली के मन्दिरों में दिक्पालों का अंकन इनकी अपेक्षित दिशाओं में ही किया गया है। सुहानिया (जिला मुरैना, म० प्र०) के ककणमठ मन्दिर (१०१५-१०३५ ई०) में जंधा भाग के सभी कर्णो पर अष्ट दिक्पालों को उनकी सही स्थिति में चित्रित किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नवीं-दशवीं ई० तक ग्वालियर तथा उसके आस-पास के मन्दिरों में अष्ट दिक्पालों का अंकन किया जाने लगा था और उनमें से प्रत्येक की सही दिशा भी

---

२८. रामायण, २, १६, २४

२९. हापकिन्स, ई० डब्ल्यू०, इपिक माइथोलोजी, पृ० १४९

३०. मनुस्मृति, ५, ९६

३१. रूपमण्डन, २, ३१-३८; अपराजित० २२३, १२-२१

३२. देव, कृष्ण, एक्सटेंन्सन आफ गुप्ता आर्ट : आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ द प्रतिहार एज़, सेमिनार आन इण्डियन आर्ट हिस्ट्री, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, १९६२, पृ० ९१-९२

निर्धारित कर दी गयी थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि १०९३ ई० में निर्मित ग्वालियर के सास-बहू मन्दिर में भी गर्भगृह के कर्णों पर संभवतः अष्ट दिक्पाल प्रदर्शित किए गये होंगे, किन्तु अब इनकी वास्तविक स्थिति का पता नहीं चल सकता क्योंकि मन्दिर का गर्भगृह पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो गया है।

सप्तमातृकाएँ

पूरे विश्व में मातृका पूजा की परम्परा अति प्राचीन है। भारत में सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि स्थलों से प्राप्त हुए हैं, उनमें मातृका पूजा के उदाहरण भी उपलब्ध हुए हैं।[३३] वैदिककाल में भी मातृपूजा की परम्परा विद्यमान थी।[३४] पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मातृका पूजा के प्रमाण मिलते हैं।[३५] शक-कुषाण शासकों की मुद्राओं पर भी देवियों का अंकन हुआ है।[३६] इसी प्रकार बसाढ़ और भीटा से प्राप्त गुप्तकालीन मुहरों पर भी देवियों का चित्रण दर्शनीय है।[३७]

जहाँ तक सप्तमातृकाओं का प्रश्न है, उनकी उत्पत्ति का ज्ञान हमें पुराणों से ही हो पाता है। वराहपुराण की एक परम्परा के अनुसार सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति का सम्बन्ध अन्धकासुर वध से है।[३८] कथा के अनुसार, अन्धकासुर ने बहुत समय तक तपस्या करके ब्रह्मा द्वारा अनेक वरदान प्राप्त कर लिए और अत्यधिक शक्तिशाली हो गया। उसने देवताओं को कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया। अतः वे सहायतार्थ शिव के पास पहुँचे। शिव द्वारा भी अन्धकासुर पराजित नहीं हो सका, क्योंकि उसके शरीर से जो रक्त गिरता था, उसके एक-एक बूँद से नये-नये अन्धकासुर उत्पन्न हो जाते थे। इस स्थिति से निपटने के लिए शिव ने अपने मुख से एक अग्नि ज्वाला उत्पन्न की जिसका नाम 'योगेश्वरी' पड़ा। इसी शक्ति ने असुर के शरीर से गिरने वाली रक्त की प्रत्येक बँद को सोख लिया। इस प्रकार नये अन्धकासुर के उत्पन्न होने की आशंका समाप्त हो गयी। शिव की सहायता के लिए ब्रह्मा, माहेश्वर, कुमार, विष्णु, वराह, इन्द्र तथा यम ने क्रमशः ब्रह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी तथा चामुण्डा नामक शक्तियाँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने अन्धकासुर के विनाश में शिव की सहायता की। वराहपुराण में योगेश्वरी को मिलाकर इनकी संख्या आठ बतलाई गयी है।[३९] मार्कण्डेयपुराण के अनुसार ये आठों शक्तियाँ शिव, कार्तिकेय, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं के शरीर से शुम्भ और निशुम्भ को मारने के लिए उत्पन्न हुई थीं।[४०] यहाँ पर कहा गया है कि 'जिस देवता का

---

३३. ह्वीलर, मार्टिमर, द इंडस सिविलाइजेशन, पृ० ९१, १०९

३४. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ० ११६

३५. अग्रवाल, वा० श०, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३५०; बनर्जी, जे० एन०, डेवलेपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्रफी, पृ० ८६

३६. जोशी, नी० पु०; प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ० ११७-११८

३७. वही

३८. राव, टी० ए० गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, खण्ड २, पृ० ३७९-८३; वराहपुराण १७, ३३-३७

३९. राव, टी० ए० गोपीनाथ, एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, खण्ड २, पृ० ३७९-८३; वराहपुराण १७, ३३-३७

४०. मार्कण्डेयपुराण, ८८, १२-२०

जैसा रूप, जैसी वेशभूषा और जैसा वाहन होगा ठीक वैसी ही आयुधों से सम्पन्न उसकी शक्ति असुरों से युद्ध करने के लिए आयेगी।[४१] इनकी संख्या ग्रन्थ भेद के आधार पर ७, ८ या १६ तक गिनाई गयी है।[४२] सामान्यतः सप्तमातृकाओं में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा की गणना होती है। रूपमण्डन के अनुसार मातृकाओं की प्रतिमाएँ बनाते समय मातृका पट्ट पर आदि और अन्त में वीरेश्वर, अथवा वीरभद्र और गणेश निर्मित किए जाते हैं तथा बीच में ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा मातृकाएँ होती हैं।[४३] रूपमण्डन के इसी क्रम का उल्लेख मत्स्यपुराण में भी मिलता है।[४४]

भारतीय कला में मातृकाओं का चित्रण कुषाणकाल से प्राप्त होने लगता है। कुषाणकालीन मथुराकला में अनेक मातृकापट्ट उपलब्ध हुए हैं।[४५] परन्तु इस समय तक उनकी संख्या, आयुध, वाहन आदि पूर्णरूपेण निश्चित नहीं हो पाये थे। कभी वे हमें पशुमुखी तथा कभी-कभी स्कन्द कार्तिकेय के साथ चित्रित मिलती हैं।[४६] गुप्तकाल तक आते-आते उनका क्रम, आयुध, वाहन आदि निर्धारित हो गये और गुप्तोत्तर काल में अनेक चित्रण परम्परागत रूप में मिलते हैं।[४७] पट्ट में वीरभद्र व गणेश के साथ सप्तमातृकाएँ नृत्य करती हुई प्रदर्शित हुई हैं। ऐसे अनेक पूर्व मध्ययुगीन मातृका पट्ट भारत के विभिन्न भागों में उपलब्ध हैं। मातृकापट्टों के अतिरिक्त मध्यकालीन भारतीय मन्दिरों में मातृकाओं की स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। प्रायः मन्दिरों के बाहरी भाग में अलग-अलग रथिकाओं पर इनका अंकन दर्शनीय है।

ग्वालियर के गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों में सप्तमातृकाओं का अंकन उपलब्ध नहीं है, किन्तु सास-बहू मन्दिर में उन्हें स्वतन्त्र एवं सामूहिक दोनों ही रूपों में प्रदर्शित किया गया है। बड़े मन्दिर के बाहरी भाग में जंघा की रथिकाओं पर ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा (चित्र सं० २६) का चित्रण स्वतन्त्र रूप में किया गया है। ये सभी प्रतिमाएँ चतुर्भुजी हैं तथा अपने-अपने स्वामी देवताओं के आयुधों, वाहनों तथा वेशभूषा से अलंकृत हैं। इन्हें कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, बाजूबन्ध, मेखला, नूपुर आदि आभूषणों से सुसज्जित किया गया है। इनके अतिरिक्त इसी मन्दिर में हमें सप्तमातृकाओं का सामूहिक चित्रण भी देखने को मिलता है। गर्भगृह के प्रवेश-द्वार में ललाटबिम्ब के ऊपर ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा का समूह अंकित है। इनके एक ओर वीरभद्र तथा दूसरी ओर विनायक के स्थान पर वैनायकी चित्रित हैं। इसके अतिक्ति दक्षिणी-पूर्वी एवं उत्तरी-पश्चिमी कर्णो पर स्थित रथिकाओं में भी ललाटबिम्ब के ऊपर चतुर्भुजी मातृकाओं का समूह अंकित हैं। यहाँ पर चतुर्भुजी ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा मातृकाएँ अपने-अपने वाहनों के साथ स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित हैं। मातृकाओं के दाहिनी ओर वीरभद्र तथा बायीं ओर गणेश के स्थान पर विघ्नेश्वरी (वैनायकी) विराजमान हैं

---

४१. वही

४२. बनर्जी, जे० एन०, द डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५०३-५०४

४३. रूपमण्डन, ५,७३

४४. मत्स्यपुराण, ३६०, ३८-३९

४५. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ० १२६-१२८

४६. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ० १२७

४७. वही, पृ० १३९-१४०

(चित्र सं० २७)। भारतीय साहित्य में 'विनायकी' या 'वैनायकी' का उल्लेख चौसठ योगिनियों के साथ तो प्रचुरता से मिलता है, किन्तु सप्तमातृकाओं के साथ बहुत कम उपलब्ध है।[४८] स्कन्दपुराण में एक स्थान पर अष्टमातृकाओं के साथ 'विनायकी' को भी सम्मिलित किया गया है।[४९] कला में सप्तमातृकाओं के साथ वैनायकी का अंकन इलाहाबाद के निकट गढ़वा से प्राप्त हुआ है। इसमें एक फलक में गजमुखाकृति देवी (विनायकी) वरूणानी और नारसिंही के साथ प्रदर्शित हैं।[५०] किन्तु यह शिलापट्ट खण्डित एवं अपूर्ण हैं। सास मन्दिर में गजमुखी विनायकी का अंकन आठवीं मातृका के रूप में हुआ है। इस दृष्टि से यह भारतीय मूर्तिविज्ञान एवं कला के लिए एक अनुपम उपलब्धि है।

---

४८. नहटा, ए० सी०, बावनवीर नामावली, शोध पत्रिका, वर्ष १४, सं० ३, जुलाई १९६३, उदयपुर, पृ० १९१-९४; अग्रवाल, वा० श०, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० १४७-१४९; एन्शिएन्ट इण्डिया, फोक कल्ट्स, वाराणसी, १९७०, पृ० २०४-२०६

४९. स्कन्दपुराण, माहेश्वर खण्ड १, ६२, ६०; अग्रवाल, पी० के०, एलीफेन्ट फेस्ड गाडेस विनायकी इन लिटरेचर, गाडेस विनायकी द फीमेल गणेश, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, १९७८, पृ० १४

५०. वही, पृ० २१

6

देव प्रतिमाएँ

ग्वालियर दुर्ग पर प्रमुखतः वैष्णव, शैव और जैन धर्म की त्रिवेणी प्रवाहित हुई। इनसे सम्बन्धित प्रतिमाएँ मन्दिरों और पहाड़ियों की दलानों में उत्कीर्ण मिलती हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बुद्ध या बौद्धधर्म से सम्बन्धित एक भी अवशेष यहाँ उपलब्ध नहीं हुआ। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुर्ग बौद्धधर्मावलम्बियों के प्रभाव में कभी नहीं रहा। ब्राह्मण और जैन धर्म से सम्बन्धित जो मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त होती हैं, वे कला के साथ-साथ प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन प्रतिमाओं का शिल्प-शास्त्रीय उल्लेखों की पृष्ठभूमि में, उनकी प्राचीन-परम्परा और विकासक्रम के साथ-साथ कलात्मक एवं प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

विष्णु प्रतिमाएँ

वैष्णव धर्म की अवधारणा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में 'विष्णु' का उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें वे एक साधारण देवता के रूप में ही दिखलाई पड़ते हैं।[१] उत्तर वैदिक काल में उनका महत्व धीरे-धीरे बढ़ गया।[२] महाकाव्यों और पुराणों के समय में वैदिक विष्णु का तादात्म्य ऐतिहासिक वासुदेव-कृष्ण और ब्राह्मण ग्रन्थों के देवता 'नारायण' से स्थापित हुआ।[३] पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि क्रमशः पाँचवीं शताब्दी ई० पू० और द्वितीय शताब्दी ई० पू० में वासुदेव या विष्णु की उपासना प्रचलित थी तथा इनके उपासकों को वासुदेवक कहा जाता था।[४] 'मिलिन्दपञ्हों' भी वासुदेव के उपासकों का उल्लेख करता है।[५] घोसुण्डी (माध्यमिका, राजस्थान), विदिशा (वेसनगर) और मथुरा आदि स्थलों से प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में वासुदेव की उपासना प्रचलित थी तथा उनके मन्दिरों का भी निर्माण किया जाता था।[६] बहुत सम्भव है कि मन्दिरों में स्थापना के लिए मूर्तियाँ भी निर्मित की जाती रही हों। कुषाण काल में गदा, चक्र और शंख या जलपात्रधारी विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनका दाहिना हाथ साधारणतः अभयमुद्रा में है।[७] गुप्तकाल में विष्णु की मूर्तियों का निर्माण अनेक रूपों में हुआ है। इस समय तक वैष्णव धर्म में अवतारवाद का प्रवेश हो चुका था। अतः कला में

---

१. ऋग्वेद, १, १५५, ५; ७, ९९, २
२. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृ० ९
३. बनर्जी, जे० एन०, डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३८६
४. अष्टाध्यायी, ४, ३, ९८; पतञ्जलि, ४, ३, ५
५. अग्रवाल, वा० श०, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० १००-१०१
६. बनर्जी, जे० एन०, द डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ९१-९३; सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० ९०-९१; ल्यूडर्स, मथुरा इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० १५४
७. अग्रवाल, वा० श०, मथुरा कला, पृ० ५९

विष्णु के अनेक सामान्य रूपों के अतिरिक्त उनके शेषशायी रूप, वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम), राम, कृष्ण तथा बलराम आदि की गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुरा, देवगढ़, उदयगिरि आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[८]

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सभी मन्दिर गुप्तकाल के बाद के हैं। इनमें से ८७५-७६ ई० में निर्मित चतुर्भुज मन्दिर विष्णु मन्दिर है, जैसा कि उसमें उल्लिखित दो अभिलेखों से ज्ञात होता है।[९] इसी प्रकार १०९३ ई० में निर्मित सास-बहू मन्दिर भी वैष्णव धर्म से सम्बन्धित हैं। इनमें सामान्यतः विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियों तथा उनके अवतारों का अंकन हुआ है।

शास्त्रों में विष्णु का प्राचीन उल्लेख बृहत्संहिता, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्निपुराण, मत्स्यपुराण आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनमें विष्णु आठ, चार अथवा द्विभुजी बतलाये गये हैं।[१०] विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे वासुदेव के रूप में विष्णु को चतुर्भुजी, कुण्डल, अंगद, केयूर, वनमाला, कौस्तुभमणि, किरीट मुकुट आदि से अलंकृत बतलाया गया है।[११] बृहत्संहिता के अनुसार विष्णु यदि अष्टभुजी हों तो उनके दाएँ तीन हाथ खड्ग, गदा एवं वाण से युक्त हों तथा चौथा अभयमुद्रा में हो और बाएँ हाथों में वे धनुष, खेटक, चक्र तथा शंख धारण किए हों। यदि वे चतुर्भुज हों तो दाहिना एक हाथ अभय मुद्रा में और दूसरा गदाधारी हो तथा बाएँ हाथों में शंख और चक्र हो। यदि उनके दो भुजाएँ हों तो दाई अभयमुद्रा में और बाई शंखयुक्त प्रदर्शित हो।[१२] अग्निपुराण के अनुसार चतुर्भुजी वासुदेव के दाएँ हाथों में चक्र और पद्म तथा बाएँ में शंख और गदा होनी चाहिए।[१३] मत्स्य पुराण के अनुसार यदि विष्णु अष्टभुजी हों तो उनकी दायीं भुजाओं में खड्ग, गदा, शर एवं पद्म तथा बाई में धनुष, खेटक, शंख और चक्र हो। यदि उनके चार भुजाएँ हों तो दाई गदा और पद्म तथा बाई शंख और चक्र से युक्त हो।[१४] वैखानसागम में विष्णु की मूर्तियों को उनकी स्थिति की दृष्टि से स्थानक, आसन और शयन तीन वर्गो में विभक्त किया गया है।[१५] इसी प्रकार एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार उन्हें योग, भोग, वीर और अभिचारिक वर्गो में भी विभक्त किया गया है।[१६]

चतुर्भुजी मूर्तियाँ

कला में विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियों का अंकन कुषाणकाल से ही प्रारम्भ हो जाता है। उनके तीन हाथों में शंख, चक्र और गदा प्रदर्शित की गयी है तथा चौथा हाथ सामान्यतः अभयमुद्रा में है। इन मूर्तियों में प्रायः पद्म का अभाव है।[१७] गुप्तकाल में इन प्रतिमाओं का और अधिक विकास

---

८. जोशी, नीलकण्ठ पुरूषोत्तम, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ९१-१०९

९. ए० इ०, भाग १, पृ० १५४-१७२

१०. बृहत्संहिता, ५८, ३१-३५; विष्णुधर्मोत्तर०; ८५, १-१८ अग्निपुराण, ४४, ४७-४९; मत्स्यपुराण, २५८; ४-१५

११. विण्णुधमोत्तर०, ८५, १-१५

१२. वृहत्संहिता, ५८, ३१-३५

१३. अग्निपुराण, ४४, ४७-४९

१४. मत्स्यपुराण, २५८, ४-१५

१५. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, पृ० ७८-९६

१६. वही

१७. जोशी, नी० पुव, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ७४-७८

हुआ। इनका प्रभामण्डल अलंकृत किया जाने लगा।[१८] साथ ही देदीप्यमान सौम्य मुखमण्डल, सुगठित शरीर रचना तथा सादा सुन्दर अलंकरण इस काल की प्रमुख विशेषता रही। पूर्वमध्यकालीन प्रतिमाओं में भी इसकी छाप दिखलाई पड़ती है। मध्यकालीन मूर्तियों के अलंकरण में पर्याप्त जटिलता आ गयी। इनके प्रभामण्डल और परिकर को विभिन्न आभूषणों, देवताओं एवं व्याल आकृतियों से सजाया गया है। ये प्रायः किरीटमुकुट, कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, केयूर, कंकण, मेखला, वैजयन्तीमाला, यज्ञोपवीत और नूपुरों से अलंकृत हैं। परिकर में दशावतारों का अंकन इस काल की प्रमुख विशेषता थी। इसके अतिरिक्त मूल प्रतिमा के मस्तक के पीछे अलंकृत प्रभामण्डल, उड़ते हुए मालाधारी विद्याधर तथा कभी-कभी ब्रह्म, शिव तथा केन्द्र में विष्णु, की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी अंकित की जाती थीं। देवता के दायें और वायें पार्श्व में चामरधारी युगल, आयुध पुरूष तथा श्रीदेवी और भूदेवी को भी प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार मध्यकाल में विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियों को विधिवत् अलंकृत किया जाने लगा था।

ग्वालियर दुर्ग में यद्यपि विष्णु की चतुर्भुजी मूर्तियों की संख्या बहुत कम है, फिर भी जो प्रतिमाएँ यत्र-तत्र मिली हैं उनका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

तेली मन्दिर के प्रांगण में एक शिलापट्ट की रथिका में विष्णु की चतुर्भुजी स्थानक मूर्ति विद्यमान है (चित्र सं० २८)। इसमें विष्णु समभंग खड़े हैं। वे किरीट मुकुट, कुण्डल, ग्रैवेयक, बाजूबन्द, कंकण, वनमाला आदि विविध आभूषणों से अलंकृत हैं। उनके नीचे के दो हाथ सम्भवतः दो आयुध पुरुषों के सिर पर टिके हैं तथा ऊपर के दोनों हाथों में आयुध अस्पष्ट हैं। रथिका शीर्ष दो चन्द्रशालाओं से अलंकृत है। नीचे की बड़ी चन्द्रशाला के भीतर छोटी-छोटी तीन रथिकाएँ प्रदर्शित हैं। ऊपर की चन्द्रशाला के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधारी विद्याधर दिखलाये गये हैं। शिलापट्ट का शेष भाग पत्र-पुष्पों से अलंकृत है। प्रतिमा का जंघा, उदर और मुख भाग यद्यपि टूटकर भग्न हो गया है, फिर भी मांसल स्कन्ध, चौड़ा वक्षस्थल, क्षीण कटि, सुगठित शरीर, अलंकरण की सादगी आदि गुप्तकालीन प्रभाव का परिचायक है। इसकी चन्द्रशाला तथा तेली मन्दिर की चन्द्रशालाओं के अलंकरण में पर्याप्त समानता परिलक्षित होती है। अतः यह प्रतिमा गुप्तकाल के बाद लगभग ८वीं-९वीं शताब्दी ई० की प्रतीत होती है।

एक अन्य चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा चतुर्भुज मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित है (चित्र सं०२९)। उसके ऊपर के दोनों हाथों में शंख और चक्र तथा नीचे के दोनों हाथों में पद्म और गदा पुरुष सुशोभित हैं। विष्णु किरीट मुकुट, कुण्डल, वनमाला, यज्ञोपवीत तथा धोती से अलंकृत हैं। पादपीठ के नीचे अंजलिमुद्रा में हाथ जोड़े हुए गरुड़ का अंकन है, जिनके दोनों पार्श्वों में सर्पपुच्छ युक्त नाग अथवा नागियाँ तथा हाथों में घट लिए जल देवता चित्रित हैं। परिकर में व्याल तथा दशावतारों का अंकन है। यह प्रतिमा चतुर्भुज मन्दिर (८७५-७६ ई०) की समकालीन नहीं प्रतीत होती। सम्भवतः इसका निर्माण बाद में किया गया है। इसी मन्दिर के जंघा भाग में पश्चिमी दीवार की भद्र रथिका पर विष्णु की एक अन्य चतुर्भुजी प्रतिमा स्थापित है। इसके ऊपर की दोनों भुजाओं में शंख और चक्र सुशोभित है तथा नीचे के दोनों हाथ खण्डित हैं।

---

१८. वही, पृ० ९१

ग्वालियर दुर्ग से उपलब्ध तथा राजकीय संग्रहालय गुजरी महल में सुरक्षित चतुर्भुजी विष्णु की दो सुन्दर प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं। इनमें से एक प्रतिमा में चतुर्भुजी विष्णु एक पद्मपीठ पर समभंग खड़े हैं (चित्र सं० ३०)। उनका शीर्ष तथा तीन भुजाएँ खण्डित हैं। चौथी बाईं भुजा में वे शंख धारण किए हैं। वे गले में हार, ग्रैवेयक कानों में रत्नकुण्डल, भुजाओं में भुजबन्द, कटि में मेखला, स्कन्ध में यज्ञोवीत, पैरों में नूपुर और घुटनों तक वैजयन्तीमाला से अलंकृत हैं। उनके मस्तक के पीछे पद्मपत्रांकित बहुत ही सुन्दर और विशाल शिरचक्र है, जिसके ऊपर पद्मपीठ पर संभवतः ब्रह्म, शिव और केन्द्र में ध्यानमुद्रा में विष्णु प्रदर्शित हैं, जिनका शीर्ष खण्डित है। इसके दोनों ओर मालाधारी विद्याधरों के उड़ते हुए युगल अंकित हैं। नीचे देवता के बाएँ पार्श्व में चामरधारी पुरुष खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ चामर से युक्त है तथा बायां कट्यावलम्बित है। इसी प्रकार दायें पार्श्व में चामरधारिणी स्त्री खड़ी है। उसके बाये हाथ में चामर है तथा दायां हाथ कट्यावलम्बित है। इन दोनों अनुचरों के पैरों के निकट घुटनों के बल बैठे हुए हाथ जोड़े अंजलिमुद्रा में दो उपासक प्रदर्शित हैं। विष्णु की पद्मपीठ के नीचे कई छोटी आकृतियों का एक समूह अंकित है। इनमें केन्द्र में एक देवी कूर्म के ऊपर अंजलिमुद्रा में हाथ जोड़े हुए आसीन है, जिसके दोनों ओर दो-दो जल देवियाँ अपने हाथों में घट लिए हुए अंकित हैं। परिकर में मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि अवतार प्रदर्शित किये गये हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा मध्य कालीन विकसित लांछनों से परिपूर्ण है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इसे लगभग १०वीं शताब्दी ई० में रखा जा सकता है।

दूसरी चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा में वे पद्मपीठ पर समभंग खड़े है (चित्र सं० ३१)। उनके शिर पर अलंकृत किरीट मुकुट सुशोभित है। वे हार, ग्रैवेयक, भुजबन्द, कंकण, मेखला, यज्ञोपवीत, वनमाला और नूपुर से अलंकृत हैं। विष्णु के दायें पार्श्व में चामरधारिणी स्त्री तथा बायें पार्श्व में चामरधारी पुरुष खड़े प्रदर्शित हैं। उनके समीप ही दोनों ओर एक-एक उपासक अंजलिमुद्रा में हाथ जोड़े हुए घुटनों के बल बैठे हैं। इस प्रतिमा में पद्मपीठ के नीचे लक्ष्मी, नाग-नागी अथवा जल देवताओं का अंकन नहीं हुआ है। शीर्ष के चतुर्दिक् प्रभामण्डल पद्मपुष्प एवं रत्नों से सुशोभित है। उसके ऊपर विष्णु की छोटी प्रतिमा के स्थान पर प्रतीक रूप में पद्म का अंकन है, जिसके दोनों ओर उड़ते हुए मालाधर विद्याधर दिखलाये गये हैं। परिकर में कूर्म, वराह, नरसिंह, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि अवतार प्रदर्शित हैं। अन्य अवतार खण्डित हो गये हें। यह प्रतिमा भी लगभग १०वीं शताब्दी ई० की प्रतीत होती है तथा तत्कालीन प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है।

सास (बड़ा) मन्दिर में मण्डप के जंघा भाग की पूर्वी दिशा में विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमा भी दर्शनीय है। इसमें वे तीन भुजाओं में शंख, चक्र और पद्म धारण किए हैं। चौथी भुजा खण्डित है। इसी प्रकार की एक अन्य चतुर्भुजी प्रतिमा मण्डप के पश्चिमी भाग में सुशोभित है। इसमें विष्णु की एक भुजा वरद मुद्रा में, दूसरी भुजा में गदा, तीसरी में चक्र तथा चौथी खण्डित है।

दशावतार मूर्तियाँ

सामान्यतः विष्णु के दस अवतार माने गये हैं। महाभारत, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण और पद्मपुराण में विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके नामों में

भिन्नता है।[१९] स्कन्द पुराण में विष्णु के चौदह अवतार बतलाये गये हैं।[२०] इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इनकी संख्या सोलह और अहिर्बुध्न्य संहिता में उन्तालीस तक मिलती है।[२१] कन्तु निम्नलिखित दशावतार प्रायः सर्वमान्य हैं - (१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह, (४) नरसिंह, (५) वामन, (६) परशुराम, (७) रघुराम' (८) कृष्ण, (९) बुद्ध तथा (१०) कल्कि।

सर्वप्रथम कुषाणकाल में कुछ अवतारों जैसे वराह और कृष्ण के दर्शन होते हैं।[२२] गुप्तकाल तथा उसके बाद दशावतारों का चित्रण और अधिक व्यापक हो जाता है। कला में यह चित्रण दो प्रकार से देखने को मिलता है। पहला सभी अवतारों का सामूहिक रूप से अंकन तथा दूसरा उनका पृथक्-पृथक् रूप में अंकन। ग्वालियर दुर्ग के मन्दिरों में विष्णु के अवतारों का कोई सामूहिक अंकन नहीं मिलता है। यहाँ पर उनके कुछ अवतारों को स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् चित्रित किया गया है किन्तु उपर्युक्त वर्णित विष्णु की दो स्थानक मूर्तियों के परिकर में दशावतारों को सामूहिक रूप में प्रदर्शित किया गया है (चित्र सं० ३०-३१)।

वराह अवतार

भागवतपुराण के अनुसार जल प्रलय के समय जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था।[२३] शास्त्रों के अनुसार वराहावतार की मूर्ति वराह विग्रह में अथवा नृ-वराह-मिश्रित विग्रह में बन सकती है।[२४] मत्स्यपुराण के अनुसार महावराह के हाथों में गदा और पद्म हो। उनका एक चरण कूर्म पर तथा दूसरा आदिशेष पर स्थित हो। उनकी डाढ़ के अग्रभाग पर अथवा बाईं कुहनी पर पृथ्वी स्थित हो, जिनके एक हाथ में नीलोत्पल हो तथा दूसरा कट्यावलम्बित हो।[२५] नृवराह का यही विवरण शिल्परत्न, अग्निपुराण, अपराजितपृच्छा और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी मिलता है, किन्तु अग्निपुराण के अनुसार उनके दाएँ हाथ में शंख और बाएँ हाथ में पद्म अथवा इसकी कुहनी पर लक्ष्मी स्थित हों।[२६]

कला में वराह अवतार की मूर्ति यज्ञवराह (पशुरूप में) तथा नृवराह (मानव और वराह का संयुक्त रूप) दोनों ही प्रकार की मिलती है। इनका सर्वप्रथम अंकन कुषाणकाल में प्रकट होता है।[२७]

---

१९. महाभारत, शान्ति० ३३९, १०३-१०४; मत्स्यपुराण ४७, २३४-५०; अग्निपुराण, ४९, १-९; वायुपुराण, ९८, ७१-११७; पद्मपुराण, अ० २३०-२५२

२०. स्कन्दपुराण (वैष्णव खण्ड), वासुदेवमहात्म्य, १८,१६-४५

२१. विष्णुधर्मोत्तर०, तृतीय खण्ड, अ० ८५; अहिर्बुध्न्य संहिता, बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३९१

२२. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० ९१

२३. भागवतपुराण०, २, ७, १

२४. विष्णुधर्मोत्तर०, ७९, १०

२५. मत्स्यपुराण, २६०, २८-३०

२६. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, पृ० १३३-३४; अग्निपुराण, ४९, २-३; अपराजित०, २१९, १०-२३; विष्णुधर्मोत्तर०, ७९, २-८

२७. जोशी, एन०पी०, मथुरा स्कल्पचर्स, परिशिष्ट II पृ० III-VII, चि० १०१

गुप्तकाल की अनेक प्रतिमाएँ हमें एरण, उदयगिरि, बादामी आदिस्थलों में प्राप्त होती है।[२८] मध्ययुग में इन मूर्तियों का निर्माण और अधिक बढ़ गया।

ग्वालियर दुर्ग के मन्दिरों में वराह अवतार की एक प्रतिमा हमें चतुर्भुज मन्दिर के जंघा भाग की दक्षिणी दीवार में स्थित भद्रभाग की रथिका में मिलती है (चित्र सं० ३२)। इसमें नृवराह चतुर्भुजी हैं। उनकी भुजाओं के आयुध अस्पष्ट हैं। वे हार, ग्रैवेयक, भुजबन्द, कंकण, यज्ञोपवीत, वनमाला, कटिसूत्र, नुपुर आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। उनका दाहिना हाथ कट्यावलम्बित है। बाई भुजा की मुड़ी हुई कुहनी पर स्त्री-रूप में द्विभुजी वसुन्धरा स्थित है। देवता आलीढ़-मुद्रा में प्रदर्शित है। दक्षिण पाद पीछे की ओर सीधा प्रसारित है और वाम पाद आगे की ओर मुड़कर पद्मपीठ पर स्थित है। दोनों पार्श्वों में दो अन्य आकृतियाँ खड़ी प्रदर्शित हैं। वे संभवतः अनुचर-अनुचरी अथवा गरुड़-लक्ष्मी प्रतीत होते हैं। आदिवराह के सिर पर फैले हुए कमलपत्र का घटाटोप प्रदर्शित है, जिससे पाताल लोक का बोध होता है। इसी प्रकार नृवराह की एक अन्य चतुर्भुजी प्रतिमा सास मन्दिर के मण्डप के जंघा भाग में पश्चिमी दीवार की एक रथिका में स्थापित है। इसमें नृवराह स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित हैं। उनकी एक भुजा कट्यावलम्बित है। शेष तीन भुजाओं में गदा, शंख और चक्र धारण किए हैं। बायीं भुजा की कोहनी पर द्विभुजी नारी-रूप में पृथ्वी का अंकन दर्शनीय है।

त्रिविक्रम (वामन) अवतार

पुराणों की कथा के अनुसार प्रहलाद का पौत्र राजा बलि विष्णु का परम भक्त था। भगवान ने वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उससे तीन पग भूमि माँगी। बलि द्वारा भूमि देने के लिए वचनबद्ध हो जाने पर वामन ने सहसा विराट रूप धारण किया और दो ही पगों में पृथ्वी और स्वर्ग को नाप लिया। तीसरा पग बलि के सिर पर रखकर उसे पाताल लोक भेज दिया।

शास्त्रों में वामन अवतार की मूर्तियाँ दो प्रकार की बनाने का विधान है, एक वामन की और दूसरी तीन पग नापते हुए विराट रूप त्रिविक्रम की। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार वामन छोटे एवं स्थूलकाय निर्मित होने चाहिए।[२९] अग्निपुराण मे वे छत्र और दण्डधारी रूप में वर्णित हैं।[३०] शिल्परत्न में उनके हाथों में छत्र और कमण्डलु होने का निर्देश है।[३१]

त्रिविक्रम प्रतिमा का वर्णन विष्णुधर्मोत्तरपुराण, शिल्परत्न और वैखानसागम में मिलता है।[३२] उनके हाथों में दण्ड, पाश, शंख, चक्र, गदा और पद्म हों।[३३] देवता का बाँया पैर पृथ्वी पर स्थित हो तथा दाहिना सम्पूर्ण नभस्थल को नापने के लिए ऊपर प्रसारित हो।[३४]

---

२८. जोशी, नी० पु०२, प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, पृ० ९९; अग्रवाल, वी० एस०, गुप्ता आर्ट, पृ० ७, चि० ६; बनर्जी, जे० एन० डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ४१४

२९. विष्णुधर्मोत्तर०, ८५, ५४-५५

३०. अग्निपुराण, ४९,५

३१. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, परिष्टि-सी, पृ० ३६

३२. वष्णुधर्मोत्तर०, ८५, ५५-५७ राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, पृ० १६४-१६७

३३. विष्णुधर्मोत्तर०, ८५, ५५-५७

३४. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, पृ० १६७

कला में भी वामन अवतार की मूर्तियाँ दो प्रकार से अंकित मिलती हैं। एक वामन रूप में जिसमें वे ठिगने कद के दिखलाये जाते हैं तथा दूसरा विक्रम रूप जिसमें वे पैर फैलाकर नापते हुए प्रदर्शित होते हैं। कुषाणकाल में वामन-त्रिविक्रम की मूर्तियों का अभाव है। गुप्तकालीन त्रिविक्रम की मूर्तियाँ ग्वालियर और मथुरा संग्रहालय में उपलब्ध हैं, किन्तु वामन रूप बहुत कम दिखलाई पड़ता है।[३५]

ग्वालियर के मन्दिरों में वामन मूर्ति का तो अभाव है, किन्तु तेली मन्दिर, चतुर्भुज मन्दिर और सास मन्दिर में त्रिविक्रम मूर्ति का एक-एक उदाहरण उपलब्ध है। एक त्रिविक्रम प्रतिमा तेली मन्दिर के जंघा भाग की उत्तरी दीवार में प्रदर्शित है। इसमें वे द्विभुजी हैं। दाहिने हाथ में गदा और बायें हाथ में शंख धारण किए हैं। उनका दाहिना पैर पृथ्वी से टिका है तथा बाँयां आकाश की ओर प्रसारित है। चतुर्भुज मन्दिर के जंघा भाग की उत्तरी दीवार में भद्रभाग की रथिका पर त्रिविक्रम विराट रूप में प्रदर्शित है (चित्र सं० ३३)। वे चतुर्भुजी हैं। उनके नीचे के दाहिने हाथ में गदा है तथा ऊपरी दाहिना हाथ मुकुट तक ऊपर उठा हुआ है। ऊपर की बायीं भुजा में वे चक्र धारण किये हैं तथा नीचे बायीं भुजा का आयुध अस्पष्ट है। उनका दाहिना पैर दृढ़ता से जमा हुआ है तथा बायाँ पैर नभ मण्डल को नापने के लिए ऊपर की ओर प्रसारित है। समीप ही राजा बलि द्वारा दान देने का दृश्य भी अंकित है। इसी प्रकार त्रिविक्रम की एक अन्य प्रतिमा सास मन्दिर के मण्डप के जंघा भाग की पूर्वी दीवार में भी दर्शनीय है। इसमें त्रिविक्रम चतुर्भुजी हैं। उनकी चारों भुजाएँ खण्डित हैं।

नृसिंह अवतार

प्रहलाद को अपने पिता हिरणाकश्यप से रक्षा करने के लिए भगवान् विष्णु ने नृसिंह का रूप धारण कर हिरणाकश्यप को अपनी जांघों पर पटक कर उसके पेट को अपने नखों से फाड़ डाला था।[३६] शास्त्रों में नृसिंह मूर्तियों के तीन प्रकार वर्णित हैं। एक में वे पद्मासन पर उत्कूटिकासन में अथवा सिंहासन पर ललितासन में बैठे हुए, दूसरे में हिरणाकश्यप का उदर विदीर्ण करते हुए तथा तीसरे प्रकार में गरुड़ा के स्कन्धों अथवा आदिशेष की कुण्डलियों पर बैठे हुए चित्रित हैं।[३७]

भारतीय कला में घटना का अंकन बड़ी रोचकता के साथ हुआ है। गुप्तकाल की अनेक नृसिंह प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।[३८] मध्ययुग में भी इनका अंकन विविध रूपों में हुआ है।[३९] ग्वालियर के मन्दिरों में एक नृसिंह प्रतिमा चतुर्भुज मन्दिर के जंघा भाग की दक्षिणी दीवार के प्रतिभद्र में स्थापित है। इसमें नृसिंह भगवान चतुर्भुजी रूप में प्रदर्शित हैं। वे हिरणाकश्यप को अपनी जाँघों पर डालकर उसका उदर विदारित करते हुए दिखलाए गये हैं। इसी प्रकार की एक अन्य प्रतिमा सास मन्दिर के मण्डप में जंघा भाग में पश्चिमी दीवार पर स्थापित हैं यह प्रतिमा चतुर्भुजी है। इसमें भी नृसिंह भगवान हिरणाकश्यप को अपनी जांघों पर रखकर, उसका पेट पकड़ कर फाड़ रहे हैं।

---

३५. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १००-१०१

३६. भागवत पुराण, २, ७, १४२

३७. राव, टी० ए०, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, खण्ड १, पृ० १४९-१५७; अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० १००-१०१

३८. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ९९-१००

३९. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० १०१-१०४

कृष्णावतार

सोलहों कलाओं के स्वामी भगवान् कृष्ण को विष्णु का आठवाँ अवतार माना जाता है। सुन्दर बालक, अनन्य प्रेमी, वीर पुरुष, परमयोगी, कुशल राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और अलौकिक व्यक्तित्व वाले कृष्ण का चरित्र भारतीय जन-मानस में इस प्रकार से व्याप्त हुआ कि उन्हें पूर्णावतार माना जाने लगा तथा साहित्य और कला में उन्हें विविध रूपों में प्रदर्शित किया जाने लगा।

देवकी पुत्र कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है, किन्तु इसमें कृष्ण को वासुदेव नहीं कहा गया है।[४०] अतः कुछ विद्वान महाभारत में वर्णित वसुदेव और देवकी से उत्पन्न पुत्र कृष्ण से इन्हें भिन्न मानते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव और अर्जुन का उल्लेख मिलता है, जिनके उपासकों को वासुदेवक और अर्जुनायन कहा गया है।[४१] इसी प्रकार पतंजलि के महाभाष्य से भी वासुदेव कृष्ण की उपासना का संकेत मिलता है।[४२] घोसुण्डी, बेसनगर, मथुरा आदि स्थलों से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि मथुरा, राजस्थान में द्वितीय-प्रथम श० ई० पू० में भगवान कृष्ण (वासुदेव) की पूजा प्रचलित थी और उनके मन्दिरों का भी निर्माण किया जाने लगा था।[४३] मथुरा से प्राप्त कतिपय कुषाणकालीन शंख, चक्र और गदाधारी चतुर्भुजी प्रतिमाओं की पहचान डा० जोशी ने वासुदेव कृष्ण के रूप में की है।[४४] इसके अतिरिक्त इस समय तक बालक कृष्ण का वसुदेव को गोकुल से ले जाना, कृष्ण द्वारा केशीवध तथा गोवर्धन धारण करना आदि कृष्ण-लीला दृश्य भी पाषाण एवं मृण्मूर्ति कला में अंकित किए जाने लगे थे।[४५] कुषाणकाल की परम्परा गुप्तकाल में भी चलती रही। मण्डोर, एरण, देवगढ़, वाराणसी, भीतरगाँव, श्रावस्ती, मथुरा आदि स्थलों से गुप्तकालीन कृष्ण-लीला दृश्य उपलब्ध हुए हैं।[४६] बादामी की गुफाओं (छठी श० ई०) में अंकित कृष्ण-लीलाएँ भी उल्लेखनीय हैं।[४७]

गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर प्रतिहारकालीन मन्दिरों में भी कृष्ण-लीलाओं का अंकन हुआ है। इस दृष्टि से ओसियाँ (राजस्थान) के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन मन्दिरों का निर्माण-काल आठवीं शताब्दी ई० के आस-पास माना जाता है। इनमें कृष्ण-जन्म, दधि-मन्थन, पूतनावध, यमलार्जुन-उद्धार, शकटभंग, ग्वाल-बालों के साथ बाला-क्रीड़ा, अरिष्टासुरवध, केशीवध, गोवर्धन-धारण, धेनुकवध, कालियमर्दन, कुवलयापीडवध, मल्लयुद्ध आदि दृश्यों को प्रदर्शित किया

---

४०. छान्दोग्य उपनिषद्, ३, १७, ६

४१. अष्टाध्यायी, ४,३, ९८

४२. पतंजलि, ६,३,५

४३. बनर्जी, जे० एन०, द डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ९१-९३; सरकार, डी० सी०, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ० ९०-९१

४४. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ८७-८९

४५. जोशी, नी० पु०, मथुरा की मूर्तिकला, फ्लक ५८, ६४, मथुरा संग्रहालय संख्या १७, १३४४; अग्रवाल, आर० सी०, टेराकोटाज, इन बीकानेर म्यूजियम, ललित कला नं० ८, अक्टूबर, १९६०

४६. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १०४

४७. देव, कृष्ण - लीला सीन्स एण्ड बलराम इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला नं० ७, मार्च, १९६०, पृ० ८९

गया है।[४८] ओसियाँ के अतिरिक्त राजस्थान के केकीन्द और अटरू नामक स्थलो में भी कृष्ण-लीला के चित्रण दर्शनीय हैं।[४९] मध्य प्रदेश में खजुराहो के मन्दिरों में कृष्ण-लीला की अधिकांश मूर्तियाँ लक्ष्मण मन्दिर में उत्कीर्ण हैं।[५०]

ग्वालियर तथा उसके आस-पास नरेसर, बटेसर, अमरोल आदि स्थलों पर भी गुर्जर प्रतिहार शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ है, किन्तु इनमें से ग्वालियर दुर्ग पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर के अतिरिक्त अन्य किसी भी मन्दिर में कृष्ण-लीलाओं का अंकन नहीं मिलता।

चतुर्भुज मन्दिर के अर्धमण्डप के स्तम्भों पर आधारित पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी दिशा के भारपट्टों के भीतरी भागों को कृष्ण-लीला दृश्यों से अलंकृत किया गया है। इनमें उत्तर की ओर के भारपट्ट में पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमशः बालकों का बदलाव, पूतनावध शकटभंग, यमलार्जुन उद्धार, केशीवध तथा अरिष्टासुरवध अंकित है (चित्र सं० ३४)। इसी प्रकार पूर्वी पट्ट में दधि मंथन, गोवर्धन-धारण, नृत्यवादन, कलियमर्दन, कुवलयापीडवध और मल्लयुद्ध का दृश्य दर्शनीय है।

बालकों का बदलाव

कंश के कोप से बालक कृष्ण को बचाने के लिए वसुदेव उसे नन्द यशोदा के यहाँ गोकुल पहुँचा आये थे और बदले में उनकी कन्या (योगमाया) को ले आये थे। चतुर्भुज मन्दिर के प्रथम दृश्य में कलाकार ने इसी घटना को चित्रित करने का प्रयास किया है। इसमें वसुदेव यशोदा को कृष्ण को सौंपकर उनसे कन्या ले रहे हैं। बालक कृष्ण को गोकुल पहुँचाने का एक कुषाणकालीन दृष्य मथुरा से भी प्राप्त हुआ है, जिसमें वसुदेव कृष्ण को लेकर यमुना-पार करते हुए प्रदर्शित हैं।[५१]

पूतना-बध

कृष्ण को विष पिलाकर मार डालने के लिए कंश द्वारा भेजी गयी राक्षसी पूतना ने जब अपने स्तनों में विष लगाकर दूध पिलाने के बहाने बालक कृष्ण के मुख को अपने स्तनों से लगाया, तो उस अद्भुत शक्ति वाले बालक ने पूतना के दूध के साथ-साथ उसके प्राण भी पी डाले। इस दृश्य को चतुर्भुज मन्दिर में बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रदर्शित किया गया है। बालरूप श्रीकृष्ण पूतना के दायें स्तन को पकड़कर पी रहे हैं। पूतना के हाथ ऊपर फैल गये हैं। उसका राक्षसी रूप प्रकट हो गया है और असह्य पीड़ा के कारण उसका शरीर निश्चेष्ट होता जा रहा है। कला में पूतनावध के अन्य दृश्य वादामी की गुफाओं, केकीन्द, ओसियाँ, अटरू तथा खजुराहों के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[५२]

---

४८. अग्रवाल, आर० सी०, कृष्ण एण्ड बलराम इन राजस्थान स्कल्पचर्स एण्ड एपीग्राफ्स, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, भाग ३०, संख्या ४, १९५४, पृ० ३३९-५३

४९. अग्रवाल, आर० सी०, कृष्ण एण्ड बलराम इन राजस्थान स्कल्पचर्स एण्ड एपीग्राफ्स, इण्डियन हिस्ट्रोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता भाग ३०, संख्या - ४, १९५४, पृ० ३३९-३५३

५०. देव, कृष्ण, कृष्ण - लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला, नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८९

५१. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय, मूर्तिविज्ञानं, पृ० ८७-८८

५२. अग्रवाल, आर० सी०, इ० हि० क्वा०, खण्ड ३०, नं० ४, पृ० ३४६-४८; अटरू की प्राचीन मूर्तिकला, मरु भारती, पिलानी, वर्ष ८, अंक १, जनवरी १९६०, पृ० ६८

शकट भंग

शकट भंग की कथा भागवतपुराण में मिलती है। इसमें एक बार बालक कृष्ण एक बैलगाड़ी के नीचे लेटे हुए थे। भूख लगने के कारण माँ के दूध पीने की इच्छा से रोते हुए उन्होंने अपने पैरों को ऊपर उछालना प्रारम्भ किया। उनका नन्हा पैर लगते ही बैलगाड़ी उलट गयी और उसके पहिये आदि टूट कर ध्वस्त हो गये।[५३] चतुर्भुज मन्दिर के दृश्य में किरीटमुकुटधारी युवा कृष्ण बैलगाड़ी के नीचे लेटे हैं। उनका दाहिना हाथ सिर के नीचे रखा है तथा बायें हाथ और दायें पैर से वे गाड़ी को उलटते हुए प्रदर्शित हैं। उनके हाथ और पैर के जोर से गाड़ी के पहिये धरातल से ऊपर उठ गये हैं।

शकट भंग के अन्य दृश्य मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ, देवगढ़ के दशावतार मन्दिर, वादामी की गुफाओं तथा ओसियाँ के मन्दिरों से उपलब्ध होते हैं।[५४] इनमें कृष्ण का बाल रूप ही अंकित किया गया है किन्तु इसके विपरीत ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर में कृष्ण को युवा रूप में चित्रित किया गया है। खजुराहो के मन्दिरों में भी शकट-भंग के दृश्य में कृष्ण का युवा रूप दर्शनीय है।[५५]

यमलार्जुन उद्धार

भागवतपुराण में एक कथा आती है, जिसके अनुसार कुबेर के दो पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव नारद के श्राप से वृक्ष हो गये थे। वही यमलार्जुन नाम से प्रसिद्ध हुए। एक बार श्रीकृष्ण की शरारतों के कारण माता यशोदा ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया। कमर में बंधी हुई ऊखल को लेकर वे यमलार्जुन वृक्षों के बीच से निकले। ऊखल फँस गयी। श्रीकृष्ण ने जोर लगाया और उनकी अद्भुत शक्ति से दोनों वृक्ष उखड़ गये। इस प्रकार दोनों कुबेर पुत्र शापमुक्त हो गये।[५६]

चतुर्भुज मन्दिर के दृश्य में घुंघराले बालों से युक्त कृष्ण ओखली से बँधे है, जो कि दो वृक्षों (यमलार्जुन) से फँस गयी है। पास में एक स्त्री (सम्भवतः यशोदा) विस्मय मुद्रा में खड़ी है। यमलार्जुन उद्धार के अन्य दृश्य एरण बादामी की गुफाओं, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, पहाड़पुर, अटरू, ओसियाँ, खजुराहो आदि स्थलों से भी प्राप्त हुए हैं।[५७]

केशीवध

इस दृश्य में श्रीकृष्ण अश्वरूप में आये हुए राक्षस केशी का वध कर रहे हैं। भागवतपुराण के अनुसार केशी एक दैत्य था, जो कंश की प्रेरणा से अश्व का रूप धारण कर श्रीकृष्ण

---

५३. भागवत पुराण, १०, ६-७

५४. देव, कृष्ण, कृष्ण-लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहों, ललितकला, नं० ७, मार्च, १९६०, पृ० ८७; अग्रवाल, आर० सी०, जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी लेटर्स एण्ड साइन्स, खण्ड २३, सं० १, पृ० ६३; वत्स, माधवस्वरूप, मेम्वायर आफ द आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, सं० ७०, प्लेट X VIII बी

५५. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएं, पृ० ११७

५६. भागवत पुराण, १०, १०

५७. बाजपेयी, कृष्ण दत्त, मध्य प्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, बुलेटिन आफ एन्सिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलोजी, नं० १, १९६७, पृ० ८४; देव, कृष्ण, कृष्ण-लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललित कला नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८४; अग्रवाल, रत्न चन्द्र, मरूभारती, वर्ष ८, अंक १, पृ० ६८; इ० हि० क्वा०, अंक ४, अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० ११८

को मारने आया था, किन्तु कृष्ण ने स्वयं उसका वध कर दिया।[५८] केशी वध के अन्य चित्रण मथुरा (कुषाणकालीन), मण्डोर के स्तम्भ (गुप्तकालीन), भीतरगाँव के मन्दिर, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, ओसियाँ, अटरू तथा खजुराहो के मन्दिरों में पाये गये हैं।[५९]

अरिष्टासुरवध

इस दृश्य में श्रीकृष्ण वृष रूप में आये हुए दैत्य अरिष्टासुर का वध करते हुए चित्रित हैं। भागवतपुराण के अनुसार अरिष्टासुर नामक दैत्य श्रीकृष्ण को मारने के लिए वृष का रूप धारण कर आया था, किन्तु कृष्ण ने उसकी सींग पकड़कर उसे पृथ्वी पर गिरा दिया और अपने पैरों से कुचल डाला।[६०] अरिष्टासुरवध के अन्य दृश्य मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ, बादामी की गुफाओं, ओसियाँ और खजुराहों के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[६१]

दधि-मन्थन

इस दृश्य में यशोदा दही मथ रही हैं। उनके समीप ही बाल रूप कृष्ण खड़े हैं।

गोवर्धन धारण

यह दृश्य कुछ अस्पष्ट है। इन्द्र के कोप से ब्रज की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण किया था। कृष्ण के गोवर्धन - धारी रूप के दर्शन हमें मथुरा और रंगमहल की कुषाणकालीन कला में भी होते हैं। इसकें अतिरिक्त भारत कला भवन (वाराणसी) की गोवर्धनधारी प्रतिमा,मण्डोर के स्तम्भ तथा ओसियाँ के मन्दिरों में चित्रित गोवर्धन के दृश्य भी उल्लेखनीय हैं।[६२]

कालिय दमन

इस दृश्य में श्रीकृष्ण कालिय नाग के फण के ऊपर खड़े हुए प्रदर्शित हैं। कालिय दमन की कथा का वर्णन भागवतपुराण में विस्तार से मिलता है।[६३] भारतीय शिल्प में कालिय दमन के दृश्य मथुरा, मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ, बादामी की गुफाओ, ओसियाँ और खजुराहो के मन्दिरों में उपलब्ध होते हैं।[६४]

कुवलयापीड वध

मथुरा में कंश के कुवलयापीड नामक हाथी को श्रीकृष्ण ने मार डाला था। चतुर्भुज मन्दिर में हाथी का वध करते हुए श्रीकृष्ण को प्रदर्शित किया गया है। कुवलयापीड वध के अन्य दृश्य बादामी की गुफाओं, ओसियाँ और खजुराहो के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[६५]

---

५८. जोशी, नी० पु०, मथुरा स्कल्पचर्स (सं० ५८, ४४७६), पृ० ६८-६९'; अग्रवाल, आर० सी०, इ० हि० क्वा०, खण्ड ३८, अंक १, पृ० ८६; अवस्थी, रामाश्रय, खुजराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० १२३

५९. भागवत पुराण १०, ३७

६०. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० १२०

६१. वही

६२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १०४

६३. भागवत पुराण

६४. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, पृ० ११९-२०

६५. वही, पृ० १२१-१२२

मल्ल युद्ध

मथुरा में कंश की रंगशाला में श्रीकृष्ण और बलराम को मुष्टिक और चाणूर नामक मल्लों से युद्ध करना पड़ा था। खजुराहो के मन्दिरों में इसी प्रकार का एक मल्ल युद्ध प्रदर्शित है। मल्लों से युद्ध के अन्य दृश्य बादामी की गुफाओं, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, ओसियाँ और खजुराहो के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[६६]

लक्ष्मी-नारायण

ग्वालियर दुर्ग के सास-बहू मन्दिरों में ब्रह्म, विष्णु और महेश की अनेक प्रतिमाएँ अपनी शक्तियों के साथ आलिंगन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। इनमें कहीं पर विष्णु लक्ष्मी के साथ आलिंगन मुद्रा में त्रिभंग खड़े हैं, कहीं वे ललितासन मुद्रा में बैठे हैं तथा अन्यत्र उन्हें गरूड़ पर आरूड़ प्रदर्शित किया गया है। ये प्रतिमाएँ अधिकांशतः खण्डित हैं।

शिव प्रतिमाएं

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित मन्दिरों तथा हथिया पौर और लक्ष्मण द्वार के मध्य की पहाड़ी में शिव का शिव के लिंगअंकन प्रतीक-लिंग एवं मानवीय दोनों ही रूपों में हुआ है। लिंग रूप में उपासना के चिन्ह हमें हड़प्पा से ही मिलते हैं। तत्कालीन अनेक स्थलों से बहुत से लिंगाकार पाषाण एवं चपटे छिद्रयुक्त गोल पत्थर मिले हैं, उन्हें विद्वानों ने लिंग एवं योनि का प्रतीक माना है।[६७] इसके अतिरिक्त भीटा, गुडीमल्लम्, कौशाम्बी, नाँद, मथुरा, ग्वालियर आदि स्थानों से प्राप्त शिव लिंगों को प्रारम्भिक शुंग-कुषाणकाल से मध्यकाल तक के बीच रखा जा सकता है।[६८]

ग्वालियर दुर्ग पर शिवलिंग का सबसे प्राचीन उदाहरण संभवतः तेली के मन्दिर में उपलब्ध है। मन्दिर के जंघा भाग में पश्चिमी दीवार पर एकमुखी शिवलिंग स्थापित है (चित्र सं० ३५)। इसे कुषाण एवं गुप्तकालीन एकमुखी शिवलिंगों की परम्परा में ही निर्मित किया गया है। यह तेली मन्दिर का समकालीन प्रतीत होता है। अतः इसे लगभग आठवीं शताब्दी ई० में निर्मित माना जा सकता है। शिवलिंग का एक अन्य उदाहरण चतुर्भुज मन्दिर (८७५ ई०) के जंघा भाग में उत्तरी पूर्वी प्रतिभद्र पर भी दर्शनीय है। इसमें दो उपासकों द्वारा शिवलिंग की पूजा का दृश्य चित्रित है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मण द्वार और हथियापौर के बीच पहाड़ी में छोटी-छोटी रथिकाएँ काटकर उनमें कई शिवलिंग समूह उत्कीर्ण किए गये हैं। साथ में अन्य देवी-देवता तथा नन्दी भी अंकित हैं। इन शिवलिंगों का काल निश्चित कर सकना कठिन है। लक्ष्मण द्वार के अत्यधिक निकट होने के कारण बहुत संभावना है कि इन्हें लक्ष्मण द्वार के साथ ही निर्मित किया गया हो। साथ ही अन्य प्रतिमाओं तथा लक्ष्मण द्वार की तिथि के आधार पर इन्हें दसवीं शताब्दी के आस-पास रखा जा सकता है।

मानव रूप में

शिव के मानव रूपी स्वतन्त्र अंकन की प्रचीनता का अनुमान हड़प्पा सभ्यता से किया गया है। एक मुद्रा पर बनी हुई मानवाकृति उत्कूटिकासन में बैठी है। उसके सिर पर सींगवाला मुकुट,

---

६६. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएं, पृ० १२२; देव, कृष्ण, कृष्ण-लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला, नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८४-८५

६७. मार्शल, मोहन जोदड़ो एण्ड इण्डस सिविलाइजेशन, पृ० ५९

६८. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृव ५१-५४

दायीं ओर भैंसा और गैंडा तथा बायीं ओर हाथी और बाघ चित्रित हैं। मार्शल महोदय ने इसे शिव पशुपति का प्रारम्भिक रूप माना है।[६९] पतंजलि के साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि शुंगकाल में शिव मानवरूप में चित्रित किए जाते थे।[७०] उज्जयिनी से प्राप्त प्रथम-द्वितीय श० ई० पू० की मुद्राओं में दण्ड-कमण्डलधारी पुरुष को विद्वानों ने शिव का अंकन माना है।[७१] कुषाण शासकों के सिक्कों पर भी शिव को चित्रित किया गया है।[७२] उत्तर कुषाण-काल तथा गुप्तकाल की अनेक मूर्तियाँ रंगमहल, नेवल (उन्नाव), अहिच्छत्र, राजघाट (वाराणसी), मथुरा, मूसानगर (कानपुर) आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं, जिनमें शिव विविध रूपों में चित्रित किए गये हैं।[७३] इस प्रकार पूर्व कुषाणकाल से गुप्तकाल तक कला में शिव का जो अंकन हुआ है, उसमें शिव का एकाकी रूप, सिंह के साथ शिव, चतुर्भुज शिव, शिव-पार्वती, अर्धनारीश्वर, लकुलीश, अज-एकपाद, दक्षिणामूर्ति, रावणानुग्रह, भिक्षाटन व गजासुर-संहार, भैरव, नृत्यमूर्ति उल्लेखनीय है।[७४] ग्वालियर दुर्ग के मन्दिरों की दीवारों पर शिव के अनेक मानवीय रूप चित्रित किए गये हैं।

अजएकपाद

अजएकपाद का उल्लेख ग्यारह रूद्रों में आता है।[७५] महाभारत के अनुसार अहिर्बुध्न्य और कुबेर के साथ ये धन की रक्षा करते हैं।[७६] छागमुख होने के कारण इनकी समानता अग्नि से भी स्थापित की गयी है।[७७] अजएकपाद का एक चित्रण रंगमहल से भी प्राप्त हुआ है, जो मूर्तिविज्ञान के क्षेत्र में अनोखा है। इसमें अज के स्थूल शरीर का संतुलन हाथी के एक भारी पैर पर बड़े कलात्मक ढंग से किया गया है।[७८]

तेली मन्दिर के जंघा भाग में दक्षिणी-पूर्वी कर्ण पर अज एकपाद की एक द्विभुजी प्रतिमा अंकित है। उनकी दायीं भुजा अभयमुद्रा में तथा बायीं कमण्डल धारण किए हैं। उनका शरीर एक पैर पर संतुलित है।

लकुलीश

ईसवी सन् की पहली शताब्दी तक लकुलीश नामक आचार्य ने दक्षिण भारत के कायावरोहण तीर्थ में पाशुपत मत की स्थापना की थी।[७९] इसकी मान्यता इतनी बढ़ी कि लकुलीश शिव का प्रतीक हो गये। लकुशील प्रतिमा का मुख्य लक्षण ऊर्ध्वलिंग होना तथा उनके द्वारा दण्ड

---

६९. मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड इन्डस सिविलाइजेशन, भाग १, पृ० ५२
७०. काणे, पी० वी०, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० १०३
७१. बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ११७
७२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० २८-३०
७३. वही, पृ० ३१-४२
७४. जोशी नी० पु०, प्रानीन भारतीय मूर्तिर्विज्ञान, पृ० ३१-४२
७५. महाभारत, शान्ति०, २०८,१९
७६. वही, उद्योग, ११४, ४
७७. अग्रवाल, आर०सी०, टेराकोट्टाज इन द बीकानेर म्यूजियम, ललितकला, नं० ८, अक्टूबर १९६०, पृ० ६७
७८. वही
७९. अग्रवाल, वी० एस०, द रिलीजियस सिग्नीफिकेन्स, ललितकला, नं० ८, पृ० ६६

धारण करना है। अब तक ज्ञात प्रतिमाओं से राजस्थान के नांद गाँव के शिवलिंग पर अंकित लकुलीश को प्राचीनतम मानना चाहिए।[८०] यहाँ ऊष्णीषधारी शिव को आसन पर दोनों पैर रखे बैठा दिखलाया गया है। लकुलीश की एक गुप्तकालीन मूर्ति मथुरा संग्रहालय में है (सं० संख्या ४५.३२११)। यहाँ वे द्विभुज हैं। बायीं कुहनी पर दण्ड संभाला गया है और दोनों हाथ व्याख्यान मुद्रा में है। घुटनों पर योग पट्ट भी दिखलाई पड़ता है।[८१] मथुरा संग्रहालय में ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का एक अभिलिखित स्तम्भ है (सं० संख्या २९.१९३१) जिस पर नग्न और मुक्तकेश दण्डधारी लकुलीश दिखलाई पड़ते हैं।[८२] अहिच्छत्रा के मृत्फलकों में भी डा० अग्रवाल ने लकुलीश को पहचानने का यत्न किया है, किन्तु यह सन्देहास्पद है।[८३]

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित तेली मन्दिर में जंघा भाग के दक्षिण -पूर्वी कर्ण पर ऊर्ध्वलिंग लकुलीश उत्कूटिकासन में बैठे हुए प्रदर्शित हैं। उनकी एक भुजा में लकुट तथा दूसरी में बीज पूरक सुशोभित है। घुटनों पर योगपट्ट भी दर्शनीय है। वे एक विकसित पद्म पर विराजमान हैं। इसी प्रकार चतुर्भुज मन्दिर के जंघा भाग में दक्षिणी दीवार की एक छोटी सी रथिका में द्विभुजी ऊर्ध्वलिंग लकुलीश अपने दो शिष्यों के साथ प्रदर्शित हैं।

गजासुरवध-मूर्ति

शिव की गजान्तक अथवा गजासुर-वध मूर्ति का आधार कूर्मपुराण में वर्णित एक कथा है, जिसमें कहा गया है कि जब गजासुर शिव आराधना में लीन ब्राह्मणों के उत्पीड़न हेतु काशी आया, तब लिंगमूर्ति से प्रकट होकर भगवान शंकर ने उसका संहार किया और उसकी त्वचा को अपने करों में लेकर नृत्य किया, जिससे सभी प्राणी सुखी हुए।[८४] शिव ने गजासुर का वध किया, इसलिए वे 'गजान्तक' अथवा 'गाजारि' कहलाये। इस कथा के कुछ भिन्न रूप भी मिलते हैं।[८५] उत्तर तथा दक्षिण भारतीय शिल्पकला में गजान्तक प्रतिमा का अंकन विविधता के साथ मिलता है। इसके अनेक रूपों का वर्णन अंशुमद्भेदागम्, शिल्परत्न आदि शास्त्रों में उपलब्ध है।[८६]

उत्तर भारत में गजासुरवध-मूर्ति अंकन की परम्परा गुप्तकाल से ही देखने को मिलती है। उदाहरणस्वरूप भीतरगाँव मन्दिर की दक्षिणी दिशा के एक शैव फलक की पहचान जोशी जी ने गजासुर-वध से की है।[८७] अन्य अनेक पाषाण एवं ताम्र निर्मित मध्ययुगीन प्रतिमाएँ उत्तर तथा दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इनमें एलोरा, ऐलीफैन्टा, भुवनेश्वर, खजुराहो, महोबा,

---

८०. अग्रवाल, आर० सी०, चतुर्भुज शिवलिंग फ्राम नांद नियर पुष्कर, राजस्थान, पुरातत्व, वाराणसी, नं० २, १९६८-६९, पृ० ५३-५४

८१. जोशी, नी० पू०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ३९

८२. वही, पृ० ३९-४०

८३. अग्रवाल, वी० एस०, टेराकोटा फीगराइन्स आफ अहिच्छत्र, एन्शिएन्ट इण्डिया, भाग ४, १९४८, पृ० १६९

८४. मिश्र, जनार्दन, भारतीय प्रतीक विद्या, पटना १९५९, पृ० ८२

८५. राव, टी०ए० गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग २, खण्ड १, पृ० १५१

८६. राव, टी० ए० गोपीनाथ, एलीमेन्ट्स आफ हिन्दू आकइनोग्राफी, भाग २, खण्ड १, पृ० १५१

८७. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ४२

ग्यारसपुर, अनन्तपुर, अमृतपुर, हलेबिड़ तथा दारासुरम् आदि की प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।[८८] इनके निर्माण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान श्री शिवराममूर्ति का मत है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत में इनके अंकन की भिन्न-भिन्न परम्पराएँ थीं। दक्षिण भारत में 'अन्धकान्तक' से भिन्न शुद्ध 'गजान्तक' मूर्ति का एक विशेष रूप है, किन्तु पश्चिम भारत, मध्य भारत एवं उड़ीसा में गजासुर-संहार और अंधकासुर-संहार को एक साथ मिलाकर प्रस्तुत किया गया है।[८९]

निस्सन्देह उत्तर भारत में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें हमें शिव के मिश्रित रूप गजान्तक-अन्धकान्तक के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में कृष्ण कुमार के मतानुसार यद्यपि उत्तर भारत के किसी भी भाग से शिव की कोई शुद्ध 'गजान्तक' प्रतिमा अभी तक प्रकाश में नहीं आयी है, तथापि अनेक विद्वानों ने एलोरा, एलीफैण्टा, भुवनेश्वर, खजुराहो, गुर्गी, ग्यारसपुर आदि स्थानों से प्राप्त अन्धकासुर मूर्तियों को ही शिव का शुद्ध गजान्तक अथवा मिश्रित रूप गजान्तक अन्धकान्तक मान लिया है।[९०] परन्तु इस समस्या प्र यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जायेगा कि दक्षिण की भाँति उत्तर भातर में भी अन्धकारि एवं गजारि शिव के दो भिन्न रूप हैं, किन्तु अन्धकान्तक की अपेक्षा 'गजान्तक' मूर्तियों की संख्या उत्तर में अत्यन्त न्यून है।[९१]

कृष्ण कुमार ने उत्तर भारत की 'गजान्तक' एवं 'अन्धकान्तक' मूर्तियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है-शुद्ध गजान्तक, शुद्ध अन्धकान्तक और गजान्तक - अन्धकान्तक का मिश्रित रूप। 'शुद्ध गजान्तक' प्रतिमा में नृत्यरत शिव के साथ गज एवं देवी का चित्रण आवश्यक है, यद्यपि उत्तर भारत में इस प्रकार की मूर्तियाँ कम अवश्य हैं, तथापि यहाँ इनका सर्वथा अभाव भी नहीं है। महोबा की प्रतिमा इसका सुन्दर उदाहरण है! 'शुद्ध अन्धकान्तक प्रतिमा में अलीढ़ अथवा प्रत्यालीढ़ पाद में खड़े शिव अन्धकासुर को त्रिशूल से बेधते हुए दिखलाये जाते हैं। नीचे के भाग में योगेश्वरी, सप्तमातृकाएँ, शिवगण, राक्षस आदि भी अंकित रहते हैं! इनमें कभी शिव हस्तिचर्म से आच्छादित रहते हैं, कभी नहीं। 'गजान्तक-अन्धकान्तक' की मिश्रित प्रतिमा में नृत्यरत शिव के दाहिनी ओर गज एवं बाई ओर पार्वती और अधोभाग में योगेश्वरी, सप्तमातृकाएँ आदि भी उपस्थित रहती हैं। एलोरा के कैलाश मन्दिर में नन्दी मण्डप के अधोभाग में स्थित मूर्ति इसका सुन्दर उदाहरण है।[९२]

ग्वालियर दुर्ग में 'गजासुरवध' या 'गजान्तक' शिव की दो प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं, जो कला की दृष्टि से तो उतनी उत्कृष्ट कोटि की नहीं हैं, किन्तु प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन के लिए विशेष

---

८८. राव, टी० ए० गोपीनाथ, एलीमेन्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग २, खण्ड १, पृ० १५२-१५६; पृ० १९२-१९४, चित्र ३०-३४; ४५-४७; विद्या प्रकाश, खजुराहो, बम्बई, १९६७, पृ० १३६; कुमार, कृष्ण, महोबा की गजान्तक प्रतिमा, संग्रहालय-पुरातत्व-पत्रिका, अंक १५-१६, १९७५, पृ०८३-८६, चित्र. ४, दीक्षित, एस० के० ए गाइड टुद सेन्टर आर्क्योलाजिकल म्यूजियम, ग्वालियर, १९६२, पृ० ४८-४९, चित्र ६

८९. शिवराममूर्ति, सी०, आइकनोग्राफिक ग्लीनिंग्स फ्राम एपिग्राफी, प्रोसीडिंग्स आफ थर्टीन्थ आल इण्डिया ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स, नागपुर, १९४६, खण्ड ३, पृ० ४०, जियोग्राफिकल एण्ट क्रोनोलाजिकल फैक्टर्स इन आइकनोग्राफी, एन्शिएण्ट इण्डिया, सं० ६, नई दिल्ली, पृ० ६०

९०. कुमार, कृष्ण, महोबा की गजान्तक प्रतिमा, संग्रहालय पुरातव -पत्रिका, अंक १५-१६, लखनऊ १९७५, पृ० ८६

९१. वही, पृ० ८७-८८

९२. वही, पृ०९३

महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक प्रतिमा तेली मन्दिर के जंघा भाग में पश्चिमी भद्र पर एक छोटी सी रथिका में उत्कीर्ण है (चित्र सं० ३६)। इसमें शिव चतुर्भुजी हैं। वे आलीढ़-मुद्रा में खड़े प्रदर्शित हैं। भैरव के समान उनके केश ऊर्ध्वपिंगल हैं। वे गले में नागों की माला, कानों में कुण्डल, कटि में मेखला तथा घुटनों तक लटकी हुई नरमुण्ड-माला से सुशोभित हैं। अपनी दो बाईं तथा ऊपर की एक दाहिनी भुजा से वे गजचर्म धारण किए हैं तथा नीचे का दाहिना हाथ वक्षस्थल के समीप प्रदर्शित है। शिव के वाम भाग में द्विभुजी देवी पार्वती अंजलिमुद्रा में घुटने के बल बैठी हैं, जो संभवतः हाथ जोड़कर शिव से संहार-लीला समाप्त करने का अनुरोध कर रही हैं तथा दाहिनी ओर शिव का एक गण संभवतः भृंगी नृत्य करते हुए दिखलाये गये हैं।

उपर्युक्त प्रतिमा में शिव को दक्षिण भारत की गजान्तक मूर्तियों के समान नृत्य करते हुए नहीं दिखलाया गया है, अपितु वे उत्तर भारत की अन्धकान्तक मूर्तियों की भाँति आलीढ़ मुद्रा में प्रदर्शित हैं, अर्थात् दक्षिण पाद पीछे की ओर सीधा प्रसारित है और बायां पाद आगे बढ़कर मुड़ा हुआ किसी अस्पष्ट वस्तु पर स्थित है। यहाँ पर आलीढ़ मुद्रा में होते हुए भी वे अन्धकासुर के शरीर को त्रिशूल से बेधते हुए नहीं दिखलाये गये हैं तथा साथ में योगेश्वरी, सप्तमातृकाओं आदि का भी अंकन नहीं है। इसके विपरीत वे गजचर्म धारण किए हैं तथा साथ में देवी पार्वती को भी प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार इसमें अन्धकान्तक मूर्ति का प्रभाव होते हुए भी इसे 'शुद्ध गजान्तक' प्रतिमा कहा जा सकता है।

दूसरी गजासुर संहार-मूर्ति लक्ष्मण द्वार के ठीक सामने पहाड़ी में ५ × ४ मी० की विशाल रथिका में उत्कीर्ण की गयी है। यह प्रतिमा बहुत अधिक टूट-फूट चुकी है तथा ऐसा लगता है कि किसी समय इसे जानबूझ कर नष्ट किया गया है। अपनी पूर्णावस्था में यह कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रही होगी। इसमें भी चतुर्भुजी शिव आलीढ़ मुद्रा में खड़े प्रदर्शित हैं। वे अपनी ऊपर की दोनों भुजाओं में गजचर्म धारण किये हैं। नीचे की दोनों भुजाएँ तथा प्रतिमा के अन्य लांछन पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं। उपर्युक्त पहली प्रतिमा की भाँति यह प्रतिमा भी शिव का 'शुद्ध गजान्तक' रूप प्रतीत होती है। इसका निर्माण संभवतः लक्ष्मण द्वार के साथ लगभग १०वीं शताब्दी ई० में किया गया होगा। इस प्रकर ग्वालियर दुर्ग की ये दोनों गजासुर संहार-मूर्तियाँ प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्व की हैं। कृष्ण कुमार ने महोबा की गजान्तक प्रतिमा का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस प्रकार की कोई अन्य प्रतिमा अब तक उत्तर भारत में प्राप्त नहीं हुई है।[९३] यह सच है कि ग्वालियर की उक्त दोनों प्रतिमाओं में शिव को महोबा की गजान्तक मूर्ति की भाँति नृत्य करते हुए नहीं दिखलाया गया है और न ही दक्षिण भारत की 'गजारि' प्रतिमाओं की भाँति इसमें शिव के दाहिने पैर के नीचे हस्ति-मस्तक ही प्रदर्शित है, फिर भी इन मूर्तियों में शिव का शुद्ध गजान्तक रूप ही प्रस्तुत हुआ है। इस प्रकार न केवल महोबा की गजसंहार-मूर्ति, अपितु ग्वालियर दुर्ग की ये दोनों प्रतिमाएँ भी उत्तर भारत में शिव के 'शुद्ध गजान्तक' रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस दृष्टि से ये दोनों प्रतिमाएँ और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

---

९३. कुमार, कृष्ण, महोबा की गजान्तक प्रतिमा, संग्रहालय-पुरातत्व-पत्रिका, अंक १५-१६, लखनऊ, १९७५, पृ० ९३

भैरव

महाभारत में कहा गया है कि वेद ब्राह्मणों ने शिव के दो शरीर मानें हैं, एक 'शिव' या सौम्य तथा दूसरा 'घोर'।[९४] शिव के घोर रूप का दर्शन महा भैरव के रूप में अहिच्छत्र के मृत्फलक पर होता है।[९५] इसके अतिरिक्त पूर्व कुषाणकालीन मुख लिंगों में भी हमें उनके अघोर रूप के दर्शन होते हैं।[९६]

ग्वालियर में तेली मन्दिर के जंघा भाग में दक्षिणी-पूर्वी कर्ण पर भैरव की एक द्विभुजी प्रतिमा स्थापित है। इसमें उनके वक्षस्थल पर अस्थि-मुण्डमाला सुशोभित है तथा केश ऊर्ध्वपिंगल हैं। वे अपनी दायीं भुजा में कपाल तथा बायीं में त्रिशूल धारण किए हैं।

शिव-पार्वती

मूर्तिकला में शिव-पार्वती का अंकन कुषाण काल से मिलता है। इस प्रकार की मूर्तियों में ऊर्ध्वलिंग शिव अपनी शक्ति के साथ आलिंगन मुद्रा में खड़े हैं। दोनों द्विभुज हैं। उनके पीछे वाहन नन्दी का अंकन है। त्रिशूल, परशु आदि किसी आयुध विशेष का चिन्ह नहीं है।[९७] गुप्तकालीन शिव-पार्वती की अनेक प्रतिमाएँ मथुरा, कौशाम्बी आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं।[९८] इस काल में शिव दाढ़ी मूछों से युक्त दाहिने हाथ में अक्षमाला तथा बायाँ अभयमुद्रा के साथ चित्रित किए गये हैं। पार्वती के हाथ में दर्पण प्रदर्शित है।[९९]

ग्वालियर दुर्ग पर १०९३ ई० के सास मन्दिर में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की अनेक मूर्तियाँ अपनी शक्तियों के साथ निर्मित की गयी थीं, किन्तु मन्दिर के खण्डित हो जाने के कारण बहुत सी प्रतिमाएँ नष्ट हो गयी हैं। शिव-पार्वती की एक प्रतिमा सास मन्दिर के मण्डप की पश्चिमी दीवार में जंघा भाग पर स्थापित है। इसमें विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित चतुर्भुजी शिव तथा द्विभुजी पार्वती बैठे हुए प्रदर्शित हैं। उनकी भुजाएँ खण्डित हैं। नीचे वाहन नन्दी का भी अंकन किया गया है।

चतुर्भुजी शिव

तेली मन्दिर के जंघा भाग में दक्षिणी-पश्चिमी कर्ण पर एक छोटी सी रथिका में शिव की चतुर्भुजी प्रतिमा अंकित है। इसमें शिव की एक भुजा में नाग, दूसरी में त्रिशूल, तीसरी वरद मुद्रा में तथा चौथी खण्डित है। यहाँ पर शिवजी समपाद मुद्रा में खड़े हैं। चतुर्भुजी शिव की लगभग ११ प्रतिमाएँ सास मन्दिर के जंघा भाग में दर्शनीय हैं। इनमें जटाजूटधारी शिव की एक भुजा वरद मुद्रा में, दूसरी में त्रिशूल, तीसरी में नाग तथा चौथी भुजा में सम्भवतः कमण्डलु धारण किए हैं। वे स्थानक व आसन दोनों ही मुद्राओं में चित्रित हैं। कहीं-कहीं पर उनके साथ वाहन नन्दी का भी अंकन हुआ है।

---

९४. महाभारत, द्रोणपर्व, २०२, १०७
९५. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ३२
९६. वही, पृ० ४२
९७. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० ३८
९८. वही
९९. बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ४६८

षट्भुजी शिव

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त शिव की एक अन्य षट्भुजी खण्डित प्रतिमा केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, ग्वालियर में सुरक्षित है (चित्र सं० ३७)। इसमें स्थानक शिव की सभी भुजाएँ खण्डित हैं। इसके अतिरिक्त जंघों से नीचे का भाग भी टूटा हुआ है। वे द्विभंग मुद्रा में गतिशील प्रतीत होते हैं। अतः संभव है कि यह शिव-नटराज की प्रतिमा रही हो। जटाजूट, कुण्डल, हार ग्रैवेयक, बाजूबन्द, यज्ञोपवीत, कंकण, कटिसूत्र, धोती आदि से अलंकृत शिव अर्धोन्मीलित नेत्र एवं मधुर हास से अभिलिषित हैं। उनकी जटाओं के पीछे एक सर्प निकलकर ऊपर की दाहिनी भुजा पर अपना फण टिकाये हुए है। यह प्रतिमा लगभग १०वीं-११वीं शताब्दी ई० की अनुपम कलाकृति है।

गणेश

गणेश अर्थात् गणों के ईश का तात्पर्य है, गणों के स्वामी। गणों का सम्बन्ध शिव से रहा है। इस प्रकार गणेश को शिव गणों का अधिपति माना गया है। इन्हें इनकी शरीरगत विशेषताओं के आधार पर गजानन, लम्बोदर, एकदन्त आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। 'गणपति' शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है, किन्तु यहाँ पर यह ब्रह्मणस्पति के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१००] शुक्ल यजुर्वेद में भी कई स्थानों पर गणपति शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु यहाँ भी यह गणेश के अर्थ में नहीं है।[१०१] मैत्रायनी संहिता में गणपति का अस्पष्ट उल्लेख है।[१०२] इसमें सन्देह नहीं कि इसवीसन् के प्रारम्भ के बहुत पूर्व ही गणपति का साहित्य में प्रवेश हो चुका था।[१०३] डा० कुमार स्वामी ने अमरावती के स्तूप से मिले एक ऊष्णीष पर अंकित गजमुख यक्षों को गणेश की प्रतिमा का प्राचीनतम रूप माना है।[१०४]

गणेश की प्राचीनतम प्रतिमा का वर्णन बृहत्संहिता में हुआ है। इसमें वे द्विभुजी, एकदन्त, गजवदन और लम्बोदर वर्णित हैं। उनके हाथों में परशु और कन्दमूल होना चाहिए।[१०५] विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रायः गणेश के चतुर्भुजी, गजवदन, लम्बोदर, सर्प-यज्ञोपवीतधारी, विस्तृत कर्ण, एकदन्त होने का उल्लेख है।[१०६] उनके हाथों में त्रिशूल, अक्षमाला, मोदकपात्र अथवा मोदक, परशु, कमल, कपित्थ, अंकुश, नाग आदि में से कोई चार लाछंन होने चाहिए।[१०७] साथ में कभी-कभी उनकी दो पत्नियों ऋद्धि और

---

१००. ऋग्वेद, २, २३, १; बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ४७५; सम्पूर्णानन्द, गणेश, पृ० १

१०१. माध्यदिनीय संहिता, १७, २५, २३, १९

१०२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १६७

१०३. वही

१०४. बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३५६

१०५. बृहत्संहिता, ५८, ५८

१०६. विष्णुधर्मोत्तर०, ७१, १३-१६; मत्स्यपुराण, ३६०, ५२-५५; अपराजित०, २१२, ३५-३७, रूपमण्डन, ५,१५; अग्निपुराण, ५०, २३-२६

१०७. वही

बुद्धि, भारती और श्री, बुद्धि और कुबुद्धि अथवा विघ्नेश्वरी आदि नामों का भी उल्लेख है।[१०८] वे करण्डमुकुट तथा अन्य अनेक आभूषणों से अलंकृत होने चाहिए।[१०९]

अंशुमद्भेदागम, उत्तरकामिकागम, सुप्रभेदागम, शिल्परत्न आदि ग्रंथों में गणेश प्रतिमा का विवरण बहुत कुछ पुराणों के समान ही है।[११०]

भारतीय कला में गणेश का अंकन कुषाण काल से मिलता है। मथुरा से प्राप्त एक शिलापट्ट में गजमस्तक युक्त आकृतियों वाले पांच गजानन यक्षों का अलंकरण है।[१११] मथुरा संग्रहालय से तीसरी-चौथी शताब्दी में निर्मित गणेश की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।[११२] गुप्तकाल में गणेश मूर्तियों का प्रचलन और अधिक बढ़ गया। इस काल की प्रतिमाएँ उदयगिरि, अहिच्छत्र, भीतरगाँव, देवगढ़, राजघाट (वाराणसी) आदि स्थानों से मिली है।[११३] मध्यकाल में गणपति प्रतिमाओं का प्रचार बहुत बढ़ गया, पूर्व और उत्तर मध्ययुगीन गणपति की अनेक आसन, स्थानक और नृत्य मूर्तियाँ सारे भारत में उपलब्ध होती हैं। इन मूर्तियों में गणेश द्विभुजी, चतुर्भुजी, षट्भुजी, दसभुजी आदि रूपों में अंकित किए गये हैं। इनमें चतुर्भुज रूप में अंकित प्रतिमा अधिक लोकप्रिय रही है। सामान्यतः वे गजवदन, सूर्पकर्ण, लम्बोदर, एकदन्त, सर्पयज्ञोपवीत, परसु, अंकुश मोदकपात्र आदि धारण किए प्रदर्शित किये गये हैं।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त गणेश की सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा गुजरी महल संग्रहालय में उपलब्ध है। इसमें द्विभुजी गणेश बैठे हुए प्रदर्शित हैं। उनके बाएँ हाथ में मोदकपात्र है, जिसे वह अपनी सूढ़ से स्पर्श कर रहे हैं। दायाँ हाथ खण्डित है। वे मुकुट, सर्पयज्ञोपवीत आदि से अलंकृत हैं। उनकी भुजाओं में बाजूबन्ध, मस्तक पर मोतियों की लड़ियाँ तथा पैरों में नूपुर सुशोभित हैं (चित्र सं० ३८) यह प्रतिमा उरवाही द्वार पर स्थित अम्बिका और उनके संगी सर्वानुभूति यक्ष (चित्र सं० ४७) की समकालीन प्रतीत होती है। इस आधार पर इसे आठवीं शताब्दी ई० में रखा जा सकता है।

तेली मन्दिर की छोटी-छोटी रथिकाओं में भी गणेश का अंकन हुआ है। एक द्विभुजी प्रतिमा दक्षिणी-पूर्वी कर्ण पर नृत्य-मुद्रा में प्रदर्शित है। इसकी एक भुजा में मोदक पात्र है तथा दूसरी खण्डित है। यह सर्पयज्ञोपवीत धारण किए है। इसी प्रकार एक अन्य प्रतिमा दक्षिणी-पश्चिमी कर्ण पर भी सुशोभित है। इसमें भी द्विभुजी गणेश नृत्यमुद्रा में प्रदर्शित हैं।

चतुर्भुज मन्दिर (८७५-७६ ई०) की दो गणेश प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं। एक प्रतिमा मन्दिर के वेदीवन्ध के ऊपर की रथिका में उत्तरी-पूर्वी कर्ण पर स्थित है। इसमें गणेश द्विभुजी प्रदर्शित हैं। दूसरी दक्षिणी भद्र पर स्थापित हैं। इसमें वे चतुर्भुजी हैं। हाथों के आयुध अस्पष्ट हैं। चतुर्भुज मन्दिर

---

१०८. वही

१०९. वही

११०. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग १, ११, अपेण्डिक्स-सी, पृ० १-५

१११. जोशी, नी० पु०; मथुरा, कला पृ० ७३-७४

११२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० १६९

११३. अग्रवाल, वी० एस०, टेराकोटा फिगराइन्स फ्राम अहिच्छत्र, एन्सिएन्ट इण्डिया, भाग-४; वत्स, माधवस्वरूप, द गुप्ता टेम्पुल एट देवगढ़, आ० स० इ०, मेमोयर, नं० ७०, प्लेट X; जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १६९

और लक्ष्मण द्वार के मध्य एक अपूर्ण मन्दिर के गर्भगृह की दक्षिणी दीवार पर नवीं-दसवीं शताब्दी की ब्राह्मलिपि में गणेश-स्तुति अंकित है। मन्दिर की शुकनास पर नृत्य करते हुए गणेश की चतुर्भुजी अस्पष्ट प्रतिमा भी उत्कीर्ण है। लक्ष्मण द्वार के बाहर दाईं ओर की पहाड़ी में ५० सेमी० ऊँची और ८० सेमी० चौड़ी रथिका काटकर उसमें गणेश-लक्ष्मी की चतुर्भुजी मूर्ति बनायी गयी है। इनकी भुजाएँ खण्डित हैं। साथ में अन्य गण भी चित्रित किए गये हैं। शैली के आधार पर इस प्रतिमा को नवीं-दसवीं शताब्दी के मध्य रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मण द्वार और हथियापौर के बीच कुछ शिवलिंग तथा अन्य देवी-देवताओं के साथ गणेश की पाँच प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं।

सास-बहू मन्दिर में गणेश की स्वतन्त्र प्रतिमाओं का अभाव है। गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर उदुम्बर में एक ओर तीन अनुचरों के साथ गणेश तथा दूसरी और तीन अनुचरों के साथ कुबेर को बैठे हुए प्रदर्शित किया गया है। मन्दिर का गर्भगृह नष्ट हो गया है। सम्भव है उसमें भी गणेश की कुछ अन्य प्रतिमाएँ स्थापित रही हों।

कार्तिकेय

कार्तिकेय को ऋग्वैदिक देवता 'कुमार' से जोड़ने का प्रयास किया गया है।[११४] कालान्तर में उनके स्कन्द, सनत, विशाख, जयन्त, विजयन्त, गुह, महासेन, धूर्त, लोहितगात्र आदि अनेक नाम लोकप्रिय हुए।[११५] इनकी उत्पत्ति के विषय में चार मत प्रचलित थे। पितामह के ज्येष्ठपुत्र सनतकुमार, महेश्वर के पुत्र, अग्नि के पुत्र और उमा-गंगा तथा कृत्तिकाओं के पुत्र के रूप में।[११६]

बृहत्संहिता में कार्तिकेय को शक्तिधर कहा गया है।[११७] विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार कार्तिकेय या कुमार को षट्मुख होना चाहिए, किन्तु उनके अन्य तीन रूप स्कन्द, विशाख और गुह एकमुख हों।[११८] मत्स्यपुराण और रूपमण्डन के अनुसार खेटनगर में कार्तिकेय की प्रतिमा द्वादशभुजी खर्वट में चतुर्भुज, वन अथवा ग्राम में द्विभुज बनानी चाहिए।[११९] द्वादशभुजी कार्तिकेय के दाहिने हाथों में शक्ति, पाश, खड्ग शर, त्रिशूल और एक हाथ या तो वरद या अभय मुद्रा में होता है तथा बाएँ हाथों के आयुध धनुष, पताका, मुष्टिक, तर्जनी, खेटक और ताम्रचूड़ होता है।[१२०] दाहिनी भुजा पर केयूर का आभरण भी होना चाहिए।[१२१] कार्तिकेय का वाहन मयूर भी चित्रित हो।[१२२] चतुर्भुज कार्तिकेय के बाएँ हाथों के आयुध शक्ति, पाश तथा दायें एक हाथ में असि और दूसरा वरद या अभय मुद्रा में होना चाहिए।[१२३] द्विभुज कार्तिकेय के बाएँ हाथ में शक्ति दायें हाथ में कुक्कुट होना चाहिए।[१२४]

---

११४. अग्रवाल, पी० के०; स्कन्द-कार्तिकेय, पृ० १-३४

११५. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १४८

११६. अग्रवाल, पी० के०, स्कन्द-कार्तिकेय, पृ० २४

११७. बृहत्संहिता, ५७, ४१

११८. विष्णुधर्मोत्तर० ३, ७१, ३-६

११९. मत्स्यपुराण, २५९, ४५-५१, रूपमण्डन, ५, २६-२८

१२०. रूपमण्डन, ५, २८-३०

१२१. वही

१२२. वही, ५, २७

१२३. वही, ५, ३१-३२

कार्तिकेय का प्राचीनतम अंकन यौधेयों के सिक्कों में मिलता है।[१२५] कुषाण-कालीन मुद्राओं में भी स्कन्द, कुमार और विशाख के रूप में इस देवता को अंकित किया गया है।[१२६] गुप्तकाल में सम्राट कुमारगुप्त की स्वर्ण मुद्राओं पर भी कार्तिकेय की आकृति चित्रित हैं।[१२७]

मूर्तिकला के क्षेत्र में उपलब्ध प्रतिमाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कुषाण और गुप्तकाल में स्कन्द उपासना बहुत जोरों पर थी।[१२८] कुषाणकाल में कार्तिकेय बहुधा खड़े प्रदर्शित किए गये हैं। उनके साथ प्रायः उनका प्रिय खिलौना कुक्कुट भी प्रदर्शित किया गया है, जो उन्हें सूर्य के सारथि 'अरुण' अथवा समुद्र के द्वारा प्राप्त हुआ था।[१२९] कुषाणकाल में स्कन्द एकमुखी और दो भुजाओं वाले मिलते हैं। उनके दोनों कन्धों पर लहराते हुए केशों की लटें, वक्षस्थल पर त्रिकोण ग्रैवेयक तथा एक भुजा में आयुध 'शक्ति' सुशोभित होती है।[१३०] गुप्तकाल में स्कन्द के सिर पर तीन चोटियों वाली शिखा (त्रिशिख) प्रदर्शित है। कुषाणकालीन त्रिकोणीय ग्रैवेयक इस समय लुप्तप्राय है तथा गले में एकावली प्रदर्शित हुई है। इसके अतिरिक्त इस काल में उनका वाहन मयूर और आयुध शक्ति का भी अंकन मिलता है। कभी-कभी वह अपने मयूर को कुछ खिलाते हुए भी प्रदर्शित हुए हैं।[१३१] गुप्तोत्तर काल में भी कार्तिकेय प्रतिमाओं का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ।

ग्वालियर दुर्ग में तेली मन्दिर (आठवीं शताब्दी) के जंघा भाग में दक्षिणी भद्र पर स्थापित एक कार्तिकेय प्रतिमा उल्लेखनीय है। इसमें द्विभुजी कार्तिकेय अपने वाहन मयूर पर ललितासन मुद्रा में बैठे हैं। वे अपने दाहिने हाथ से मयूर को कुछ (सम्भवतः अंगूर) चुगा रहे हैं तथा बाएँ हाथ में शक्ति धारण किए हैं। सिर पर तीन शिखाओं वाली चोटी है। उनका मुख खण्डित है। मयूर की पूंछ पीछे से मुड़कर कार्तिकेय के चारों ओर प्रभावली बना रही है (चित्र सं० ३९)। इसी मन्दिर में मयूर को चुगाते हुए कार्तिकेय का एक अन्य चित्रण उत्तरी-पश्चिमी कर्ण पर भी दर्शनीय है।

चतुर्भुज मन्दिर (८७५-७६ ई०) में भी वेदीबन्ध के ऊपर पश्चिमी भद्र की रथिका में तथा जंघा के उत्तरी-पश्चिमी कर्ण पर द्विभुजी कार्तिकेय का अंकन उपलब्ध है।

सूर्य

प्रकृति देवता के रूप में सूर्य-उपासना वैदिककाल से ही प्रचलित थी।[१३२] कुषाणों के समय में उसके कई परिवर्तन हुए और गुप्तकाल में यह पद्धति सौर सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुई।[१३३] पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाणों से विदित होता है कि इस समय तक सूर्य मन्दिरों का निर्माण उत्तर भारत में होने लगा था।[१३४]

---

१२४. वही
१२५. अग्रवाल, पी० के०., स्कन्द-कार्तिकेय, पृ० ४१
१२६. रोज़नफील्ड, जे० एस०, द डाइनेस्टिक आर्ट आफ कुषाणाज, पृ० ९९
१२७. अग्रवाल, पी० के०,स्कन्द-कार्तिकेय पृ० ७६-७७
१२८. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १४९-१५४
१२९. वही
१३०. वही० पृ० १४९-१५२
१३१. वही, पृ० १५२-१५३
१३२. सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, पृ० ७५
१३३. जोशी, नी० पु० प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १५६
१३४. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएं, पृ० १६४

सूर्य प्रतिमा का प्रचीनतम विवरण बृहत्संहिता में मिलता है। इसमें सूर्य हार, कुण्डल, मुकुट आदि से सुशोभित, उदीच्यवेश, कंचुक तथा अव्यंग धारण किए, पैरों से वक्ष तक चोलक से ढके और हाथों में पद्म लिए हुए चित्रित हैं।[१३५] यहाँ पर सूर्य के रथ, अश्वों तथा अन्य अनुचरों का उल्लेख नहीं है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सूर्य के रथ, अश्वों तथा अन्य अनुचरों का उल्लेख नहीं है विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सूर्य का वर्णन बृहत्संहिता की परम्परा में है, किन्तु इसमें उन्हें उदीच्यवेश के साथ-साथ रथारूढ़ भी बतलाया गया है और उनके चार पुत्र, चार पत्नियों, वर्म और शूल से युक्त दण्ड व लेखनी लिए पिंगल का भी उल्लेख है।[१३६] उदीच्यवेश तथा रथारूढ़ सूर्य की प्रतिमा बनाने का विधान मत्स्यपुराण में भी मिलता है।[१३७] रूपमण्डन के अनुसार सूर्य सभी लक्षणों से युक्त और आभूषणों से अलंकृत, दो भुज, एक मुख वाले तथा हाथों में श्वेत कमल धारण किए हों।[१३८] सूर्य का यह विवरण अपराजितपृच्छा के आधार पर है।[१३९]

भारतीय कला में सूर्य की प्रतिमा का प्रारम्भिक अंकन बोधगया के एक शुंगकालीन वेदिका स्तम्भ से मिलता है, जिसमें सूर्य को चार अश्वों वाले रथ पर आरूढ़ प्रदर्शित किया गया है।[१४०] रथारूढ सूर्य के अन्य शुंगकालीन दृश्य उड़ीसा की अनन्तगुफा में दर्शनीय हैं।[१४१] सूर्य की कुषाणकालीन प्रतिमाएँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं।[१४२] गुप्तकालीन सूर्य प्रतिमाएँ कुषाणकाल के सदृश ही हैं, किन्तु उनमें अब कुछ नया रूप आना प्रारम्भ हो गया था। इस काल में सामान्यतः सूर्य अपने हाथों में सनाल विकसित कमल धारण किए हैं और उनके साथ में उनके अनुचर दण्ड और पिंगल भी चित्रित हैं।[१४३] पूर्वमध्ययुग में सूर्य के साथ रानी राज्ञी और निक्षुभा आदि भी चित्रित किए जाने लगे। मध्ययुगीन सूर्य प्रतिमाओं में दण्ड-पिंगल, ऊषा-प्रत्यूषा के साथ कभी-कभी दो अश्विन देवताओं के चित्र भी मिलते हैं।[१४४]

ग्वालियर दुर्ग पर सूर्य-उपासना का पहला प्रमाण लगभग छठीं शताब्दी ई० का है। यहाँ से प्राप्त हूण शासक मिहिरकुल के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि मातृकुल के पौत्र तथा मातृदास के पुत्र मातृचेट ने अपने माता-पिता की और राजा को पुण्याभिवृद्धि के लिए सूर्य के एक पाषाण मन्दिर का निर्माण करवाया था।[१४५] यह मन्दिर अब नष्ट हो चुका है। इसे किस स्थान पर बनवाया गया था, यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कनिंघम का अनुमान है कि यह सूर्यकुण्ड के पश्चिमी

---

१३५. वृहत्संहिता, ५८, ४-४८
१३६. विष्णुधर्मोत्तर०, ३, ७, ११
१३७. मत्स्यपुराण, २६०, १-४
१३८. रूपमण्डन, २. १८
१३९. अपराजित०, २१४, ११-१२
१४०. कुमारस्वामी, ए० के०, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट, पृ० ६७, चि० ६१
१४१. शाह, यू० पी०, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० ७
१४२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १५८-१५९
१४३. बनर्जी, जे० एन०, डेवलपमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ४३५
१४४. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएं, पृ० १६९-१७०
१४५. फ्लीट, जे० एफ०, का० इ० इ०, खण्ड ३, १६२

तट पर स्थित वर्तमान सूर्य मन्दिर के स्थान पर ही रहा होगा।[१४६] ग्वालियर दुर्ग से मिहिरकुल के अभिलेख में उल्लिखित उक्त मन्दिर के अतिरिक्त इस काल का अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

एक सूर्य प्रतिमा सास-बहू मन्दिर और हथियापौर के मध्य पूर्वी प्राचीर में जड़ी हुई है। यह प्रतिमा एक रथिका में स्थापित है। इसमें सूर्य समपाद खड़े प्रदर्शित हैं । वे अपनी दोनों भुजाओं में पूर्ण विकसित पद्म धारण किए हैं तथा किरीटमुकुट, कुण्डल, हार, यज्ञोपवीत, वनमाला और मेखला से अलंकृत हैं। रथिका के दोनों ओर उनके दो अनुचर दण्ड और पिंगल भी चित्रित है (चित्र सं० ४०)। शैली के आधार पर इस प्रतिमा को नवीं शताब्दी ई० में निर्मित माना जा सकता है।

लक्ष्मणद्वार और हथियापौर के बीच पहाड़ी में छोटी-छोटी रथिकाएँ काट कर उनमें शिवलिंग, ब्रह्म, विष्णु, महेश, गणेश, नवग्रह आदि के साथ-साथ सूर्य की दो प्रतिमाएँ भी उत्कीर्ण की गयी हैं। इनमें चतुर्भुजी सूर्य अपने दो हाथों में पद्म धारण किए हैं। शेष दो हाथों के आयुध अस्पष्ट हैं। अनुमानतः इन प्रतिमाओं को १०वीं० श० ई० में लक्ष्मणद्वार के साथ ही निर्मित किया गया होगा।

सूर्य की एक प्रतिमा सास मन्दिर (१०९३ ई०) के मण्डप की पूर्वी जंघा पर दर्शनीय है। इसमें चतुर्भुजी सूर्य अपने ऊपर के दोनों हाथों में पद्म धारण किए हैं। नीचे के एक हाथ में अक्षमाला सुशोभित है तथा दूसरी भुजा का आयुध अस्पष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्वालियर दुर्ग पर सूर्य उपासना के प्रमाण हमें छठीं शताब्दी ई० से ग्वारहवीं शताब्दी ई० तक लगातार मिलते हैं किन्तु मिहिरकुल के शासनकाल में निर्मित सूर्य मन्दिर के अतिरिक्त दुर्ग पर अन्य किसी स्वतन्त्र सूर्य मन्दिर का प्रमाण नहीं मिलता।

ब्रह्मा

ब्रह्मा, विष्णु और महेश की देवत्रयी में 'ब्रह्मा' को सृष्टि का नियामक कहा गया है। इनकी उत्पत्ति विष्णु के नाभि-कमल से मानी जाती है।[१४७] एक अन्य कथा के अनुसार आदि सर्गिक बीज तथा विष्णु रूप योनि के संयोग से एक सोने का अण्डा बना, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।[१४८] दूसरी परम्परा यह बतलाती है कि जल तत्व और आकाश-तत्वों से ब्रह्मा विराट रूप में प्रकट हुए।[१४९] ब्रह्मा के द्वारा प्रजापतियों की उत्पत्ति हुई और प्रजापतियों ने सृष्टि को रचा। अतः ब्रह्मा सृष्टि के 'पितामह' कहलाये।[१५०] ऐसा कहा जाता है कि चारों वेदों की उत्पत्ति ब्रह्मा के चारों मुखों से हुई।

आसन अथवा वाहन भेद के आधार पर मत्स्यपुराण में ब्रह्मा की मूर्ति दो प्रकार की बतलायी गयी है-एक कमलासन और दूसरी हंसारूढ़।[१५१] इस पुराण के अनुसार वे चतुर्भुजी होने

---

१४६. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३५३

१४७. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, भाग २, पृ० ५०१; बनर्जी, जे० एन०, डेवलपेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ५१४; शिवराममूर्ति, सी०, जियोग्रेफिकल एण्ड कोनोलाजिकल फेक्टर्स इन इण्डियन आइकनोग्राफी, एन्सिएण्ट इण्डिया, नं. ६, पृ० ३५

१४८. वही

१४९. वही

१५०. वही

१५१. मत्स्यपुराण, २५९, ४०

चाहिए तथा उनके हाथों में कमण्डलु, स्रुवा, दण्ड और स्रुक प्रदर्शित होना चाहिए।[१५२] ब्रह्मा के बाएँ सावित्री तथा दक्षिण में सरस्वती प्रतिमा बिठाने का भी विधान है।[१५३] समरांगणसूत्रधार में भी ब्रह्मा को दण्डधर कहा गया है।[१५४] अपराजितपृच्छा में ब्रह्मा की चार प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख मिलता है।[१५५] इनमें कमलासन का कलि में, विरंचि का द्वापर में, पितामह का त्रेता में और ब्रह्मा का कृतयुग में महत्व है, किन्तु इनमें से कोई भी प्रतिमा दण्ड धर नहीं है।[१५६] रूपमण्डन के अनुसार ब्रह्मा के सामान्यतया चार मुख और चार हाथ होने चाहिए।[१५७] उनके दाहिने हाथों में नीचे जयमाला और ऊपर के हाथ में स्रुवा तथा बाएँ ऊपरी हाथ में पुस्तक तथा नीचे के हाथ में कमण्डलु बतलाया गया है।[१५८]

कला में ब्रह्मा के प्रायः चार मुख और चार हाथ प्रदर्शित किए जाते हैं। हाथों में वे बहुधा यज्ञपात्र, पुस्तक, माला धारण किए रहते हैं तथा उनका एक हाथ वरद या अभयमुद्रा में होता है। वे बढ़ी हुई दाढ़ी, स्थूलकाय और वाहन हंस के साथ चित्रित होते हैं। उन्हें पूर्ण विकसित पद्म पर बैठे हुए भी दिखलाया जाता है।[१५९] ब्रह्मा की मूर्तियाँ गुप्तकाल से मिलती हैं ऐसी अनेक प्रतिमाएँ इण्डियन म्यूजियम (कलकत्ता) और भारत कला-भवन (वाराणसी) में विद्यमान हैं।[१६०] गुप्तकालीन देवगढ़ के दशावतार मन्दिर व भीतरगाँव (कानपुर) के मन्दिरों में ब्रह्मा का अंकन हुआ है।[१६१] उत्तर गुप्तकालीन मन्दिरों में भी ब्रह्मा की मूर्तियाँ निर्मित की जाती रहीं।

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित तेली मन्दिर के जंघा में दक्षिणी-पूर्वी कर्ण पर त्रिमुखी ब्रह्मा विकसित पद्म पर उत्कूटिकासन मुद्रा में बैठे हुए प्रदर्शित हैं। उनका चौथा मुख तीनों मुखों के पीछे अदृश्य है। वे अपने एक हाथ में पुस्तक धारण किए हैं। शेष तीन भुजाएँ खण्डित हैं (चित्र सं० ४१)।

ब्रह्मा की एक अन्य प्रति सास मन्दिर के पश्चिमी जंघा में भी दर्शनीय है। इसमें वे विभिन्न वस्त्राभूषणों से अलंकृत चतुर्भुजी प्रदर्शित हैं। साथ में उनकी शक्ति (सावित्री या सरस्वती) का भी अंकन किया गया है। ब्रह्मा की चारों भुजाएँ खण्डित हैं। इसी मन्दिर के गर्भगृह के प्रवेशद्वार में उत्तरंग पर विष्णु और महेश के साथ ब्रह्मा को भी प्रदर्शित किया गया है।

लक्ष्मी

भारतीय संस्कृति में लक्ष्मी को धन, वैभव, ऐश्वर्य और सम्पन्नता की देवी माना जाता है। पुराणों और महाकाव्यों के अनुसार उनकी उत्पत्ति देवताओं और राक्षसों के द्वारा समुद्र मंथन के समय हुई थी। अनेक शिल्पशास्त्रों के अनुसार लक्ष्मी प्रतिमा को चतुर्भुजी होना चाहिए। उनकी ऊपर

---

१५२. वही, २५९, ४१-४२
१५३. मत्स्यपुराण, २५९, ४४
१५४. समरांगण०, ७७, ३
१५५. अपराजित०, २१४, २
१५६. वही, २१४, ४-७
१५७. रूपमण्डन, २, ६
१५८. वही, २, ७
१५९. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १७३
१६०. वही, १७३-१७५
१६१. वही

की दाहिनी भुजा में सनाल कमल तथा ऊपरी बाई भुजा में अमृतघट हो। शेष दोनों हाथों में क्रमशः श्रीफल और शंख हों। वे दिव्यरूपा, सुयौवना, चन्द्रमुखी और प्रसन्न वदना हों तथा आठ पंखुड़ियों वाले सुन्दर कमल पर शोभायमान हों। उनके पीछे दो गज अपनी सूढ़ों में घट लिए हुए उनका अभिषेक करते हुए प्रदर्शित हों। ऐसी लक्ष्मी को गजलक्ष्मी कहा गया है।[१६२] मार्कण्डेयपुराण उन्हें उनकी विकसित अवस्था में अष्टदसभुजी बनाने का उल्लेख करता है।[१६३] अंशुमदभेदागम् में पद्मासना लक्ष्मी को द्विभुजी बनाने का निर्देश है। उनके दाहिने हाथ में कमल तथा बाएँ हाथ में श्रीफल सुशोभित होना चाहिए।[१६४] लगभग ऐसा ही विवरण शिल्परत्न में भी मिलता है, किन्तु यहाँ पर श्रीफल उनके दाहिने हाथ में तथा कमल को वामहस्त में रखने का निर्देश है।[१६५]

भारतीय कला में लक्ष्मी का सर्वप्रथम अंकन शुंगकाल में मिलता है। साँची, भारहुत, बोधगया, अमरावती, मथुरा आदि की प्रारम्भिक बौद्धकला में लक्ष्मी गजों द्वारा अभिषिक्त होती हुई या पुष्करणी में स्थित देवी के रूप में मिलती हैं।[१६६] कुषाणकाल में लक्ष्मी मूर्तियाँ अधिक प्रचलित हो गयी थीं। इस काल में यद्यपि इनका गजलक्ष्मी रूप सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ, किन्तु साथ में अन्य कई रूपों के दर्शन भी होते हैं।[१६७] गुप्तकाल में सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन प्रचुरता के साथ हुआ है। मूर्तियों में वे एक या दोनों हाथों में कमल लिए अथवा गजों द्वारा अभिषिक्त होती हुई दोनों ही रूपों में चित्रित हुई हैं। पूर्वमध्यकाल एवं मध्यकालीन मन्दिरों में लक्ष्मी का अंकन व्यापक रूप में मिलता है।

ग्वालियर दुर्ग पर स्थित मन्दिरों में लक्ष्मी की एकमात्र प्रतिमा सास मन्दिर के दक्षिणी-पूर्वी जंघा की एक रथिका में दर्शनीय है। इसमें चतुर्भुजी गजलक्ष्मी द्विभंग मुद्रा में खड़ी प्रदर्शित हैं (चित्र सं० ४२)। वे कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, भुजबन्द, कटिसूत्र जाल आदि आभूषणों से भली-भाँति अलंकृत हैं। उनके ऊपर दो गज घटों से जल डालकर उनका अभिषेक कर रहे हैं तथा नीचे चरणों के समीप दो सिंह बैठे हुए प्रदर्शित हैं। लक्ष्मी की सभी भुजाएँ खण्डित होने के कारण उनके आयुधों की स्थिति स्पष्ट नहीं है। देवी के दाहिनी ओर एक सिंहमुखी अनुचरी भी अंकित हैं।

पार्वती

कला में शिव के साथ पार्वती का अंकन हमें कुषाणकाल से ही मिलने लगता है, किन्तु पार्वती की स्वतन्त्र प्रतिमाएँ तत्कालीन कला में दुर्लभ हैं। गुप्तकालीन पार्वती प्रतिमाएँ अहिच्छत्रा और कसिया से प्राप्त हुई है।[१६८] तपस्यारत पार्वती का अंकन गुर्जर प्रतिहारकालीन तथा बाद के मन्दिरों में बहुलता के साथ देखने को मिलता है। प्रायः जंघा की भद्र-रथिका में चतुर्भुजी पार्वती हाथों में अग्निकुण्ड लिए खड़ी प्रदर्शित हैं।

ग्वालियर दुर्ग की पूर्वी प्राचीर में सास-बहू मन्दिर और हथियापौर के मध्य एक शिलापट्ट लगा है। इसमें एक रथिका में चतुर्भुजी तपस्यारत पार्वती समभंग मुद्रा में खड़ी हैं। रथिका

---

१६२. बनर्जी, जे० एन०, डेवलप्मेण्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३७३

१६३. वही

१६४. राव, गोपीनाथ, एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३७३

१६५. वही

१६६. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १२१-१२२

१६७. वही

१६८. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १३९

के दोनों पार्श्वों में सादे भित्ति-स्तम्भ तथा शीर्ष पर कपोत और चन्द्रशाला का अलंकरण है। जटा-जूट से सुसज्जित पार्वती पंचाग्नि तप करती हुई दिखायी गयी हैं (चित्र सं० ४३)। उनके ऊपर के दोनों हाथों में अग्निपात्र है। नीचे का दाहिना हाथ वरद मुद्रा में प्रसारित है तथा बायें में संभवतः कमण्डलु है। वन का दृश्य उपस्थित करने के लिए कलाकार ने देवी के दाहिनी ओर सिंह और बाई ओर हिरन दिखलाये हैं। उनके अर्धोन्मीलित नेत्र सौम्य मुखमण्डल पर ध्यान लगाने का भाव उत्पन्न कर रहे हैं। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर यह प्रतिमा ८वीं-९वीं शताब्दी ई० की प्रतीत होती है तथा कला के साथ-साथ प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

सिंहवाहिनी दुर्गा

दुर्गा की उपासना एवं पूजन-परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है तथा कई नामों और रूपों में उनकी मान्यता है।[१६९] तैत्तिरीय आरण्यक, केनोपनिषद, महाभारत और मार्कण्डेयपुराण के देवी-माहात्म्य आदि में दुर्गा की उपासना पद्धति एवं पूजा परम्परा का उल्लेख मिलता है।[१७०]

कला में दुर्गा के विविध रूपों में उसका महिषमर्दिनी रूप सर्वाधिक प्रचलित था, किन्तु साथ-साथ उनका सिंहवाहिनी रूप भी देखने को मिलता है। पश्चिमोत्तर भारत में इसका प्रसार कुषाणकाल से ही था, किन्तु मथुरा की तत्कालीन कला में हमें यह देखने को नहीं मिलता। गुप्तकाल में दो भुजाओं वाली देवी हाथ में माला लिये बाई ओर मुँह किये बैठे हुए सिंह पर आसीन है। इस काल की स्वर्ण मुद्राओं पर भी सिंहवाहिनी के दर्शन होते हैं।[१७१] कालान्तर में मध्यकालीन शिल्प में भी इसका अंकन प्रचलित रहा।

ग्वालियर दुर्ग में सिंहवाहिनी दुर्गा का एक रूप तेली मन्दिर के शिखर पर दक्षिणी सिंहकर्ण की एक विशाल चन्द्रशाला में प्रदर्शित है (चित्र सं०४४)। इसमें शिविहीन अष्टभुजी देवी ललितासन मुद्रा में बैठी है! वे नाभिछन्दक (स्तनहार), भुजबन्द, कंकण, मेखला और नूपुर आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। उनका सबसे नीचे का दाहिना हाथ दायीं जांघ पर स्थित है। संभवतः उसमें वे अक्षमाला धारण किये हैं। उसके ऊपर के हाथ में खड्ग है। तीसरा हाथ अभयमुद्रा में तथा चौथे सबसे ऊपर के दाहिने हाथ में वे संभवतः पुष्प या अन्य कोई वस्तु लिये हैं। बाई ओर सबसे नीचे का हाथ बायें पैर के घुटने पर रखा है। उसके ऊपर की भुजा खण्डित है। तीसरे बायें हाथ में खेटक है तथा चौथा खण्डित है। देवी के दायें पार्श्व में पैर के नीचे एक सिंह शान्त मुद्रा में बैठा है तथा दोनों ओर दो अनुचर या अनुचरियाँ खड़े प्रदर्शित हैं। देवी के हाथों के अस्त्र-शस्त्र, क्षीण कटि, उन्नत पीन पयोधर, गहरी नाभि, पेट पर पड़ी उदर रेखाएँ तथ शरीर की स्निग्धता एवं सलोनापन उनकी शक्ति, सौन्दर्य एवं यौवन का प्रतीक है। शान्त बैठा सिंह देवी के मुखमण्डल पर व्याप्त शान्ति को प्रकट करता है। तेली मन्दिर की समकालीन अर्थात् आठवीं शताब्दी में निर्मित दुर्गा की इस प्रतिमा में कलाकारों के अद्भुत हस्तकौशल के दर्शन होते हैं।

सिंहवाहिनी दुर्गा की एक अन्य प्रतिमा सास मन्दिर के मण्डप के भीतरी भाग में दक्षिणी पूर्वी कर्ण की रथिका पर दर्शनीय है (चित्र सं०४५)। इसमें विभिन्न वस्त्राभूषणों से अलंकृत

---

१६९. काणे, पी० वी०, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० ७३८-७३९

१७०. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १३४

१७१. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मुर्तिविज्ञान, पृ० १३७

सिरविहीन दसभुजी देवी दो सिंहों पर एक साथ आरूढ़ है। देवी की सभी भुजाएँ एवं पैर खण्डित है। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निर्मित यह प्रतिमा भी कला और प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

माता या मातृका

बालक को गोद में लिए हुए माता का कला में अंकन हमें कुषाणकाल से ही मिलने लगता है। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ लखनऊ तथा मथुरा के राजकीय संग्रहालयों में दर्शनीय हैं।[१७२] ग्वालियर दुर्ग पर सास मन्दिर की पूर्वी रथिका में ऐसी ही एक मातृका बालक को गोद में लिए हुए ललितासन मुद्रा में बैठी प्रदर्शित है। ग्रैवेयक, स्तनहार आदि आभूषणों से अलंकृत माता के सिर के चतुर्दिक पद्म प्रभामण्डल दिखलाया गया है। माता की मुखाकृति तथा बालक का शीर्ष खण्डित है। शैली की दृष्टि से यह प्रतिमा मन्दिर से कुछ पहले लगभग ९वीं-१०वीं शताब्दी ई० में निर्मित प्रतीत होती है। सम्भव है सास मन्दिर का जीर्णोद्धार करते समय इसे कहीं अन्यत्र से लाकर यहाँ स्थापित कर दिया गया हो।

इस प्रकार यहाँ पर वैष्णव, शैव, सूर्य एवं शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित विभिन्न देवी-देवताओं के नाना रूपों को अंकित किया गया है। इनमें से अनेक मूर्तियाँ तत्कालीन कला के क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

जैन प्रतिमाएं

जैन धर्म और कला का आधार पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों के विचार और उपदेश हैं। इस धर्म में ईश्वर या अवतारवाद को नहीं माना गया है, अपितु जब कोई महान पुरूष अपने कर्मों का क्षय करके आत्मा को शुद्ध कर लेता है तब उसे 'जिन' अर्थात् विजयी और उसके अनुयाइयों को 'जैन' कहते हैं।

जैन परम्परा में कुल चौबीस तीर्थंकर माने गये हैं। इनके नाम क्रमशः ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर हैं।[१७३]

शास्त्रों के अनुसार जैन तीर्थंकर को सामान्यतः अजानुबाहु (घुटनों तक लम्बी भुजाएँ) तथा नग्न शरीर चित्रित किया जाना चाहिए। वे युवा हों तथा उनके मुख-मण्डल पर शान्ति झलकती हो और वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह अंकित हो।[१७४] तीर्थंकर के दाहिनी ओर एक यक्ष और वाईं ओर एक यक्षिणी चित्रित हो। साथ में अशोक वृक्ष अथवा वह वृक्ष भी प्रदर्शित होना चाहिए, जिसके नीचे तीर्थंकर को ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त तीन छत्र, तोरण युक्त तीन रथिकाएं, देवदुन्दुभि, सुर, गज, सिंह आदि से विभूषित सिंहासन अष्ट परिकर, गो, सिंह आदि से अलंकृत वाहिका या यक्ष तथा तोरण और रथिकाओं पर ब्रह्मा, विष्णु, चण्डिका, जिन, गौरी, गणेश आदि की प्रतिमाएँ भी अंकित करने का विधान है।[१७५] शास्त्रों में चौबीसों तीर्थंकरों के लिए ध्वज (लांछन), वर्ण, शासनदेवता

---

१७२. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पृ० १२६-१३२

१७३. अपराजित०, २२१, १-४, रूपमण्डन, ६ १-३

१७४. बृहत्संहिता, ५८, ४५

१७५. रूपमण्डन, ६, ३३-३६

और देवी (यक्ष और यक्षिणी), केवल वृक्ष, चामरधारी और चामरधारिणी आदि पृथक्-पृथक् निश्चित कर दिये गये हैं जिससे उनकी प्रतिमाओं में साम्य होने पर भी, उन्हें पहचाना जा सकता है।[१७६] अपराजितपृच्छा और रूपमण्डन में चौबीसों तीर्थंकरों के ध्वजचिह्न (लांछन) बतलाये हैं।[१७७] इसी प्रकार जिनोपासक यक्ष-यक्षिणियों? के नाम तथा प्रतिहारों का विस्तृत विवरण भी मिलता है।[१७८]

भारतीय कला में जैन तीर्थंकरों का मूर्तन कब प्रारमभ हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त कुछ मुद्राओं तथा मुद्राछापों पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी आकृतियों को कुछ विद्वान जैन तीर्थंकरों का अंकन मानते हैं।[१७९] साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर महावीर की प्रतिमा का निर्माण महावीर के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो चुका था और यह प्रतिमा 'जीवन्त स्वामी' नाम से जानी जाती थीं।[१८०] जैन तीर्थंकर की सम्भवतः सर्वाधिक प्राचीन प्रतिमा बिहार के लोहानीपुर (पटना) नामक स्थान से प्राप्त हुई है। इसे विद्वान मौर्यकालीन मानते हैं।[१८१] प्रारम्भिक कुषाणकाल में मथुरा से कुछ आयागपट्ट तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। मध्य कुषाणकाल तक इनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। कुषाणकाल की मथुरा कला में जैन तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी तथा ध्यानमुद्रा में बैठी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।[१८२] इस काल में तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर लांछनों का अंकन नहीं मिलता है। अतः सभी मूर्तियाँ एक जैसी होने के कारण उनकी पहचान कर सकना कठिन है। उन्हें केवल मूर्ति पर अंकित लेखों के आधार पर ही पहचाना जा सकता है, किन्तु आदिनाथ के कन्धों पर लटकते-बिखरे हुए केश, पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर सर्पफणों का घटाटोप तथा नेमिनाथ के दोनों ओर स्थित वासुदेव-बलभद्र से उन्हें पहचाना जा सकता है। इन मूर्तियों के आसन के नीचे दो सिंहों के बीच चक्र का अंकन भी पाया जाता है। इनके अतिरिक्त कुषाणकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं का सर्वतोभद्र रूप (चौमुखी) भी मिलता है, जिसमें चारों दिशाओं में आदिनाथ, पार्श्वनाथ के अतिरिक्त सम्भवतः नेमिनाथ और महावीर को खड़े या बैठे हुए प्रदर्शित किया गया है।[१८३]

गुप्तकाल में तीर्थंकर प्रतिमाओं में लांछनों का अंकन प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु उनका सार्वजनिक प्रयोग नहीं होता था। इस काल में अलंकृत प्रभामण्डल के साथ-साथ मालाधारी गंधर्व, चौरी धारण किए हुए सेवक, पूजा सामग्री लिए हुए उड़ते देवगणों का अंकन भी होने लगा था।[१८४]

---

१७६. भट्टाचार्य, बी० सी०, जैन आइकनोग्राफी, पृ० १८-२०

१७७. अपराजित०, २२१, ८-५५; रूपमण्डन, ६, ५-१६

१७८. अपराजित०, अ० २२१; रूपमण्डन, ६, १७-३२; भट्टाचार्य, बी० सी०, जैन आइकनोग्राफी, पृ० २६-१०७

१७९. देशपाण्डे, एम० एन०, द बैकग्राउण्ड एण्ड ट्रेडीसन, जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर, खण्ड १, नई दिल्ली, १९७४, पृ० २१

१८०. शाह, यू० पी०, स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस, १९५५, पृ० ४-५

१८१. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना, १९७७, पृ० २१०

१८२. वही, पृ० २१२

१८३. मिश्रा, देवबाला मानूमेण्ट्स एण्ड स्कल्पचर्स, जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर, खण्ड १, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ६६

१८४. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना, १९७७, पृ० २१२

विदिशा, मथुरा, उदयगिरि, देवगढ़ आदि स्थलों से अनेक गुप्तकालीन जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है।[१८५] स्पष्टतः इस समय तक मध्य प्रदेश (ग्वालियर) के चतुर्दिक जैन धर्म और कला का पर्याप्त विकास हो चुका था।

ग्वालियर दुर्ग में जैन प्रतिमाओं का निर्माण गुप्तकाल के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। जैन ग्रन्थों में आम नामक एक राजा का उल्लेख हुआ है, जिसने कन्नौज और ग्वालियर में सम्मिलित रूप से शासन किया था। अपने दरबार के प्रमुख जैन आचार्य बप्पभट्टिसूरि के प्रभाव में आकर उसने ग्वालियर में एक २७ हाथ ऊंची महावीर की प्रतिमा का निर्माण करवाया था।[१८६] अनेक विद्वान आम को यंशोवर्मन (७२५-७५२ ई०) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी मानते हैं।[१८७] इस प्रकार जैन साहित्य से स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी ई० में आम राजा के संरक्षण में ग्वालियर दुर्ग पर जैन धर्म एवं कला की उन्नति के लिए कुछ निर्माण कार्य हुआ था।

साहित्यिक साक्ष्यों की पुष्टि पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाणों से भी होती है। ग्वालियर दुर्ग के दक्षिणी पश्चिमी भाग में उरवाही द्वार से दुर्ग की ओर अग्रसर होने पर दाहिनी दिशा में जैन मूर्तियों का समूह दृष्टिगत होता है। इनमें एक यक्ष और यक्षी अम्बिका तथा दो तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले बायीं ओर की दो रथिकाओं में तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमा उत्कीर्ण की गयी है। इनमें से एक प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी प्रदर्शित है। उसके बायीं ओर पैरों के निकट एक अनुचर तथा ऊपर उड़ते हुए मालाधर विद्याधर निर्मित हैं। दाहिनी ओर का भाग खण्डित है। दूसरी तीर्थंकर प्रतिमा बैठी प्रदर्शित है। उसके दोनों ओर दो अनुचर विकसित पद्म पर खड़े हैं। आसन के नीचे दो सिंहों के मध्य चक्र का अंकन है। तीर्थंकर के कान अपेक्षाकृत अधिक लम्बे स्कन्धों को छूते हुए तथा भुजाएँ बाहर की ओर अधिक फैली हैं। सिर पर कुंचित केशों के साथ उष्णीष तथा पद्म से अलंकृत प्रभामण्डल दर्शनीय है। प्रतिमा के ऊपर छत्र तथा उसके दोनों ओर मालाधर विद्याधर अंकित हैं (चित्र सं० ४७)। ये दोनों जैन प्रतिमाएँ गुप्तकालीन परम्पराओं पर निर्मित की गयी हैं। इनके अनुचर कण्ठ में एकावली धारण किए हैं। उनके वस्त्र-परिधान, खड़े होने का ढंग, शिरोभूषा आदि गुप्तकालीन प्रतिमाओं के सदृश हैं। इनमें आसन के नीचे दो सिंहों के बीच अंकित चक्र, कम अलंकृत परिकर, ध्यान मुद्रा में बैठी हुई प्रतिमा में बाहर की ओर फैली हुई भुजाएँ, लम्बे कान आदि गुप्तकालीन विशेषताएँ विद्यमान हैं। इस आधार पर इन प्रतिमाओं को छठीं-सातवीं शताब्दी ई० के आस-पास रखा जा सकता है।

उक्त दोनों प्रतिमाओं के दाहिनी ओर एक विशाल रथिका में यक्षी अम्बिका अपने संगी सर्वानुभूति यक्ष के साथ ललितासन मुद्रा में बैठी है। दोनों के मुखमण्डल गोल तथा आँखें अर्धोन्मीलित हैं। अम्बिका के नीचे सिंह शान्तमुद्रा में बैठा है। देवी के सिर पर आम्रवल्लरी लटक रही है। उसके दोनों पैर पूर्ण विकसित पद्म पर रखे हैं। एक पुत्र प्रियंकर गोद में बैठा है तथा अभयंकर देवी के दाहिनी ओर खड़ा है। क्षीण कटि तथा उन्नत यौवन वाली अम्बिका की उदर रेखाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। साथ में बैठा यक्ष उन्नतोदर है। इसके अतिरिक्त अनुचरों, अनुचरियों, मालाधर विद्याधर आदि

---

१८५. बाजपेयी, के० डी०, मध्य प्रदेश की जैन कला, अनेकान्त, खण्ड २८, १९७५, पृ० ११५-११६

१८६. मजूमदार, आर० सी० तथा पुसालकर, ए० डी०, द एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८९-२९०

१८७. त्रिपाठी, आर० एस०, हिस्ट्री आफ कन्नौज, वाराणसी, १९६४, पृ० २११; मिश्र, एस० एम०, यशोवर्मन कन्नौज, पृ० १२०

का अंकन भी दर्शनीय है (चित्र सं० ४७)। शैली के आधार पर इन प्रतिमाओं को आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में रखा गया है।[१८८] अम्बिका यक्षी की क्षीण कटि, उदर में अंकित रेखाएं तथा वक्षस्थल का अलंकरण (नाभिछन्दक आदि) तेली के मन्दिर में प्रवेशद्वार पर अंकित गंगा-यमुना के सदृश हैं। तेली के मन्दिर की तिथि विद्वानों ने आठवीं शताब्दी ई० का मध्य काल माना है।[१८९] अतः शैली के आधार पर अम्बिका यक्षी को भी आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में निर्मित माना जा सकता है।

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त आठवीं शताब्दी की जैन प्रतिमाओं के कुछ अन्य उदाहरण भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा सिन्धिया स्कूल के परिसर में रखी है। इसके सिर पर सात सर्प फणों का घटाटोप है। फणों के ऊपर मालाधर विद्याधर, यक्ष-गन्धर्व आदि की आकृतियाँ चित्रित हैं। अर्धोन्मीलित नेत्रों वाले तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में प्रतीत होते हैं। उनके कान कन्धों तक लटक रहे हैं। सिर पर कुंचित केश तथा उष्णीष सुशोभित है। प्रतिमा में सिर के नीचे का भाग खण्डित है (चित्र सं० ४८)। शैली के आधार पर इसे भी आठवीं शताब्दी में निर्मित माना गया है।[१९०] दूसरी प्रतिमा आदिनाथ की तेली के मन्दिर के सामने स्थापित है। इसमें तीर्थंकर कायोत्सर्गमुद्रा में खड़े प्रदर्शित हैं। उनकी भुजाएँ घुटनों तक लटक रही हैं। परिकर में चौबीस तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में बैठे हुए चित्रित हैं। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल हैं। उसके ऊपर छत्र सुशोभित है। सिर के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधर विद्याधर आदि की आकृतियाँ चित्रित है। इसी शैली की एक अन्य प्रतिमा सिन्धिया स्कूल की रंगशाला में जैन मूर्तियों से युक्त एक ढोलाकार पत्थर के ऊपर भी दर्शनीय है। ये दोनों प्रतिमाएं भी आठवीं शताब्दी ई० की प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा तेली मन्दिर के दक्षिणी दीवार में जंघा भाग के पूर्वी कर्ण पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी प्रदर्शित है। मन्दिर के समकालीन मानकर यह प्रतिमा भी आठवीं शताब्दी ई० में रखी जा सकती है।

जैन प्रतिमाओं से अंकित एक ढोलाकार पाषाण-खण्ड सिन्धिया स्कूल की रंगशाला में स्थापित है। उसके चारों ओर ४८ जैन तीर्थंकर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए अंकित हैं। इसके ऊपर चौमुखी जैन प्रतिमा रखे होने का अनुमान कर माइकल ने माना है कि इसमें कुल ५२ तीर्थंकर अंकित रहे होंगे। इस आधार पर वे इसे नन्दीश्वर द्वीप मानते हैं और इसकी तिथि आठवीं शताब्दी ई० निर्धारित करते हैं।[१९१] किन्तु ज्योति प्रसाद जैन का मत है कि इसके ऊपर २४ अन्य जैन प्रतिमाएं उत्कीर्ण रही होंगी। इस प्रकार वे इसमें तीन चौबीसी अंकित होने का अनुमान करते हैं।[१९२]

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त जैन तीर्थंकरों की कुछ प्रतिमाएँ गुजरी महल, राजकीय संग्रहालय, ग्वालियर में भी सुरक्षित हैं। इनमें से एक जैन तीर्थंकर आदिनाथ की प्रतिमा (नं० ११८) ध्यानमुद्रा में बैठी प्रदर्शित है। स्मितहास से युक्त उनका मनोहर मुखमण्डल, अर्धोन्मीलित नेत्र, कंघी किये हुए केश

---

१८८. माइकल, डब्लू एम०, आम, अमरोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, ज० ओ० इ०, बडौदा, खण्ड २२, सं० ३, मार्च १९७३, पृ० ३५४-५८

१८९. वही

१९०. वही

१९१. माइकल, डब्लू० एम०, आम, अमरोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, ज० ओ० इ०, बड़ोदा, खण्ड २२, सं० ३, मार्च १९७३, पृ० ३५४-५८, चि० ३-४

१९२. डा० ज्योतिप्रसाद जैन से व्यक्तिगत विचार-विमर्श।

तथा लम्बे कान आदि दर्शनीय हैं। तीर्थंकर के मस्तक पर ऊर्णा और सिर पर उष्णीष सुशोभित है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल है। उनके आसन के नीचे दो सिंहों के मध्य चक्र की पूजा करते हुए दो उपासक अंकित किए गये हैं। प्रतिमा के बायीं और घटपल्लव, किंकिणिका, अर्धपद्म तथा ताड़-पत्र आदि से अलंकृत एक अर्द्धस्तम्भ है (चित्र सं० ४९)। ऐसा ही एक अन्य अर्धस्तम्भ प्रतिमा के दायीं ओर भी रहा होगा। इससे प्रतीत होता है कि यह तीर्थंकर प्रतिमा दो अर्धस्तम्भों से युक्त किसी रथिका में थी। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर इस प्रतिमा को भी आठवीं शताब्दी ई० के मध्य निर्मित माना जा सकता है। लगभग ऐसी ही एक अन्य प्रतिमा (नं १२६) में भी जैन तीर्थंकर पद्मासन मुद्रा में बैठे हुए प्रदर्शित है। सिर के चतुर्दिक पद्म पंखुड़ियों से अलंकृत प्रभामण्डल, घुँघराले केश, अर्धोन्मीलित नेत्र तथा स्मितहास से प्रतिमा के मुखमण्डल पर अपूर्व आध्यात्मिक शान्ति एवं आभा प्रकट होती है। यह प्रतिमा भी रथिका में स्थापित है। रथिका के पार्श्व स्तम्भ में घटपल्लव तथा पीठ के नीचे दो सिंहों के मध्य चंद्र का अलंकरण दर्शनीय है। शैलीगत विशेषताओं के आधार पर यह प्रतिमा भी आठवीं शताब्दी ई० में निर्मित प्रतीत होती है। प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ उक्त दोनों प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।

संग्रहालय में एक अन्य प्रतिमा (नं० ३०६) पार्श्वनाथ की है। इसमें तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में बैठे हैं। उनके मस्तक पर बिन्दी रूप में ऊर्णा सुशोभित है। इनके सवारे हुए केश और सुवर्तुल मुखमण्डल, प्रभामण्डल तथा मनोहर कान्ति से युक्त देदीप्यमान चेहरा दर्शनीय है। नौटियाल ने इस प्रतिमा को लगभग दसवीं शताब्दी ई० में रखा है।[१९३] एक प्रतिमा (नं० ११७) में जैन तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। उनके शीर्ष के ऊपर छत्र के दोनों ओर उड़ते हुए मालाधर विद्याधर उच्चित्रित हैं तथा पैरों के समीप दो चौरीधारी खड़े प्रदर्शित हैं। पादपीठ के नीचे चक्र और शंख दिखलाया गया है। शंख के आधार पर इसकी पहचान नेमिनाथ से की जा सकती है। यह प्रतिमा लगभग १०वीं शताब्दी ई० की प्रतीत होती है। १२वीं शताब्दी ई० में निर्मित एक अन्य तीर्थंकर प्रमिमा (नं० ११४) यद्यपि कला की दृष्टि से इतनी अधिक सराहनीय नहीं है किन्तु प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें ध्यानमुद्रा में पद्मासन पर बैठे तीर्थंकर के दोनों ओर चौरीधारी अनुचर, मालाधर विद्याधर तथा शीर्ष पर छत्र के दोनों ओर गज प्रदर्शित किये गये हैं। ऐसी ही एक अन्य खण्डित प्रतिमा सिन्धिया स्कूल के प्रांगण में भी दर्शनीय है।

सर्वतोभद्रिका प्रकार की एक प्रतिमा श्री हरिहर निवास द्विवेदी के व्यक्तिगत संग्रहालय में भी है। इस प्रकार की बैठी अथवा खड़ी प्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा का प्रादुर्भाव कुषाणकाल में ही हो चुका था, जिनमें चारों दिशाओं में प्रायः आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर को प्रदर्शित किया गया है। गुप्तकाल और उसके बाद भी यह प्रतिमाएँ बराबर बनती रहीं। द्विवेदी जी के संग्रहालय की यह प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त हुई है। इसमें जैन तीर्थंकर आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर को कायोत्सर्गमुद्रा में पद्मपीठ पर खड़े हुए दिखलाया गया है। प्रतिमा कला की दृष्टि से उत्कृष्टकोटि की है और लगभग १०वीं शताब्दी ई० में निर्मित की गयी प्रतीत होती है।

दुर्ग की पूर्वी प्राचीर के निकट हथियापौर और सास-बहू मन्दिर के मध्य किसी स्थान पर कनिंघम को सन् १९४४ ई० में एक जैन मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए थे। इनमें विक्रम संवत् ११६५

---

१९३. नौटियाल, के० पी०, ए फ्यू नोटेबुल जैन आइकन्स इन ग्वालियर म्यूजियम, प्राच्य प्रतिभा, खण्ड ४, नं० १, जनवरी १९६०, पृ० ४७-५३, चि० ४

(११०८ ई०) का एक अभिलेख तथा कुछ जैन प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई थीं।[१९४] वर्तमान समय में यह मन्दिर स्थल पूरी तरह से नष्ट हो चुका है, किन्तु कनिंघम का यह साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में भी ग्वालियर दुर्ग पर जैन मन्दिर तथा मूर्तियों का निर्माण हो रहा था।

इसके अतिरिक्त तोमरों के शासनकाल में ग्वालियर दुर्ग की पहाड़ी के नीचे बहुत सी छोटी-बड़ी रथिकाएँ काटकर उनमें जैन गुहा मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण किया गया है। कुछ प्रतिमाओं की चरण चौकी पर लेख उत्कीर्ण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश प्रतिमाएं १४९७ वि० सं० (१४४० ई०) और १५३० वि० सं० (१४८७ ई०) के मध्य राजा डँगरेन्द्र सिंह तथा उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी कीर्तिसिंह के शासनकाल में निर्मित की गयी थीं।[१९५] लेखों से यह भी पता चलता है कि उनको उत्कीर्ण करवाने वाले तत्कालीन जैन व्यापारी थे।[१९६] अध्ययन की सरलता के लिए इन प्रतिमाओं को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

१. उरवाही समूह,
२. दक्षिण - पश्चिम समूह,
३. उत्तर - पश्चिम समूह
४. उत्तर - पूर्व समूह और
५. दक्षिण - पूर्व समूह।

उरवाही समूह की प्रतिमाएँ पहाड़ी के दक्षिणी भाग में स्थित उरवाघाटी में उत्कीर्ण की गयी हैं। इनमें २२ प्रतिमाएँ प्रमुख हैं। छः प्रतिमाओं में वि० सं० १४९७ (१४४० ई०) और वि० सं० १५१० (१४५३ ई०) का लेख है। इस समूह की सबसे विशाल प्रतिमा आदिनाथ की हैं, जो ५७ फुट ऊँची है। ध्यानमुद्रा में बैठी हुई आदिनाथ की एक अन्य प्रतिमा भी दर्शनीय है। इसकी चरण चौकी पर जैनियों के प्रथम तीर्थकर आदिनाथ का लाँछन 'वृष' तथा वि० सं० १४९७ (१४४० ई०) का एक लेख अंकित है। इस समूह की ध्यानमुद्रा में बैठी हुई बाइसवें तीर्थकर नेमिनाथ की एक प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। इसकी ऊँचाई ३० फुट है। प्रतिमा की चरण चौकी पर अंकित 'शंख' से इसकी पहचान की जा सकती है।

दक्षिण-पश्चिम समूह एक खम्भा ताल के नीचे उरवाही द्वार के बाहर स्थित है। इसमें मुख्यतः पाँच प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं। एक प्रतिमा स्त्री की है जो दक्षिण की ओर सिर किये लेटी है। उसका मुखमण्डल पश्चिमाभिमुख है तथा बायीं भुजा सिर के नीवे रखी है। सिर और पैरों के समीप परिचारिकाएँ बैठी हैं। प्रतिमा के ऊपर ध्यानमुद्रा में बैठे हुए तीर्थकर प्रदर्शित हैं। स्त्री की लम्बाई २.४० मीटर है। इसी प्रकार माँ और शिशु की एक लेटी हुई प्रतिमा लक्ष्मण द्वार और हथियापौर के मध्य में उत्कीर्ण की गयी है। इसमें माता की दाहिनी भुजा उसके सिर के नीचे तथा बायीं पास में लेटे हुए शिशु के ऊपर रखी है। इसका दायां पैर सीधा फैला हुआ तथा बायां पैर घुटने से मुड़ा है। पैर प्रच्छालन करती हुई एक परिचारिका भी चित्रित है। ऊपर अन्य स्त्री-पुरूषों की आकृतियाँ

---

१९४. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३६२-६३

१९५. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, १९७६, पृ० ३४५

१९६. वही

हैं। रथिका के ऊपर तीर्थंकर ध्यानमुद्रा में बैठे प्रदर्शित हैं। दोनों के बीच में एक लेख भी था, जो अब नष्ट हो गया है (चित्र सं० ५०)।

उपर्युक्त दोनों प्रतिमाओं की भाँति माँ और शिशु की कुछ अन्य प्रतिमाएँ ग्वालियर, दुबेला और खजुराहो आदि संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन्हें कुछ विद्वानों ने कृष्ण-जन्म और कुछ ने माँ-शिशु, सद्योजाता, यशोदा-कृष्ण, बुद्ध-जन्म, महावीर-जन्म, महेश्वर-जन्म अथवा अस्तीक-जन्म से समीकृत किया है।[१९७] इस प्रकार इनकी पहचान में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं, ग्वालियर दुर्ग की इन दोनों प्रतिमाओं की पहचान तीर्थंकर-जन्म से की जा सकती है क्योंकि दोनों ही प्रतिमाओं के ठीक ऊपर जैन तीर्थंकर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए चित्रित हैं, जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि नीचे किसी तीर्थंकर को जन्म लेते हुए प्रदर्शित किया गया है।[१९८]

दक्षिण-पश्चिम समूह की अन्य प्रतिमाएँ यक्षी अम्बिका, उसके संगी सर्वानुभूति यक्ष तथा ऋषभनाथ की हैं। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अम्बिका-यक्ष प्रतिमा आठवीं शताब्दी ई० में अनुमानित है।[१९९] शेष दो जैन प्रतिमाएँ छठी-सातवीं शतब्दी की प्रतीत होती है। इस प्रकार इन्हें ग्वालियर दुर्ग पर वर्तमान में स्थित जैन प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता है।

उत्तर-पश्चिम समूह की प्रतिमाएँ पहाड़ी के पश्चिमी भाग में उत्कीर्ण है। इनमें आदिनाथ की एक प्रतिमा उल्लेखनीय है। इस पर वि० सं० १५२७ (१४७० ई०) के लेख अंकित है। अन्य प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

प्रतिमाओं का उत्तरी-पूर्वी समूह गणेश-पौर के ठीक ऊपर पहाड़ी के मध्य भाग में स्थित हैं। ये प्रतिमाएँ भी कला की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

दक्षिण-पूर्व समूह पहाड़ी के दक्षिणी भाग में गंगोला ताल के ठीक नीचे स्थित है। इनमें लगभग १८ प्रतिमाएँ ३ मीटर से ९ मीटर तक तथा लगभग इतनी ही प्रतिमाएँ २.४० मीटर से ४.५० मीटर तक ऊँची हैं।

इस प्रकार विभिन्न समूहों में बैठी अथवा खड़ी तीर्थंकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गयी हैं। इनके साथ चामरधारी अनुचर, यक्ष-यक्षी, देव-दुन्दुभी, छत्र, चैत्यवृक्ष, आसन, मालाधर विद्याधर, धर्मचक्र, लांछन तथा अन्य विविध प्रतीकों का भी अंकन हुआ है। कुछ प्रतिमाओं के चारों ओर मन्दिर का आकार भी उत्कीर्ण किया गया है। कहीं-कहीं पर यह अपूर्ण भी रह गया है। यद्यपि कला की दृष्टि से ये प्रतिमाएँ उत्कृष्ट कोटि की नहीं हैं किन्तु विशाल आकार, संख्या और प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से ये उत्तर भारत की जैन कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। यहाँ इन प्रतिमाओं पर एक विहंगम दृष्टि ही डाली गयी है। १५२७ ई० में जब बाबर ग्वालियर दुर्ग पर आया था, तब

---

१९७. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, आगरा, १९६७, पृ० ११५; कुमारस्वामी, ए० के०, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० ८६, २४२; दीक्षित, एस० के०, ए गाइड टू स्टेट म्यूजियम दुबेला, पृ० २८-२९; अग्रवाल, आर० सी०, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ३० सं० ४, पृ० ३४३-४४

१९८. जैन, ज्योति प्रसाद, शोधांक २७, नवम्बर, १९६८, पृ० १३०

१९९. माइकल, डब्लू० एम०, आम, अमरोल एण्ड जैनिज्म इन ग्वालियर फोर्ट, ज० आ० इ०, बड़ोदा, खण्ड २२, सं० ३, मार्च १९७३, पृ० ३५४-५८

उसने इन प्रतिमाओं की नग्नता (दिगम्बर वेश) से छुब्ध होकर इन्हें तुड़वा दिया था।[२००] कालान्तर में इनके सिरों आदि को जोड़कर पुनः सुरक्षित करने का प्रयास किया गया है।

२००. बाबरनामा में लिखा है (२८ सितम्बर) -दूसरे दिन (१३ मुहर्रम को) हम लोग..... ग्वालियर के...... हातीपुल (हथियापौर) नामक किले के द्वार को पार कर उरवा नामक स्थान पर पहुँचे।....... उरवा के तीन ओर चट्टानें हैं।...... इन दिशाओं में लोगों ने पत्थर की मूर्तियाँ कटवा रखी हैं।...... यह मूर्तियाँ पूर्णतः नग्न है और गुप्त अंश भी ढके नहीं है।..... उरवा बुरा स्थान नहीं है।..... मूर्तियाँ ही इस स्थान का सबसे बड़ा दोष है। मैंने उनके नष्ट करने का आदेश दे दिया। (ए० एस० बेवेरिज द्वारा अँग्रेजी में अनुवादित बाबरनामा, लन्दन, १९२१, पृ० ६११-१२ से उद्धृत)

7

उपसंहार

उत्तर भारत में अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण ग्वालियर दुर्ग का विशेष महत्व था। इस पर हूणों, यशोवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों, गुर्जर-प्रतिहारों, कच्छपघातों, मुसलमानों, तोमरों, मराठों. अँग्रेजों और सिन्धियावंशी शासकों ने अपनी शासन-सत्ता स्थापित की तथा समय-समय पर इसका उपयोग सामरिक उपलब्धियों के लिए किया। दुर्ग की स्थापना कब और किसके द्वारा हुई, निश्चित साक्ष्यों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु लगभग छठीं शताब्दी ई० में हूण शासक मिहिरकुल के शासनकाल से यहाँ पर मानव-क्रियाकलापों के अवशेष स्पष्ट रूप से मिलने लगते हैं। बहुत संभव है इस समय तक इसने अपना दुर्ग रूप भी प्राप्त कर लिया हो।

यशोवर्मन, आम और गुर्जर-प्रतिहारों के समय में हुए क्रिया-कलापों से दुर्ग के महत्व एवं इसकी सामरिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। यशोवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र आम ने ग्वालियर को ही अपनी राजधानी बनाया था।[१] गुर्जर प्रतिहार शासक मिहिर भोज ने भी इसके महत्व को समझते हुए वैल्लभट्ट को यहाँ का 'मर्यादाधुर्य' (अन्तपाल) तथा उसके पुत्र अल्ल को 'कोट्टपाल' नियुक्त किया था।[२] आरम्भिक ११वीं शताब्दी में भारत पर हुए महमूद गजनवी के आक्रमण के समय उसके साथ आये हुए अबूरिहान के अनुसार ग्वालियर और कालिंजर इस देश के सबसे अधिक शक्तिशाली दुर्ग थे।[३] उसकी यह स्वीकारोक्ति ग्वालियर दुर्ग की अजेयता की ओर संकेत करती है। १२३२ ई० में इल्तुतमिश के आक्रमण के समय यह किला लगातार एक वर्ष तक घिरे रहने के बाद ही विजित किया जा सका।[४] तबकाते नासिरी में मौलाना मिनहाज सिराज ने लिखा है - ''जब उस किले के निकट उसके (सुल्तान के) शिविर लगे थे तो दुष्ट वसील (विग्रहराज) के पुत्र दुष्ट मलिकदेव (मलयवर्मन देव) ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। सुल्तान ग्यारह मास तक किले के निकट ठहरा रहा।...... सेना ग्वालियर किले को मंगलवार २६ सफर ६३० हि० (१२ दिसम्बर, १२३२ ई०) तक घेरे रही, तब उस पर विजय प्राप्त हुई।''[५] इसी प्रकार दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन सिकन्दर शाह की आज्ञा से ऐसाह के जमींदार वीरसिंह देव भी इस दुर्ग पर छलपूर्वक ही अधिकार कर सके थे।[६]

तोमरों के शासनकाल में ग्वालियर पर यद्यपि छुटपुट आक्रमण होते रहे, किन्तु कोई भी शत्रु दुर्ग पर अधिकार नहीं कर सका। १५वीं शताब्दी में लगभग एक सौ वर्ष तक दिल्ली के सम्राटों ने इस दुर्ग को हथियाने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इब्राहीम लोदी के शासनकाल (१५१७-१५२६ ई०) में आजम हुमायुं के नेतृत्व में एक बार पुनः ग्वालियर दुर्ग को घेरा

---

१. मिश्र, एस० एम०, यशोवर्मन आफ कनौज, पृ० १२०
२. ए० इ०, जि०-१, पृ० १५६, १५९
३. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४०
४. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४०
५. तबकाते-नासिरी, मेजर एच० जी० रेवर्टी, पृ० ६१९; इलियट एण्ड डाउसन, भाग २, पृ०२२८
६. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० २८-२९

गया। उस समय यहाँ पर विक्रमादित्य शासन कर रहा था। इस बार लगभग दो वर्षों के अखण्ड परिश्रम के पश्चात् सन् १५१८ ई० में इब्राहीम लोदी दुर्ग पर अधिकार स्थापित करने में सफल हो सका।[७] अहमद यादगार ने लिखा है -''ग्वालियर के किले को घेरकर उसने वीरों के मोर्चे बाँट दिये। मजनीक और असदों की व्यवस्था करके हुक्कों को जला-जलाकर किले के भीतर फेंकना आरम्भ किया। हिन्दुओं ने रूई से भरे गिलाफों को तेल में भिगोकर जला-जलाकर नीचे फेंकना शुरू कर दिया। दोनों ओर से आदमी जल रहे थे। आजम हुमायुं ने किले के नीचे साबात लगवाये और वहाँ तोपखाने लगवाकर वह इस प्रकार गोले फेंकता था कि किले वाले प्रांगण के बाहर नहीं निकल सकते थे। किले के लोग व्याकुल हो गये।''[८] अन्त में खाद्य सामग्री की कमी पड़ जाने से निराश होकर विक्रमादित्य ने सन्धि कर ली और किला लोदियों के सुपुर्द कर दिया।[९]

पूर्व की ओर दुर्ग इतना सुदृढ़ है कि यदि उसे सैनिकों द्वारा भली-भाँति सुरक्षा प्रदान की जाय तो उधर से उसका भेदन कर सकना बहुत कठिन है, किन्तु पश्चिमी भाग में कुछ ऐसे स्थान हैं, जहाँ से आक्रमणकारियों को दुर्ग में प्रवेश करने में आसानी हो सकती है। अँग्रेजों की सेना ने १७८० ई० में मेजर पोफम और १८०५ ई० में जनरल ह्वाइट के नेतृत्व में पश्चिम की ओर से ही आक्रमण किया था और दोनों ही बार उन्हें विजयश्री प्राप्त हुई थी।[१०] यही कारण है कि कालान्तर में सुरक्षा की दृष्टि से तोमरों द्वारा निर्मित धोन्धापौर और घर्गजेगेट दोनों ही पश्चिमी द्वार बन्द कर दिये गये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्वालियर का दुर्ग सामरिक दृष्टि से अत्यधिक सुदृढ़ था और कोई भी आक्रमणकारी इस पर सरलता से विजय नहीं प्राप्त कर सका।

वर्गीकरण की दृष्टि से इस दुर्ग को पार्वत्यदुर्ग या गिरिदुर्गों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसे सुदृढ़ एवं सुरक्षित बनाने के लिए इसमें वप्र-प्राकार, अट्टालक, प्रवेश-द्वार कपिशीर्षक आदि अंगों का निर्माण किया गया है। परिखा की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। अतः उसका उत्खनन नहीं किया गया है। अन्य अंगों की रचना करते समय शास्त्रों में वर्णित मापों यथा लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई आदि पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत परम्परा से चली आ रही विधियों द्वारा आवश्यकता एवं उपयोगिता के अनुरूप इनका निर्माण किया गया है।

प्रायः पहाड़ी के ऊपरी समतल भू-भाग को एक ही प्राचीर द्वारा घेरा गया है, जिसकी ऊँचाई एवं चौड़ाई स्थान-स्थान पर आवश्यकतानुसार घट-बढ़ गयी है, किन्तु उरवाही और बादलगढ़ के भवनों की सुरक्षा के लिए उन्हें अन्य प्राचीरों से भी आवेष्टित करने का प्रयास किया गया है।

प्रवेश-द्वार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण दिशा में बनाये गये हैं। इनमें से हथियापौर संभवतः सर्वाधिक प्राचीन रहा होगा, जिसे कालान्तर में परिवर्तित कर नया स्वरूप प्रदान किया गया है। प्रवेश-द्वारों की स्थापत्य एवं शिल्पकला पर तत्कालीन वास्तु शैलियों के साथ-साथ परम्परागत शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इनके अट्टालकों, स्तम्भों, तोरणों और भारपट्टों को यथा-स्थान अलंकृत करने का भी प्रयास किया गया है।

---

७. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४०

८. डा० रिजवी, उ० तै० का० भा०, भाग १, पृ० ३४७

९. द्विवेदी, हरिहर निवास, ग्वालियर के तोमर, पृ० १७४-१७६

१०. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४०-३४१

अट्टालकों का निर्माण मुख्य प्राचीर के साथ केवल हथियापौर और मान-मन्दिर की पूर्वी प्राचीर में ही दृष्टिगत होता है। अन्यत्र छोटी-छोटी गुम्बदाकार बुर्जियाँ ही बनायी गयी हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रवेश-द्वारों के दोनों पार्श्वों में भी अट्टालकों का निर्माण किया गया है। प्राचीर पर चढ़ने-उतरने के लिए स्थान-स्थान पर सोपान तथा दुर्ग-रक्षकों की सुरक्षा एवं सुविधा के लिए रक्षा बुर्ज और कपिशीर्षकों की भी रचना की गयी है। इस प्रकार यह दुर्ग सामान्यतः सभी आवश्यक अंगों एवं उपांगों से सन्निवेष्टित है।

दुर्ग में बहुत से जलाशयों का भी निर्माण किया गया है। इनमें रचना एवं उपयोगिता की दृष्टि से सूर्यकुण्ड, मानसरोवर, रानीताल-चेरीताल, एक खम्भाताल, कटोराताल, जोहरताल तथा अस्सीखम्भा बावरी आदि विशेष महत्वपूर्ण हैं। सामान्य दिनों के अतिरिक्त युद्धकाल और अत्यधिक गर्मी अथवा सूखे समय में भी ये दुर्ग-वासियों के लिए जल-आपूर्ति कर सकने में पूर्णतः सक्षम रहे हैं। ग्वालियर दुर्ग को जल की कमी के कारण कभी भी अधिकृत नहीं किया जा सका।[११] इस प्रकार ये जलाशय दुर्ग के लिए सदैव उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

यहाँ के मन्दिरों को प्रमुखतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे मन्दिर रखे जा सकते हैं, जिनका उल्लेख अभिलेखों और साहित्यिक स्रोतों में तो मिलता है किन्तु मूलतः वे अब नष्ट हो चुके हैं। इनमें मिहिरकुल के अभिलेख में उल्लिखित सूर्य मन्दिर, ग्वालिपा मन्दिर, शिव मन्दिर तथा एक जैन मन्दिर प्रमुख हैं। इनसे ज्ञात होता है कि दुर्ग पर मन्दिरों का निर्माणकार्य कम से कम छठीं शताब्दी ई० से अवश्य प्रारम्भ हो चुका था और ये मन्दिर सामान्यतः पाषाण निर्मित थे। परन्तु अन्य वास्तुकला सम्बन्धी विशेषताओं का ज्ञान हमें नहीं हो पाता क्योंकि अब वे पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं।

दूसरे वर्ग में वे मन्दिर आते हैं जिनका निर्माण गुर्जर-प्रतिहार शैली में किया गया है। इसके अन्तर्गत तेली का मन्दिर, चतुर्भुज मन्दिर, गणेश मन्दिर तथा राजकीय संग्रहालय गुजरी महल में संग्रहीत दो अन्य एक शिला मन्दिर आते हैं। यह सभी पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में हैं तथा आठवीं-नवीं शताब्दी के मन्दिरों की स्थापत्य एवं शिल्पकला के अध्यय के लिए उपयोगी हैं। इनका निर्माण नरेसर, बटेसर, अमरोल और ओसियाँ आदि के गुर्जर-प्रतिहारकालीन मन्दिरों की परम्परा में ही किया गया है। नीची जगती; खुर, कुम्भ, कलश और कपोत से अलंकृत वेदीबन्ध; रथिका-बिम्बों की एक पंक्ति से युक्त जंघा; वर्गाकार अथवा आयताकार गर्भगृह के ऊपर क्रमशः नागर (लतिन) शैली अथवा वलभी (गजपृष्ठाकृति) शैली का त्रिरथ या पंचरथ शिखर, कपिली (अन्तराल) के ऊपर शुकनासिका की रचना आदि इनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। रथिकाबिम्बों के शीर्ष पर उद्‌गम, जंघा के ऊपरी भाग में किंकिणिका, शिखर के भद्र, उपभद्र और कर्ण पर चन्द्रशाला जाल, कर्णो पर भूमि-आमलकों और कपोतपट्टियों का अलंकरण, द्वारशाखाओं में पत्र, स्तम्भ, मिथुन, श्रीवृक्ष और नागशाखा तथा गंगा-यमुना का अंकन प्रतिहार शैली के अन्य मन्दिरों की भाँति इन मन्दिरों में भी हुआ है। परन्तु अपनी कपितय अन्य विशिष्टियों के कारण यह मन्दिर न केवल मध्य भारत, राजस्थान अपितु सम्पूर्ण उत्तर भारत के तत्कालीन मन्दिरों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

---

११. कनिंघम, आ० स० रि०, भाग २, पृ० ३४१

लगभग आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में निर्मित तेली का मन्दिर अपनी विशालता, भव्यता एवं उच्चकोटि की अलंकरण सज्जा के लिए विख्यात है। इसे प्रतिहार शैली का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है। नागर शैली के तत्कालीन अन्य मन्दिरों से इसके तलछन्द तथा ऊर्ध्वछन्द में कुछ विभिन्ताएँ पायी जाती हैं। इसका गर्भगृह आयताकार निर्मित किया गया है। प्रतिहार शैली के दूसरे मन्दिरों में वेदीबन्ध को सामान्यः खुर, कुम्भ, कलश और कपोत से सजाने की परम्परा मिलती है।, किन्तु इस मन्दिर में कलश के स्थान पर चौड़ा अन्तरपत्र अलंकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त जंघा की छोटी-छोटी रथिकाओं के स्थान पर बड़ी-बड़ी रथिकाएँ बनायी गयी हैं। जिनके शीर्ष नागर शैली के शिखर तथा उद्गमों से सुसज्जित हैं।

यह मन्दिर अपने वलभी शैली के गजपृष्ठाकृति शिखर के लिए प्रसिद्ध है। उत्तर भारत में इस शैली के मन्दिर गुजरात, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश उड़ीसा, तथा हिमांचल प्रदेश के कई स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनमें से गुजरात का खिमेश्वर मन्दिर नं० ६; भुवनेश्वर (उड़ीसा) का वैताल देउल, गौरी, गोपालिनी और सावित्री मन्दिर; नरेसर (ग्वालियर, म० प्र०) का देवी मन्दिर; सरहन बुजुर्ग (फतेहपुर, उ० प्र०) का भगवती देवी मन्दिर, जागेश्वर (अल्मोड़ा उ० प्र०) का अम्बिका, पुष्टिदेवी और नवदुर्गा मन्दिर; बमन सुयाल (अल्मोड़ा, उ० प्र०) का त्रिनेत्रेश्वर महादेव मन्दिर, पाताल भुवनेश्वर (पिथौरागढ़, उ० प्र०) का कालिका देवी मन्दिर तथा निर्मन्द (रायपुर, हिमांचल प्रदेश) का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। लगभग आठवीं-नवीं शताब्दी ई० में निर्मित इन सभी मन्दिरों में सामान्यतः आयताकार गर्भगृह के ऊपर गजपृष्ठाकृति शिखर की रचना की गयी है। वेदीबन्ध खुर, कुम्भ, अन्तरपत्र (कलश के स्थान पर) और कपोतालि से; जंघा रथिका-बिम्बों की एक पंक्ति से; शिखर में नीचे का भाग कपोत, चन्द्रशालाओं, भूमि-आमलकों तथा स्कन्धवेदी से तथा शिखर के पार्श्व-शीर्षों और पृष्ठभाग को चन्द्रशालाओं व सूरसेनकों से सजाया गया है। यह सभी विशेषताएँ तेली के मन्दिर में भी पायी जाती हैं; किन्तु विशालता, भव्यता, ऊँचाई और अलंकरण-सजा की दृष्टि से यह मन्दिर वलभी शैली के अन्य मन्दिरों में सर्वोत्कृष्ट है। विभिन्न अंगों में परस्पर अनुपातिक संतुलन तथा अलंकरणों की अभिव्यक्ति जैसी इस मन्दिर में बन पड़ी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार तेली का मन्दिर प्रतिहार शैली के मन्दिरों के साथ-साथ उत्तर भारतीय वलभी शैली के मन्दिरों का भी प्रतिनिधित्व करता है।

चतुर्भुज मन्दिर (८७५ ई०) का एकशिला या एकाश्म मन्दिरों में विशेष महत्व है। इसकी भी निर्माण योजना प्रतिहार शैली के मन्दिरों के समान है, किन्तु तलछन्द में इसमें गर्भगृह और कपिली के साथ मुखमण्डप भी जोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त वेदीबन्ध, जंघा, शिखर और प्रवेश-द्वार आदि के अलंकरणों में भी वृद्धि हो गयी है। इस मन्दिर की मूलभूत विशेषता इसका एक ही शिला में निर्मित होना है। भारतवर्ष में शिलाओं को गहराई में काटकर वास्तु निर्माण की परम्परा का प्रादुर्भाव मौर्यकाल में ही हो चुका था और यह परम्परा शुंग-कुषाण और गुप्तकाल में भी प्रचलित रही। इसके उदाहरण पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण भारत के अनेक स्थलों से प्राप्त होते हैं, किन्तु संरचनात्मक मन्दिरों की परम्परा में किसी एक शिलाखण्ड को ऊपर से नीचे की ओर तरासते हुए एलोरा के कैलास मन्दिर (७५७-७८३ ई०) की भाँति वास्तु निर्माण की परम्परा अपेक्षाकृत बाद में विकसित हुई। इस शैली के प्रारम्भिक स्वरूप का दर्शन दक्षिण भारत में मामल्लपुरम के पल्लव रथों (लगभग

६४०-६९० ई०) में होता है। कालान्तर में इसका अनुकरण कर उत्तर भारत में भी कुछ स्थलों पर एकशिला मन्दिरों के निर्माण का प्रयास किया गया, किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत सीमित ही रही। ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर के अतिरिक्त मन्दसोर जिलान्तर्गत धमनार की पहाड़ी में निर्मित आठ वैष्णव मन्दिर (लगभग ८वी-९वीं शताब्दी ई०), कांगड़ा जिलान्तर्ग मसरूर का शैल मन्दिर (लगभग ९वीं शताब्दी ई०), भागलपुर जिलान्तर्गत कोलगोंग का शैल मन्दिर (लगभग ९वीं-१०वीं शताब्दी ई०) तथा पिथौरागढ़ जिलान्तर्गत थल का एक हथिया देउल (लगभग १२वीं शताब्दी ई०) इस शैली के विशिष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार यह शैली बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी। इसका कारण संभवतः यह था कि संरचनात्मक मन्दिरों की अपेक्षा इस शैली के मन्दिरों का निर्माणकार्य बहुत कठिन होता था। इसमें समय और धन के साथ-साथ श्रम भी अधिक लगता था तथा प्रतिभा सम्पन्न, अनुभवी, कुशल एवं धैर्यवान शिल्पियों की आवश्यकता होती थी।

चतुर्भुज मन्दिर में शिल्पियों ने प्रतिहार शैली की प्रमुख विशेषताओं को बड़ी सफलता के साथ उत्कीर्ण करने का प्रयास किया है। एक ही शिला में पद्मपीठ पर खुर, कुम्भ, कलश और कपोत से अलंकृत वेदीबन्ध; रथिकाबिम्बोंसे युक्त पंचरथ जंघा; तीन पट्टियों से सुसज्जित वरण्डिका के ऊपर नागर (लतिन) शैली का पंचरथ रेखा शिखर, भूमि-आमलकों एवं चन्द्रशालाओं से अलंकृत उसके भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण; शुकनास; प्रवेश-द्वार; मुखमण्डप और उसके स्तम्भों का अलंकरण जिस एकरूपता एवं कुशलता के साथ किया गया है, वह प्रशंसनीय है। इस प्रकार प्रतिहार कालीन संरचनात्मक मन्दिरों की विशेषताओं को एक ही पाषाण-खण्ड के माध्यम से चतुर्भुज मन्दिर में उत्कीर्ण किया जाना विशेष महत्व रखता है। उत्तर भारत में इस शैली के मन्दिरों की न्यूनता को देखते हुए इसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है।

तीसरे वर्ग के मन्दिरों में कच्छपघात शैली के सास और बहू मन्दिर तथा मातादेवी मन्दिर का उल्लेख किया जा सकता है। गुर्जर प्रतिहारों के पतन के पश्चात् उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये और उनके संरक्षण में मन्दिरों के आकार-प्रकार, अंगों-उपांगों, मूर्तियों तथा अलंकरण में भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

चन्देलों की अधीनता में नरवर, दुबकुण्ड और ग्वालियर को केन्द्र में रखकर कच्छपघात शासकों के शासनकाल (लगभग १०वीं शताब्दी ई० -१२वीं शताब्दी ई०) में एक विशिष्ट शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें प्रायः गर्भगृह, अन्तराल, रंगमण्डप, मुखमण्डप तथा अधिक विकसित मन्दिरों में महामण्डप की रचना की गयी है। एक ऊँची अलंकृत जगती पर मूल प्रासाद देवीबन्ध, जंघा और शिखर से आवेष्टित है। पंचरथ जंघा का भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण प्रायः दो या तीन रथिका पंक्तियों से सुसज्जित किया गया है और सलिलान्तरों में व्याल, गन्धर्व, किन्नर, सुर-सुन्दरी, मिथुन तथा अष्टदिक्पाल प्रदर्शित किये गये हैं। पंचरथ अथवा सप्तरथ शिखर उरश्रृंगों से अलंकृत हैं। प्रवेश-द्वार पाँच, सात या नौ द्वार-शाखाओं, नदीदेवियों, द्वारपाल तथा उत्तरंग नवग्रह, सप्तमातृकाओं एवं अलंकृत भारपट्टों से सजाये गये हैं। मण्डप के स्तम्भ, वितान और संवरणा छत भी भली-भाँति अलंकृत किये गये हैं। इस प्रकार के मन्दिर ग्वालियर दुर्ग के अतिरिक्त सुहानिया, पढ़ावली, मितावली, ग्यारसपुर, बदोह, कदवाहा, दुबकुण्ड, सुखाया, महुआ और तिराही आदि स्थलों से प्रकाश में आये हैं, किन्तु ग्वालियर के सास-बहू मन्दिरों में इस शैली का चरमोत्कर्ष रूप प्रस्फुटित हुआ है।

सास-बहू मन्दिरों का गर्भगृह और शिखर यद्यपि नष्ट हो गये हैं, किन्तु प्रवेश-द्वार, महामण्डप और मुखचतुष्की आदि जो भी भाग अवशिष्ट हैं, उन्हें तत्कालीन किसी भी पूर्ण विकसित मन्दिर की तुलना में श्रेष्ठतम कहा जा सकता है। दो भिट्टों, जाड्यकुम्भ, कर्णिका, ग्रासपट्टी, गजथर और नरथर से अलंकृत प्रासादपीठ, राजसेनक, देवी-देवताओं से युक्त रथिकाएँ, स्तम्भ-वेदिका, आसनपट्ट, कक्षासन, भरणी, स्तम्भशीर्ष, अलंकृत भारपट्ट, कर्णदर्दरिका, गजतालु, कोलथरों और ग्रासमुखों से सज्जित वितान, सवंरणा छत तथा मृणाल, खल्व, दण्ड, पत्र आदि नौ द्वारशाखाओं, उदुम्बर, मन्दारक, द्वारपाल, नाग-नागियों, शक्तियों के साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा उत्तरंग पर नवग्रह और सप्तमातृकाओं से अंकित प्रवेश-द्वारों में शिल्पयों के अद्भुत हस्त-कौशल के दर्शन होते हैं। ये मन्दिर आज भी जिस रूप में उपलब्ध हैं, उसे स्थापत्य एवं शिल्पकला का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। किन्तु मातादेवी मन्दिर में कच्छपघात शैली का ह्रास परिलक्षित होता है।

इस प्रकार ग्वालियर दुर्ग पर स्थित प्रतिहार शैली तथा कच्छपघात शैली के मन्दिरों में तेली का मन्दिर,चतुर्भुज मन्दिर, सास-मन्दिर और बहू मन्दिर विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। तेली मन्दिर प्रतिहार शैली का सर्वोत्तम उदाहरण होने के साथ-साथ वलभी शैली के मन्दिरों का भी प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार चतुर्भुज मन्दिर एकशिला (एकाश्म) मन्दिरों में अपना विशेष महत्व रखता है। कच्छपघात शैली के मन्दिर में ग्वालियर के साथ-बहू मन्दिरों का वही स्थान है, जो खजुराहो के चन्देल मन्दिरों में कन्दरिया महादेव मन्दिर का है। इन मन्दिरों में कच्छपघात शैली के विकास की चरमपरिणति दृष्टिगत होती है।

इन मन्दिरों की भित्तियों, स्तम्भों, वितान आदि के अलंकरण के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त कीर्तिमुख, व्याल, सुर-सुन्दरी, अप्सराओं, मिथुन, घट-पल्लव, गंगा-यमुना, द्वारपाल, अष्टदिक्पाल, नवग्रह, सप्तमातृकाओं तथा अन्य नाना प्रकार के वानस्पतिक, ज्यामितीय एवं परम्परागत मांगलिक चिन्हों का चुनाव किया गया है।

प्रतिहार शैली के अन्य मन्दिरों की भाँति यहाँ के तेली-मन्दिर तथा चतुर्भुज मन्दिर में मूर्तियों का अंकन विशेषकर जंघा और प्रवेश-द्वार की चौखट पर किया गया है। जंघा की रथिकाओं में सामान्यतः गणेश, कार्तिकेय, लकुलीश, पार्वती, सूर्य, विष्णु तथा प्रवेश-द्वार पर गंगा-यमुना, द्वारपाल और अनुचरों को प्रदर्शित किया गया है। इनका शिल्पांकन तथा अलंकरण शैली गुप्तकालीन मूर्तियों से बहुत कुछ प्रभावित है। शारीरिक गठन, भाव-सौंदर्य तथा वस्त्राभूषण गुप्तकालीन परम्परा में ही प्रदर्शित किये गये हैं, किन्तु लांछनों में वृद्धि अवश्य हुई है। इनके कलात्मक वैभव को किसी भी प्रकार मध्यम या निम्नकोटि का नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार इन मन्दिरों में कलाकार स्थापत्य एवं मूर्ति सौन्दर्य में परस्पर समन्वय स्थापित करने में सफल रहा है।

कच्छपघात शैली के सास और बहू मन्दिरों में प्रायः प्रत्येक अंग को मूर्तियों तथा अन्य अलंकरणों से सजाया गया है। मूर्तियों के अंकन के लिए विशेषकर मन्दिर का जंघा, मण्डप, स्तम्भ, वितान, प्रवेश-द्वार आदि को चुना गया है तथा इनमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि प्रतिमाओं के विविध रूपों को प्रदर्शित किया गया है। प्रमुख देवी-देवताओं के अतिरिक्त द्वारपालों, मातृकाओं, योगिनियों, अप्सराओं, नाग-नागियों, यक्षिणियों तथा अन्य बहुत से शासन देवताओं का अंकन भी प्रचुरता के साथ किया गया है। इनमें गुप्त एवं प्रतिहारकालीन मूर्तियों की भाँति सहज सौंदर्य का अभाव है। इनके

मुखमण्डल पर वह सलोनापन और आध्यात्मिक भाव नहीं मिलता जो गुप्तकालीन मूर्तियों की एक विशेषता थी। इसके विपरीत इनके शरीर में मांसलता की अपेक्षा कड़ापन अधिक आ गया है। नाक-नक्स नुकीले, भौंहें आवश्यकता से अधिक तनी हुई तथा हाथ, पैर और शरीर सामान्य से अधिक लम्बे प्रदर्शित हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनके अलंकरणों, प्रतीकों, लांछनों, आयुधों एवं भुजाओं में और वृद्धि हो गयी है। यह विशेषताएँ न केवल ग्वालियर के मन्दिरों में अपितु तत्कालीन प्रायः समस्त उत्तर भारतीय मन्दिरों की मूर्तियों में प्रकट हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के कलाकारों का उद्देश्य आंतरकि भाव-सौन्दर्य प्रकट करने की अपेक्षा बाह्य अलंकरणों से मूर्ति को सजाना अधिक हो गया था।

पूर्वमध्यकालीन एवं मध्यकालीन मन्दिरों में कीर्तिमुखों का उच्चित्रण स्तम्भों, भारपट्टों, उदुम्बर, वितान आदि पर मिलता है। ग्वालियर के मन्दिरों में भी इसका अंकन विभिन्न रूपों में हुआ है। व्याल, सुर-सुन्दरी और मिथुन आकृतियों को परम्परा के अनुसार जंघा के रथ, प्रतिरथ, कर्ण और सलिलान्तरों में यथास्थान यहाँ भी प्रदर्शित किया गया है। नरेसर, बटेसर, अमरोल और ओसियाँ के प्रतिहारकालीन मन्दिरों की भाँति गुप्त परम्परा में गंगा-यमुना का अंकन तेली के मन्दिर और चतुर्भुज मन्दिर में भी हुआ है। गंगा-यमुना का बहुत सुन्दर चित्रण तेली मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर अंकित है। इसमें बाईं ओर मकरवाहिनी गंगा और दाहिनी ओर कूर्मवाहिनी यमुना अपने-अपने अनुचरों तथा शैव द्वारपालों के साथ प्रदर्शित हैं। गंगा-यमुना के ऊपर आकाश का दृश्य है। जिसमें उड़ते हुए मांगल्य विहग, मालाधर विद्याधर तथा अन्य आकृतियों को दिखलाया गया है। चतुर्भुज मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर भी वैष्णव द्वारपालों के साथ गंगा-यमुना दर्शनीय हैं। इस प्रकार मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर नदी देवियों के अंकन की गुप्तकालीन परम्परा का निर्वाह यहाँ के प्रतिहार शैली के मन्दिरों में भी होता रहा।

जहाँ तक अष्टदिक्पालों का प्रश्न है यद्यपि तेली के मन्दिर में दक्षिणी जंघा के पूर्वी कर्ण पर अग्नि और उत्तरी जंघा के पश्चिमी कर्ण पर वायु को प्रदर्शित किया गया है, किन्तु वे अपनी अपेक्षित दिशाओं में नहीं हैं। इसी प्रकार चतुर्भुज मन्दिर में उत्तरी जंघा के पश्चिमी कर्ण पर वायु, पश्चिमी जंघा के दक्षिणी कर्ण पर यम तथा दक्षिणी जंघा के पूर्वी कर्ण पर अग्नि अपनी अपेक्षित दिशाओं में ही अंकित हैं, किन्तु शेष दिक्पाल यहाँ भी अनुपस्थित हैं। नवीं शताब्दी ई० के तेरही (जिला शिवपुरी, म० प्र०) के मन्दिर में दिक्पालों का अंकन उनकी स्थिति के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार इन्दौर के शिव मन्दिर तथा कालान्तर में कच्छपघात शैली के मन्दिरों में दिक्पालों का अंकन उनकी अपेक्षित दिशाओं में ही मिलता है।

नवग्रहपट्ट और सप्तमातृकाएँ यहाँ के प्रतिहार शैली के मन्दिरों में नहीं मिलती। सास-बहू मन्दिर में नवग्रहपट्ट और सप्तमातृकापट्टों को प्रवेश-द्वारों के उत्तरंग पर प्रदर्शित किया गया है। यहाँ सप्तमातृकाओं के साथ वीरभद्र के अतिरिक्त गणेश के स्थान पर विघ्नेश्वरी (वैनायकी) का अंकन प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त सास मन्दिर में सप्तमातृकाओं के स्वतन्त्र रूप भी देखने को मिलते हैं।

ग्वालियर दुर्ग तथा उसके मन्दिरों में ब्राह्मण और जैन धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं की मूर्तियों को भी उत्कीर्ण किया गया है। जो कला के साथ-साथ प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी

महत्वपूर्ण हैं। यहाँ वैष्णव मूर्तियों का निर्माण विशेषकर गुर्जर-प्रतिहार और कच्छपघातों के शासनकाल में हुआ। इनमें विष्णु का चतुर्भुजी रूप, लक्ष्मी-नारायण तथा दशावतारों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। दशावतारों में वराह, त्रिविक्रम (वामन), नृसिंह और कृष्ण-लीलाओं का अंकन स्वतन्त्र रूप में मिलता है।

शैव प्रतिमाओं में शिव को लिंग, अजएकपाद, लकुलीश, गजासुरवध, शिव-पार्वती तथा स्थानक चतुर्भुजी और षटभुजी रूपों में प्रदर्शित किया गया है। इनमें तेली मन्दिर की पश्चिमी जंघा में भद्र पर उत्कीर्ण गजासुरसंहार-मूर्ति (लगभग ८वीं शताब्दी ई०) तथा लक्ष्मणपौर के सामने पहाड़ी पर उत्कीर्ण गजासुरसंहार मूर्ति (लगभग १०वीं शताब्दी ई०) प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें शिव के 'शुद्ध गजान्तक' रूप को प्रदर्शित किया गया है, जिसका अंकन उत्तर भारत में बहुत कम पाया जाता है। ये प्रतिमाएँ शिव के अन्धकान्तक-गजान्तक रूप से भिन्न है। इसके अतिरिक्त गणेश, कार्तिकेय, सूर्य, ब्रह्मा, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा और मातृकाओं आदि का अंकन भी यहाँ की कला में हुआ है। ये सभी प्रतिमाएँ सामान्यतः आठवीं शताब्दी ई० से बारहवीं शताब्दी ई० के मध्य निर्मित की गयी हैं।

ग्वालियर दुर्ग में जैन मूर्तियों के निर्माण का शुभारम्भ गुप्तकाल के पश्चात् हुआ है। यशोवर्मन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी (आठवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध) आम के शासनकाल में यहाँ जैन धर्म और कला की उन्नति के लिए कुछ निर्माण कार्य हुए थे। यहाँ की आठवीं शताब्दी ई० की प्रतिमाओं में उरवाही द्वार के निकट यक्षी अम्बिका और यक्ष, सिन्धिया स्कूल के प्रांगण में उपलब्ध पार्श्वनाथ, तेली के मन्दिर में उत्कीर्ण तीर्थंकर तथा गुजरी महल संग्रहालय में सुरक्षित आदिनाथ (नं. ११८) और एक अन्य तीर्थंकर प्रतिमा (नं. १२६) उल्लेखनीय हैं। ये प्रतिमाएँ कला के साथ-साथ प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त १०वीं- ११वीं शताब्दी की अन्य प्रतिमाएँ भी यहाँ उपलब्ध हैं, जिनका कलात्मक स्वरूप यद्यपि उत्तमकोटि का नहीं हैं, किन्तु ये जैन प्रतिमाओं के लांछन तथा उनके विकास को समझने के लिए उपयोगी हैं। तोमरों के शासनकाल (१५वीं शताब्दी ई०) में यहाँ दुर्ग की पहाड़ी के उत्तर-पूर्व, उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिणी-पश्चिमी भागों में बहुत सी छोटी-बड़ी रथिकाएँ काटकर जैन गुहा मन्दिरों में तीर्थंकरों की कायोत्सर्गमुद्रा में खड़ी एवं पद्मासन में बैठी मूर्तियों का निर्माण किया गया है। ये प्रतिमाएँ जैनकला में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

इस प्रकार ग्वालियर दुर्ग, उसके मन्दिर तथा मूर्तियाँ भारतीय कला के प्रमुख उदाहरण हैं। वास्तु एवं शिल्पशास्त्रीय उद्धरणों की पृष्ठभूमि में पुरातात्विक संदर्भों के साथ उनके स्थापत्य एवं मूर्ति-शिल्प का अध्ययन भारतीय वास्तु-कला के विकास को समझने तथा मूल्यांकन कर सकने में सहायक है। इसके साथ ही यहाँ पर उत्कीर्ण देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिमावैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी महत्वपूर्ण हैं।

पारिभाषिक शब्दावली

अंकुश : goad

अञ्जलिमुद्रा : A posture of folded hand showing veneration

अण्डक : turret-design

अट्टालक : tower

अतिभंग : with exaggerated flexion

अधिनायक : tutelary deity

अधिष्ठान : moulded basement of a temple

अन्तरपत्र : recessed moulding coming between two projected mouldings

अन्तराल : vestibule, intermediat compartment between shrine and mandapa

अनुरथ : a secondary offset

अप्सरा : celestial nymph

अभयमुद्रा : hand-gesture of offering protection

अयागपट्ट : slab carved with sacred Jain figures and symbols

अर्धपर्यंकासन : a seated pose, one leg tucked under the other pendent

अर्धमण्डप : frontal porch or entrance-porch

अलंकार : ornamentation

अलस-कन्या : yawning damsel or indolent maiden

अश्वथर : frieze of horses

अक्षमाला : rosary

आमलसारक : 'cogged wheel', crowning member just below the finial of a spire

आयुध : weapon

आसनपट्ट : a flat moulding of the kakshasana or balconied window

इन्द्रकील : the bolt of a door, a pin, an iron bolt

इन्द्रकोश : a projection of the roof of a house forming a kind of balcony, holes or jali work in arches, crenelle, an oppening in a parapet for shooting through.

उत्तरंग : architrave
उद्गम : pediment
ऊर्ध्वछन्द : elevation
उपभद्र : subsidiary offset of bhadra
उरशृंग : a secondary, smaller sikhara shown in relief on a face of the main sikhara
कंकण : bracelet
कर्ण : corner, corner offset
कर्णिका : knife-edge moulding, thin filletlike moulding
कपाल : a skull bowl
कपिली : juncture of mandapa and antarala
कपिशीर्षक : battlement
कपोत : roll cornice
कमण्डलु : an ordinary vessel to hold water
कर्पूरमञ्जरी : a decorative motif consisting of a lady dressing her hairlocks after bath
करि-मकर : floriated crocodile
कल्पलता : vine of wishfulling heavenly tree
कलश : round pinnacle (pitcher shaped)
कक्षासन : slanting seat-back, principal moulding emulating a sloping back-rest of the balconied window.
कायोत्सर्ग : the posture adopted by standing Tirthankaras
किंकिणिका : chain and bell motif
कीचक : atlas, stunted figure supporting a load of superstructure
कीर्तिमुख : face of glory, lion's face, an ornamental relief, a grotesque mask
कुण्डल : ear-ring
कुम्भ : pictcher, pot shaped, a moulding of the basement (vedibandha) coming above the khura.
कुम्भिका : ornamental base of a pillar
केयूर : a bracelet worn on upper arm, an armlet
खड्ग : sword
खट्वाङ्ग : a curious sort of club made of bone with human skull on the top.

खाखरा	:	shrine with oblong wagon-vault super structure
खुर	:	half torus moulding, lowest moulding of the basement (vedibandha)
खेटक	:	shield
गजतालु	:	a component of ceiling resembling a coffered cusp
गजथर	:	frieze of elephants
गजपृष्ठाकृति	:	shrine shaped like elephant-back, apsidal
गण	:	goblin
गदा	:	mace, club
गन्धर्व	:	celestial musician
गर्भगृह	:	sanctum, cella
ग्रासपट्टी	:	a frieze of kirtimukhas
ग्रासमुख	:	decorative face of lion similar to kirtimukha
ग्रीवा	:	neck
गूढ़मण्डप	:	closed hall in front of cella
गोपुर	:	main gateway, structure over the entrance
घट	:	pot-shaped
घटपल्लव	:	vase-and-foliage
घण्टा	:	bell
चक्र	:	wheel
चतुर्मुख	:	chaumukha or sarvatobhadra, a type of shrines or shrine or shrine model with openings on all the four sides
चतुर्भूम	:	a temp le with four storeys
चतुर्विंशतिपट्ट	:	a stela, a frieze or image with the twenty-four tirthankara figures
चतुर्शाखा	:	doorframe with four vertical bands
चतुष्की	:	bay, space between four pillars, same as chauki
चन्द्रशाला	:	false dormer window
चन्द्रशिला	:	lowest step shaped like half-moon
चैत्यखिड़की	:	chaitya-window
छाद्य	:	cave projection, awning like hood member
जगती	:	platform, usually moulded
जगमोहन	:	hall attached to sanctum

जंघा : middle portion of a temple above the basement and below the sikhara generally ornamented with sculptural bands

जाड्यकुम्भ : an inverted syma recta moulding

द्विशाखा : doorframe with two vertical bands.

जाल : lattice

जालक : grille, trellis work, usually on the window or the sikhara

जाल-वातायन : lattice window

जीवन्त-स्वामी : standing image of Mahavira wearing crown and ornaments

डमरु : a small drum

तल : storey of a shrine, vimana or gopura, same as bhumi

तलच्छन्द : ground plan

तरंग : wave-design

त्रिकमण्डप : mandapa with three chatuskis

त्रिभूम : prasada with three storeys

त्रिरथ : temple with three projections

त्रिशाखा : door-frame with three ornate ambs

त्रिशूल : trident

तिलक : a variety of turret-design

तोरण : gateway, ornamental entrance of numerous varieties and designs.

दण्ड : a staff

दम्पति : husband and wife

दपर्णा : a damsel holding mirror

दिक्पाल : guardians of the eight quarters

देउल : sanctuary, temple (orissan).

देवकुलिका : small shrine

देवी : a goddess

दोहद : the longing of a pregnant woman

ध्वजधर : flag staff-holder

धनुष : bow

नदीदेवता	:	river goddess
नर्तकी	:	female dancer
नृत्य-मण्डप	:	same as ranga-mandapa, dancing hall
नरथर	:	frieze of human figures
नरपीठ	:	same as narathara
नवभूम	:	a temle with nine storeys
नागर	:	denoting to the north Indian temple style
नागशाखा	:	door-jamb decorated with serpent design
नाभिच्छन्द	:	an elaborate ceiling carved with the design of coffered cups.
नाभिच्छन्दक	:	a long necklace coming from the shoulder upto navel passing through the breasts
नायिका	:	a mistress, heroin of a literary composition
निरन्धार प्रासाद	:	shrine without an interior ambulatory
प्रतिकर्ण	:	secondary offset next to corner
प्रतिरथ	:	secondary offset, anuratha
प्रतिहार	:	attendant figure
प्रतोली	:	gate-way
प्रदक्षिणापथ	:	circumambulatory
प्रभामण्डल	:	halo
प्रभावली	:	nimbus round an image
प्रसाधना	:	a damsel at toilet
प्राकार	:	enclosure-wall of a temple, palace or fort, rampart
प्राग्रीव	:	porch projection, same as agramandapa
प्रासाद	:	a temple
पञ्चभूम	:	a temple with five storeys
पञ्चरथ	:	a temple with five projections
पञ्चशाखा	:	door-frame with five ornate jambs
पञ्चाण्डक	:	crowned by five amalakas
पञ्चायतन	:	temple with four subsidiary shrines
पट्ट	:	plain or ornamental band
पट्टिका	:	plain band in a moulding series
पद्म	:	lotus
पद्मक	:	ceiling carved with lotus
पद्मासन	:	lotus-pedestal

पद्म-शिला	:	elaborately-carved lotus-shaped pendant of a ceiling
परशु	:	battle-axe
परिकर	:	subsidiary figures of an image
परिखा	:	moat
पत्रलता	:	a frieze depicting creeper with foliage
पत्रशाखा	:	jamb of a doorway carved with foliage
पाभाग	:	the lower most moulded portion of a temple
पाश	:	noose
पीठ	:	socle or pedestal base
पीठिका	:	pedestal
पुस्तक	:	book
फलक	:	abacus
बाँधना	:	a projected moulding deviding the jangha into the upper and lower sections
बाण	:	arrow
बीजपूरक	:	one of the crowning member of spire
भद्र	:	central projection of a shrine
भद्रक	:	square pillar with recesses
भद्रपीठ	:	moulded pedestal
भरणी	:	base of a pillar capital
भिट्ट	:	plinth
भित्तिस्तम्भ	:	wall pillar, pilaster
भूमि	:	storey
भूमि-आमलक	:	miniature 'cogged wheel' set of regular intervals on the corners of the spire
भोगमण्डप	:	hall for offering (orissan)
मकर	:	crocodile
मकर-तोरण	:	entrance decoration or festoon issuing from the mouths of makaras (crocodiles)
मञ्चिका	:	pattika-like top moulding
मण्डप	:	hall which may be open or closed
मण्डोवर	:	architectural term of western India comprising the pitha vedidandha and jangha.
मध्य-बन्ध	:	band with a relief or frieze at the middle of a member such as jangha or pillar

मध्यलता	:	central spine
मन्दारक	:	projectional centre of doorsill
महामण्डप	:	central pillared hall of a medieval temple with openings on the lateral sides
माङ्गल्यविहग	:	auspicious birds
मान-स्तम्भ	:	free standing pillar standard crowned by Jina images
मालाधारी	:	garland-carrying figure
मिथुन	:	couple
मुखचतुष्की	:	entrance-porch or frontal bay at the entrance
मुख-मण्डप	:	frontal porch
मुखशाला	:	same as mukhamandapa
मुद्रा	:	symbolic hand gestures
मूलनायक	:	principal enshrined divinity
मूलप्रासाद	:	sanctum proper
मूलशृंग	:	the main sikhara
मेखला	:	girdle
मैथुन	:	coupulation
मोदक	:	a kind of sweetmeat
मोदक-पात्र	:	sweet-pot
यक्ष	:	a demi-god
यज्ञ	:	sacrificial rite
यज्ञोपवीत	:	sacred thread
योगपट्ट	:	a cloth tied around the legs to enable one to sit with knees raised up in a meditation posture.
रंगमण्डप	:	a pillared hall open on all sides and used for theatrical performances
रत्न	:	jewelled lozenge motif
रत्नपट्टी	:	band with lozenges
रत्नशाखा	:	jamb of a doorway carved with diamond-pattern
रति-क्रीड़ा	:	love-play
रथ	:	projection of a shrine
रथिका	:	framed panel
रथिकाबिम्ब	:	image within rathika
राजसेनक	:	lowest moulding of a kakshasana or balconied window

रुचक	:	the square, plain order
रूपकण्ठ	:	a recessed course carved with figures or a frieze
रूपशाखा	:	jamb of a doorway carved with figures
रूप-स्तम्भ	:	central pilaster-like jamb bearing figures
रेखा	:	curvature
लता	:	creeper
ललाटबिम्ब	:	figure carved on the middle of the lintel or architrave
ललितासन	:	easy posture with one leg flexed and placed on the seat and the other gracefully suspended from the seat
लिङ्ग	:	the phallic emblem of Shiva
व्याल	:	leogryph
वज्र	:	thunder-bolt
वनमाला	:	a long floral garland
वप्र	:	parapet
वरण्डिका	:	juncture of jangha and sikhara
वरदमुद्रा	:	gesture of hand for blessings
वलाणक	:	covered stepped entrance
वसन्तपट्टिका	:	band carved with foliate scroll 'plank-edge' moulding
वातायन	:	ventilator
वाहन	:	mount
वितान	:	ceiling
विद्याधर	:	flying angels
वेदी	:	plinth
वेदिका	:	balustrade
वेदीबन्ध	:	lower most moulded portion of temple below jangha and above jagati, same as adhisthana
शंख	:	conch
शाखा	:	door jamb
शाला	:	oblong shrine with barrel vaulted roof.
शिखर	:	spire, superstructure
शीर्षक	:	pillar capital
शुकनास (शुकनासिका)	:	antifix attached to the front face of sikhara, showing a large chaitya window.

शुकसारिका	:	nayika with parrot
शूरसेनक	:	trefail chaitya darmer
शृंग	:	minaret
स्तम्भ	:	pillar
स्तम्भशाखा	:	doorjamb's vertical band resembling a pilaster
स्तूपी	:	finial
सप्तभूम	:	temple with seven storeys
सप्तशाखा	:	doorframe with seven vertical bands
सभामण्डप	:	hall for meeting, same as rangamandapa
संवरणा	:	roof comprising diagonally arranged members crowned by bell-finials
समतल-वितान	:	ceiling of flat unlform level
समक्षिप्त-वितान	:	a variety of convace ceiling
सर्वतोभद्र	:	same as chaturmukha, a shrine with four faces, a shrine model with images on the four faces
सलिलान्तर	:	a vertical recess
सान्धार प्रासाद	:	temple with an interior ambulatory
सालभञ्जिका	:	lady and tree motif
सिंहथर	:	frieze of lions
सुर-सुन्दरी	:	celestial damsel
क्षिप्त-वितान	:	a concave ceiling

सन्दर्भ

मौलिक ग्रंथ

(१) वैदिक साहित्य

ऋग्वेद संहिता : एफ० मैक्सम्यूलर (स०), लन्दन वैदिक-संशोधन-मण्डल, पूना, अँग्रेजी अनु०, एच० एच० विल्सन, पूना

अथर्ववेद : विश्वबन्धु (स०), होशियारपुर

ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम ग्रन्थांक--३२, १६ ३० मार्टिन हाग (स०), बम्बई, १८६३ अँग्रेजी अनु०, मार्टिन हाग, बम्बई, १८६३

तैत्तिरीय ब्राह्मण : आर० शामशास्त्री (स०), मैसूर, १६२१

शतपथ ब्राह्मण : अलवर्ट वेबर (स०), लिपजिग, १६२४

(२) महाकाव्य :

महाभारत : क्रिटिकल एडिशन, पूना, प्रतापचन्द्र राय (स०), कलकत्ता, अँग्रेजी अनुवाद, प्रतापचन्द्र राय, कलकत्ता

रामायण (वाल्मीकि) : नारायण स्वामी (स०) मद्रास, १६३३ एच०पी० शास्त्री (स०), लन्दन १६५२-५६ वासुदेवाचार्य (स०), बम्बई, १६०२ गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २०३३

(३) पुराण :

अग्निपुराण : सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८२ आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १६००

गरुड़पुराण : कलकत्ता, १८६० चौखम्वा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १६६४

देवीपुराण : डॉ० मण्डनमिश्र (स०) श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ १/६-शान्तिनिकेतन, नई दिल्ली, १६७६

पद्मपुराण : गुरूमण्डल ग्रन्थमाला सं० १८, कलकत्ता, १६५७-५६

ब्रह्माण्डपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक सं० १८५७

ब्राह्मवैर्तपुराण : तारिणीश झा (सं.) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १६८१
: २ भाग, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १६३५

भविष्यपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १६५६

भागवतपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१८

मत्स्यपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १८६५ हिन्दी अनु०, रामप्रताप त्रिपाठी, प्रयाग सं० २००३

वाराहपुराण : श्री हृषीकेश शास्त्री, कलकत्ता, १८६३

वायुपुराण : एच० एन० आप्टे (स०) आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, १६०५

विष्णुपुराण : बम्बई, १८८६

विष्णुधर्मोत्तरपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६१२, प्रियबाला शाह (स०), बड़ोदा, १६५८ अँग्रेजी अनु० प्रियबाला शाह, बड़ोदा, १६६१

स्कन्दपुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६०८ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

(४) शिल्प-शास्त्र :

अपराजितपृच्छा (भुवनदेव) : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा, १६५०

देवतामूर्ति प्रकरण तथा रूपमण्डन (सूत्रधार मण्डन) : कलकत्ता-संस्कृत-ग्रंथमाला-१२ कलकत्ता, १६३६

प्रतिमा-लक्षण (भारतीय वास्तुशास्त्र : द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल (सं.), लखनऊ, ग्रन्थ-४, भाग-२) सं० २०१४

प्रमाणमञ्जरी (सूत्रधार मल्ल) : विश्वविद्यालय ओरियन्टल सिरीज, सं० ३, बड़ोदा, १६६६

प्रासादमण्डन (सूत्रधारमण्डन) : कश्मीर संस्कृत ग्रन्थ -७२ कश्मीर श्रीनगर, १६४७

मयमत : महामहोपाध्याय टी० गणपतिशास्त्री (सं०), त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, सं० ६५ त्रिवेन्द्रम, १६१६

मानसार : प्रसन्न कुमार आचार्य (सं०),इलाहाबाद, १६३३

मानसोल्लास (सोमेश्वर) : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, सं० २८, बड़ोदा, १६६७

रूपमण्डन (सूत्रधार मण्डन) : बलराम श्रीवास्तव (सं०), वाराणसी, सं०२०२१

वास्तुराजवल्लभ (सूत्रधार मण्डन) : हिन्दी अनु० पं० रामयत्न ओझा, गायघाट, बनारस, १६५७

वास्तुशास्त्र (विश्वकर्मा) : तंजोर, १६५८

वास्तुविद्या (विश्वकर्मा) : त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, १६४०

वास्तुसार प्रकरण (चन्द्रङ्गज ठक्कुर 'फेरू') : अनु० पं० भगवानदास जैन, जैन विविध ग्रन्थमाला, जयपुर सिटी, राजस्थान, सं० १६६३

शिल्परत्न (कुमार) : त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम, १६२२

समराङ्गणसूत्रधार (भोज) : गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा, १६६६

विश्वकर्मावस्तुशास्त्र : शास्त्री के० वासुदेव तथा गद्रे, मेजर एन० बी० (स०) तञ्जौर सरस्वती महल सिरीज सं० ८५, १६५८

(५) अन्य ग्रन्थ :

अमरकोश : (रामस्वरूप कृत भाषा टीका सहित) श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६०५; हरदत्त शर्मा (सं०), पूना, १६४१

अर्थशास्त्र (कौटिलीय) : आर० शाम शास्त्री (सं०), मैसूर, १६१६ (हिन्दी अनु०) वाचस्पति गेरोला, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १६६२

कामन्दकीयनीति सार : सोमदेवसूरि, अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, १६७६

कामसूत्र (वात्सायन) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

कुमारसम्भव (कालिदास) : वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पं० सीकर (सं०), बम्बई, १६१६

चतुर्व्वर्गचिन्तामणि (हेमाद्रि) : व्रत ख ण्ड, बि० इ०, कलकत्ता, सं० १६३४

मनुस्मृति : गोपाल शास्त्री नेने (सं०), बनारस, १६३५ जे०जाली, लन्दन, १८८७
महाभाष्य (पतंजलि) : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६३५
मेघदूत (कालिदास) : आर०वी० कृष्णमचारी (सं०), श्री रंगम्, १६०६
याज्ञवल्क्यस्मृति : नारायण स्वामी खिरते (सं०), बनारस, १६२४
रघुवंश (कालिदास) : वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणिकर (सं०), बम्बई, १६१७
वृहत्संहिता (वराह मिहिर) : सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८०
वृहस्पतिस्मृति : आयंगर, के० वी० रंगास्वामी (सं०), गायकवाड़ओरियन्टल सिरीज वड़ौदा, १६४२
शब्दकल्पद्रुम : वाराणसी, १६६१
शुक्रनीति : मिहिरचन्द्र पण्डित (सं०), बम्बई, १६३०

(ब) आधुनिक कृतियाँ

अग्रवाल, वासुदेव शरण : पाणिनि कालीन भारत वर्ष, बनारस, सं०२०१२, भारतीय कला, वाराणसी, १६७७ प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, मथुरा कला, अहमदाबाद, १६६४, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १६६४
अग्रवाल, प्रसन्न कुमार : पूर्ण कलश, वाराणसी, १६६५
अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देवप्रतिमाएँ, प्रथम खण्ड, आगरा, १६६७
अवस्थी, अवध बिहारी लाल : गरुड़ पुराण-एक अध्ययन, लखनऊ, १६६८
उपाध्याय, बलदेव : भागवत सम्प्रदाय, काशी, सं० २०१०
काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास (अनुवाद) हिन्दी समिति, लखनऊ, १६७३
कान्त, सूर्य : वैदिक देवशास्त्र (एम० ए० मैक्डानल रचित वैदिक माइथोलोजी का हिन्दी रूपान्तर) दिल्ली, १६६१
कृष्णन, व० सु० : मध्य प्रदेशीय जिला गजेटियर-ग्वालियर, जिला गजेटियर विभाग, म० प्र०, भूपाल, १६६८
गुप्त, परमेश्वरी लाल : गुप्त साम्राज्य, वाराणसी, १६७०
: भारतीय वास्तुकला, वाराणसी, १६७७
गैरोला, वाचस्पति : कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अनुवाद) चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी, १९७७
चतुर्वेदी, परशुराम : वैष्णव धर्म, इलाहाबाद, १६५३
जैन, बी० : देवगढ़ की जैन कला, वाराणसी, १६७४
जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम : मथुरा की मूर्तिकला, मथुरा, १६६५
: कुषाणकालीन विष्णु-प्रतिमाएँ, लखनऊ, १६६६

	:	प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना, १६७७
तिवारी, गोरेलाल	:	बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, काशी, सं० १६६०
तिवारी, मारूति नन्दन प्रसाद	:	जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, १६८१
त्रिपाठी, आर० पी०	:	मत्स्यपुराण, इलाहाबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १६४६
थप्ल्याल, तथा शुक्ल संकटा प्रसाद	:	सिन्धु सभ्यता, लखनऊ, १६७६
दत्त, एम० एन०	:	अग्निपुराण, कलकत्ता, १६०३, गुरूड़पुराण, वाराणसी, १६६८
देव, कृष्ण	:	उत्तर भारत के मन्दिर, नई दिल्ली, १६६६
द्विवेदी, हरिहर निवास	:	ग्वालियर राज्य के अभिलेख, मध्य भारत, पुरातत्व विभाग, ग्वालियर, १६४७
	:	मध्यदेशीय भाषा-ग्वालियरी, ग्वालियर, १९५६
	:	ग्वालियर के तोमर, ग्वालियर, १६७६
नाहर, पूर्णचन्द्र	:	जैन शिलालेख, भाग १-२ १६२७
निजामुद्दीन	:	तवकात-ए-अकबरी, भाग १, कलकत्ता, १६७३
पाठक, विशुद्धानन्द	:	उत्तर भारत का राजनीति इतिहास, लखनऊ, १६७७
पांथरी, भगवती शरण	:	मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १६७२
बसु, के० के०	:	तारीख-ए-मुबारक शाही (अनुवाद)
बाजपेयी, कृष्ण दत्त	:	भारतीय वास्तुकला का इतिहास, लखनऊ, १६७२
	:	उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, लखनऊ, १६५५
बाशम, ए० एल०	:	अद्भुत भारत, आगरा, १६६७
ब्रिग्स, जान	:	तारीखे फरिश्ता (अनुवाद) भाग १-२, कलकत्ता, १६११
भण्डारकर, आर० जी०	:	भारतीय धर्मो का इतिहास, हिन्दी अनुवाद महेश्वरी प्रसाद, वाराणसी, १६६७
राजशेखर	:	प्रवन्धकोश, सं० मुनिजिन-विजय, शान्तिनिकेतन, १६३५
राय, रामकुमार	:	वैदिक इण्डेक्स (मैक्डानल एण्ड कीथ कृत वैदिक इण्डेक्स का अनुवाद), वाराणसी १६६२
रिजवी	:	उत्तर तैमूरकालीन भारत, भाग-१ अलीगढ़, १६५८-५६
रेकिंस	:	मुन्तखा उन्तवारीख, भाग १ (अनुवाद)
रैवर्टी, एच० जी०	:	तवकात-ए-नासिरी (अनुवाद), कलकत्ता, १८७३-१८६७
वर्मा, परिपूर्णानन्द	:	प्रतीक शास्त्र, लखनऊ, १६६४
वसु, के० के०	:	तारीख-ए-मुबारक शाही (अनुवाद)
वेदालंकार, हरिदत्त	:	प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं संस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, १६७२
शाह, प्रियवाला	:	विष्णु धर्मोत्तर पुराण, भाग १-२, बड़ोदा, १६५८-६१
शुक्ल, द्विजेन्द्र नाथ	:	वास्तु शास्त्र, भाग-१, लखनऊ, १६६०
	:	प्रतिमा विज्ञान (भारतीय वास्तुशास्त्र ग्रन्थ ४), लखनऊ सं० २०१३

सम्पूर्णानन्द : हिन्दू देव परिवार का विकास, इलाहाबाद, १६६४; गणेश, बनारस, सं० २००१

सिंह, अमर : प्राचीन भारतीय दुर्ग स्थापत्य, नई दिल्ली१६६५

सोमपुरा, प्रभाशंकर, ओ०तथा ढाकी मधुसूदन : भारतीय दुर्ग विधान, बम्बई ,१६७१

श्रीवास्तव, आर्शीवादीलाल : भारत का इतिहास, आगरा, १६७७

हीरालाल : मध्य प्रदेश का इतिहास, काशी, सं० १६७६

Acharya, P. K. : An Encyclopaedia of the Hindu Architecture London, 1946

: A Dictionany of Hindu Architecture, London 1927

: Indian Architecture According to Mansara Silpasastra Bombay, 1927

: Manasara-Sanskarit Text with critical notes, London, 1927

Agrawala, P.K. : Gupta Temple Architecture, Varanasi, 1968

Agrawala, Urmila : Khajuraho Sculptures and Their Significance, Delhi, 1964

Agrawala, V.S. : Matsya Purana-A Study, Varanasi, 1963

: Studies in Indian Art, Varanasi, 1965

India as Known to Panini, Lucknow, 1953

Allchin, Raymond and Bridget : The Birth of Indian Civilization, England, 1968

Ali, Rahman : Pratihara Art in India, Delhi, 1987

Bajpai, K.D. : Sagar, Through the Ages, Sagar, 1964,

Banerjee, R.D. : Age of the Imperial Guptas, Banaras, 1933

Banerjea, J.N. : The Development of Hindu Iconography, Calcutta, 1968

Bhandarkar, R.G. : Vaishnavism, Saivism and Miror Religious System, Poona, 1928

Bhattacharya B.C. : The Jaina Iconography, Delhi, 1974

Bhattacharya, T : A Study of Vastu Vidya, Patna, 1947

Brown, Percy : Indian Architecture (Buddhist and Hindu Period) Bombay, 1959

: Indian Architecture (The Islamic Period), Bombay, 1942

Boner, Alice : Silpa-Prakasa of Ramchandra Kaulachara, Leiden, 1966

Bose N.K. : Cannon of Orissan Architecture, Calcutta, 1932

Bruhn, K. : The Jina-Images of Deogarh, Leiden, 1969

Chakravarti K.K. : Gwalior Fort, New Delli, 1984

Chakravarti P.C. : The Art of War in Ancient India, Dhaka, 1941.

Coomaraswamy, A.K. : History of Indian and Indonesian Art, London, 1927

Cunningham, A. : Archaeological Survay of India Reports (1862-63-64-65), Varanasi (Delhi), 1972

Coins of Medieval India, Varanasi, 1967

Davids, T.W. Rhys. : Buddhist India, London, 1903

Desai, Devangana : Erotic Sculpture of India-A Socio-Cultural Study, New Delhi, 1975

Deva, Krishna : Temples of North India, New Delhi, 1969

: Khajuraho, New Delhi, 1965

Dhaky, M.A. : The Indian Temple Forms in Karnataka Inscriptions and Architecture, New Delhi, 1977

: The Vyala Figures on the Medieval Temples of India, Varanasi, 1965

Dixit, S.K. : A guide to the Central Archaeological Museum, Gwalior, Bhopal, 1962

Dutt, B.B. : Town Planning in Ancient India Calcutta and Simla, 1925

Fergusson, J. : History of Indian and Eastern Architecture, London, 1876

Fleet, J.F. : Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol III, Varanasi, 1963

Garde, M.B. : Archaeology in Gwalior (2nd ed.) Gwalior, 1934

: Directory of Forts in Gwalior State, Vol 1, Gwalior, 1932; Hand Book of Gwalior, Gwalior, 1936

Gyani, S.P.	:	Agni Purana-A Stud y, Varanasi, 1964
Ghosh, A (ed)	:	Jain Art and Architecture, New Delhi, 1974
Ghosh, A	:	The Cities in Early Historical India, Simla, 1973
Havell, E.B.	:	The Ancient and Medieval Architecture of India, New Delhi, 1972
Hopkins, E.W.	:	Epic Mythology, Varanasi, Delhi, 1968
Hughes, Arthur	:	Gwalior, Gwalior, 1979
Kane, P.V.	:	History of Dharmasastra, Poona, 1930; 1941
Kremrich, Stella	:	The Hindu Temple, 2 Vols, Delhi, 1976
	:	Indian Sculpture, Calcutta, 1933
	:	Art of India, London, 1955
Krishn, Brajesh	:	The Art Under the Gurjara-Pratiharas, New Delhi, 1989
Macdonell, A.A.	:	Vedic Mythology, Varanasi, 1963
Mackay, E	:	Early Indus Civilization, London, 1935
Majumdar, N.G.	:	Explorations in Sind, Memoirs of the Archaeological Surey of India, No 48, Delhi, 1934
Majumdar, R.C.	:	Classical Accounts of India, Calcutta, 1960
Majumdar, R.C. and	:	The Vedic Age, London, 1951
Pusalker, A.D. (eds)	:	The Age of Imperial Unity, Bombay, 1953
	:	The Classical Age, Bombay, 1954
	:	The Age of Imperial Kanauj, Bombay, 1955
	:	The Struggle for Empire, Bombay, 1957
Mani, V	:	Puranic Encyclopaedia, Varanasi, 1975
Mathur, N.L.	:	Sculptures in India, its History and Art, New Delhi, 1972
Marshall, J.	:	Rajagriha and its Remains, Annual Report, Archaeological Survey of India, 1905-06., New Delhi
Mishra, S.M.	:	Yasovarmana of Kannauj, New Delhi, 1977
Mookerji R.K.	:	The Culture and Art of India, Delhi, 1965
	:	The Gupta Empire, Bombay, 1964

Moti Chandra (ed) : Seminars on Indian Art History,1962, New Delhi, 1962

Nanavati, J.M. and Dhaky, M.A. : 'The Maitraka and the Saindhava Temples of Gujarat, Artibus Asiae Supplimentum, XXII, Ascona, 1969

Nath, R : Some Aspects of Mughal Architecture, New Delhi , 1976

: History of Sultanate Architecture, New Delhi, 1976

Pal, H.B. The Temples of Rajasthan, Jaipur, 1969

Pandey, L.P. : Sun - Worship in Ancient India, Varanasi, 1971

Panigrahi, K.C. : Archaeological Remains at Bhubaneswar, Calcutta, 1961

Pant, G.N. : Studies in Indian Weapons and Warfare, New Delhi, 1970

Pargiter, F.E. : The Puran Text of the Dynesties of the Kali Age, Varanasi, 1962

Patil, D.R. : Man Singh Palace in Gwalior Fort, Gwalior, 1945

: The Cultural Hesitage of Madhya Bharat, Gwalior, 1952; The Des criptive and Classified List of Archaeological Monuments in Madhya Barat, Gwalior, 1952

Pillai, S.B. : Introduction to the Study of Temple Art, Tamilnadu, 1976

Puri, B.N. : The History of the Gurjara Patihars, Bombay, 1957

: India in the Time of Patanjali, Bombay, 1959

Pramod Chandra : Studies in Indian Temple Architecture, New Delhi, 1975

Ram Raj : Essays on the Architecture of the Hindus, London, 1834

Ray, H.C. : Dynastic History of Northern India, Vol I-II, Calcutta, 1931

Raychaudhari, H.C. : Political History of Ancient India, Calcutta, 1950

Rao, T.A.G. : Elements of Hindu Iconography, 2 Vols, New Delhi, 1968

Ray, Amita : Villages, Towns and Secular Buildings in Ancient India, Calcutta, 1964

Rowland, B. : The Art and Architecture of India, Penguin Books (Reprint 1959) London, 1953

Sirkar, D.C. : Select Inscriptions, Vol 1, Calcutta, 1965

Saraswati, S.K. : A survey of Indian Sculpture Calcutta, 1957

Shah, U.P. : Studies in Jaina Art, Benaras, 1955

Shah, U.P. and Dhaky, M.A. : Aspects of Jain Art and Architecture, Ahamadabad, 1975

Sharma, B.N. : Iconography of Vainayaki, New Delhi, 1979.

Sharma, Dasharath : Rajasthan Through the Ages, Vol 1, Bikaner, 1966

Sharma, G.R. : Excavations at Kaushambi (1957-59), Allahabad, 1969

Sharma, R.K. : The Temple of Chausatha-yogini at Bhedaghata, Delhi, 1976

Sivaramamurti, C. : Indian Sculpture, New Delhi, 1961

: The Art of India, New York, 1974

: Birds and animals in Indian Sculpture, New Delhi, 1974

Singh, S.D. : Ancient Indian Warfare, Leiden, 1965

Soundara Rajan, K. V. : Indian Temple Style, New Delhi, 1972

Srivastava, B.N. : Harsha and His Times, Varanasi, 19

Thakore, S.R. : Ca talogue of Sculptures in the Archa eological Museum, Gwalior, Gwalior

Thakur, Upendra : The Huna in India, Varanasi, 1967

Thapar, Romila : A History of India, Penguin series (Reprint) 1974

Toy, Sidney : The Fortified Cities of India, London, 1965

: Strongholds of India, London, 1957

Tripathi, R.S. : History of Kanauj, Benaras, 1936

Tripathi, R.D. : Iconography of Parvati Delhi, 1981

Tripathi, L.K. : The Temples of Baroli, Varanasi, 1987

Upadhyaya, B.S. : India in Kalidas, Allahabad, 1947

Vats, M.S. : The Gupta Temple of Deogarh, Archaeological Survey of India Memoirs, No. 70, 1951

Wheeler, R.E.M. : The Indus Civilization, Cambridge, 1968
Early India and Pakistan, London, 1959

Williams, J.G. : The Art of Gupta India: Empire and Province, Princeton, 1983

महत्वपूर्ण शोध-पत्र

अग्रवाल, आर० सी० : अटरू की प्राचीन मूर्तिकला, मरूभारती, पिलानी, वर्ष ८, अंक १, जनवरी १६६०

अग्रवाल, वा० श० : गुप्तयुग में मध्यदेश का कलात्मक चित्रण, हिन्दी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, वि० सं० २०००

कुमार, कृष्ण : महोवा की गजान्तक प्रतिमा, संग्रहालय पुरातत्व-पत्रिका, लखनऊ, अंक १५-१६, १६७५

कुमार, ग्यानेश : प्राचीन भारत में सुरक्षा के साधन, त्रिपथगा, लखनऊ, खण्ड १०, अंक १, अक्टूबर १६६४, पृ० ४१-४४

जैन, नीरज : ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय की जैन मूर्तियाँ, अनेकान्त, भाग १६, अंक ५, दिल्ली, दिसम्बर, १६६३

द्विवेदी, हरिहर निवास : ग्वालियर राज्य की प्राचीन मूर्तिकला, विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, उज्जैन, सं० २०००, पृ० ६६७-७१३

नायर, रमन : भारतीय मन्दिरों का स्रोत एवं उनका विकास-क्रम, शारदापीठ प्रदीप, द्वारिका, भाग २६, अंक १, १६७३, पृ० ५-१५

नाहटा, अगरचन्द्र : वावनवीर नामावली, शोध-पत्रिका, वर्ष १४, अंक ३, जुलाई १६७३, उदयपुर

वाजपेयी, कृष्णदत्त : मध्य प्रदेश की जैनकला, अनेकान्त, भाग १७, अंक ३, अगस्त १६६४, दिल्ली; मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन कला, अनेकान्त, भाग २८, दिल्ली, १६७५

शास्त्री, परमानन्द : मध्य भारत का जैन पुरातत्व, अनेकान्त, भाग १६, अंक १-२, अप्रैल-जून १६६६, दिल्ली, पृ० ५४-५९

सिंह, अमर : ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मन्दिर में कृष्ण लीला दृश्य, संग्रहालय पुरातत्व-पत्रिका, लखनऊ, सं० २१-२४, वर्ष १९७८-७९; ग्वालियर दुर्ग में जैन धर्म और कला, जैन सन्देश (शोधांक-४७), मथुरा, १९८१; देवालय परिचय, ध्यानम्, अंक १ लखनऊ, १९८१; कोरारी मन्दिर समूह, ध्यानम् अंक २ लखनऊ, १९८२; सरहन बुजुर्ग और धमना खुर्द के प्रतिहार कालीन देवालय, ध्यानम् अंक ३, लखनऊ, १९८३; प्रतोली, ध्यानम्, अंक ४, लखनऊ, १९८४; दुर्गों की प्राचीनता एवं वर्गीकरण, ध्यानम्, अंक ५-६, लखनऊ १९८५-८६; ग्वालियर दुर्ग की गजासुरवध-मूर्तियाँ, प्रो० के० डी० बाजपेयी स्मृति-ग्रंथ, पाञ्चाल, अंक ५, कानपुर १९९२

Agrawala, R.C. : Krishna and Balarama in Rajasthan Sculptures and epigraphs, Bharati Vidya, Bombay, 1956

: Some interesting Sculptures from Rajasthan, Journal of the Asiatic Society, Lett6ers and Science, vol XXIII, No. 1, 1957

Agrawala, V.S. : Terracotta figurines of Ahichchatra, Ancient India, No 4, Delhi, 1948

Acharya, P.K. : Dikpalas and their Shaktis in the Temples of Orissa, Orissa Historical Research Journal Bhubaneswar, Vol 2, No. 3-4 pp. 49-52, 1953

Bajpai, K.D. : Madhya Pradesh Sculpture Through the Ages, May, Vol 24, Bombay, pp. 27-49

Deva, Krishna : Krishna-Lila Scenes in the Lakshamana Temple, Khajuraho, Lalit Kala, No. 7, 1960

: A Comparative Study of the Regional Styles of Architecture in North India, Indian Museum Bulletin, vol 6, No. 1, Calcutta, 1971

: The Temples of Khajuraho in Central India, Ancient India, No. 15, 1959

: Chaturamukha Mahadeva Temple at Nachna Kuthara, Journal of Madhya Pradesh Itihasa Parisad, No. 1, 1959, pp. 69-73

: Extension of the Gupta Art, Art and Architecture of Pratihara Age, in Moti Chandra (ed) Seminar on Indian Art History, 1962, New Delhi

: "Teli Ka Mandir, Gwalior in Fredric M. Asher and G.S. Gai (ed) Indian Epigraphy (Its Bearing on the History of Art), New Delhi, 1985

Dhaky, M.A. : The Geanesis and Development of Main Gurjara Temple Architecture, in Pramod Chandra (ed) Studies in Indian Tample Architecture, New Delhi, 1975, pp. 114-165

Goetz, H. : The Last Masterpiece of Gupta Art The Great Temple of Yasovarman of Kanauj (Teli Ka Mandir) at Gwalior', Studies in the History, Religion and Art of Classical and Medieval India, Wiesbaden, 1974, pp. 49-63

Gopal, Krishnakant : Forts and Fortification in Earty Medieval, India, Uttar Bharati, Agra, Vol 10, No. 2, Aegust 1963, pp. 33-48

Katare, S.L. : Two Gangola Tal Inscriptions of the Tomar Kings of Gwalior, Journal of Oriental Institute, Baroda, Vol 23, No. 4, June 1974

Kremrich, Stella : The Orientation of Hindu Temples, Journal of Indian Society of Orintal Art, Vol 11, pp. 208-211

: The Super Sturcture of Hindu Temples, Jorunal of Indian Society of Oriental Art, Vol 12, 1944 pp. 175-207

Krishnamunti, K. : Antiquities of Forts in India, Jorunal of the Andhra Historical Society, Rajamundi, Vol 3o, 1964-65 pp. 1-10

Lal, B.B. and Nautiyal, K.P. : Lower and Middle Palaeolithic Industries in Gwalior, Proceedings of Seminar on Indian Pre-history. Decan College, Post Graduate and Research Institute, Poona, 1974

Meister, M.W. : Ama, Amrol and Jainism in Gwalior Fort', Journal of Oriental Institute Baroda, Vol XXII, No. 3, March 1973, pp. 354-358

Mitra, Debala : Four Little Known Khakhara Temples of Orissa, Journal of Asiatic Society, Vol 2, No. 1, 1960

Nath, R. : On Sovereignty of Raja Man Singh Tomar of Gwalior, Journal of the Oriental Intitute Baroda, Vol 28, No. 1, 1978

: Rock-cut Pratihara Temple of the Gwalior Fort, Vishweshwaranand Indological Journal, No. XIX, pp. 211-219

	:	Lahera-Vallari in Indian Art' Indian Museum Bulletin, Vol X, No. 2, pp. 57-70
Nanavati, J.M. and Dhaky M.A.	:	The Ceilings in The Temple of Gujarat, Bulletin Museum and Picture Gallery, Bombay, Vol 16-17
Nautiyal, K.P.	:	A Few Notable Jain Icons in Gwalior Museum, Prachya Pratibha, Vol 4, No. 1, January 1976, pp. 47-54
Rai, U.D.	:	Fortification of Cities in Ancient India, Indian Historical Quarterly Vol 30, 1954
Srivastava, A.L.	:	Pratoli A Part of Ancient Indian Architeture, Bharati Vidya, Vol 32, 1972 pp. 1-6
Singh, Amar	:	Some Brick Temples of Fatehpur District, Anuvak, Amoli, Fatehpur, 1982
	:	The Brick Temples of Sarahan Bujurg and Dhamna Khurd, District Fatehpur, Anuvak, Amoli, Fatehpur 1982
	:	A Study of the Brick Temples of early Medieval Period in Uttar Pradesh, Bulletin of Museums and Archaeology in U.P. No 43-44, Lucknow, 1989
	:	Development of the Brick Temples in Ultar Pradesh, Bulletin of Museums and Archaeology in U.P. No 45-46, Lucknow 1990
Singh, Tah--sildar and Singh, Amar	:	Matsya Purana and Early Medieval Temple Architecture, Puranam, Varanasi, 1983
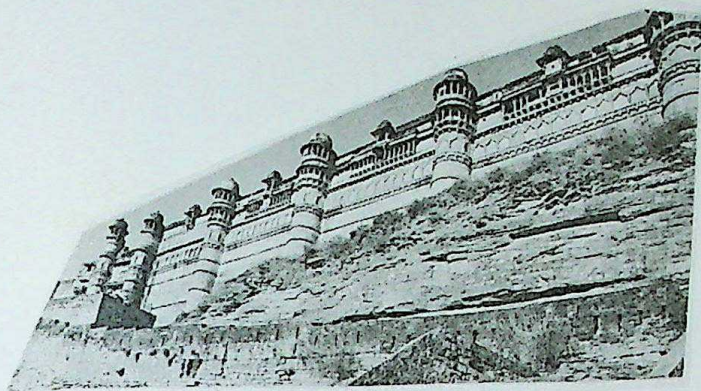
चित्र संख्या १. अट्टालक, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १५वीं -१६वीं श० ई०

चित्र संख्या २. हथियापौर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १५वीं -१६वीं श० ई०
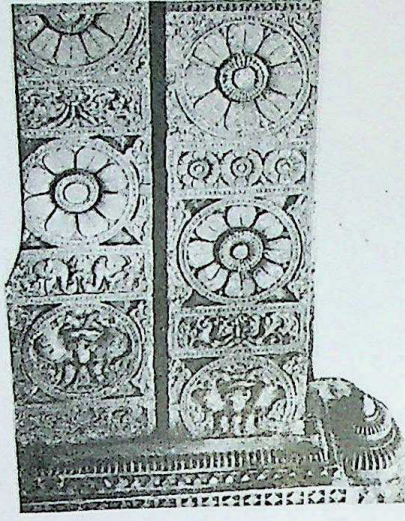
चित्र संख्या ३. स्तम्भालंकरण, हथियापौर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ९वीं श० ई०

चित्र संख्या ४. बादलगढ़पौर (हिण्डोला पौर), ग्वालियर दुर्ग, लगभग १५वी -१६वीं श० ई०
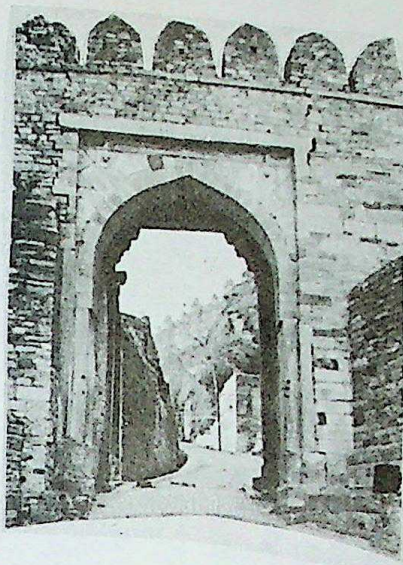
चित्र संख्या ५. गणेशपौर, ग्वालियर दुर्ग लगभग १५वीं श० ई०

चित्र संख्या ६. आलमगीरीपौर, ग्वालियर दुर्ग, १६६० ई०
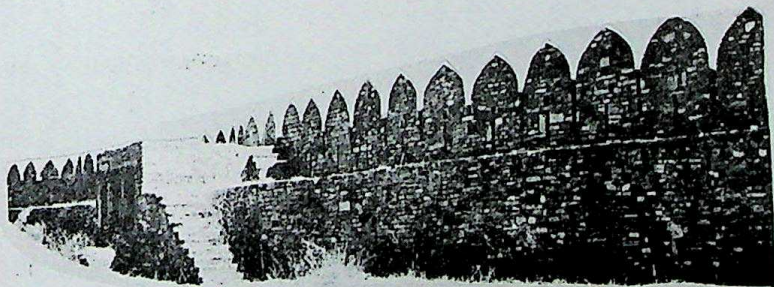
चित्र संख्या ७.कपिशीर्षक, ग्वालियर दुर्ग
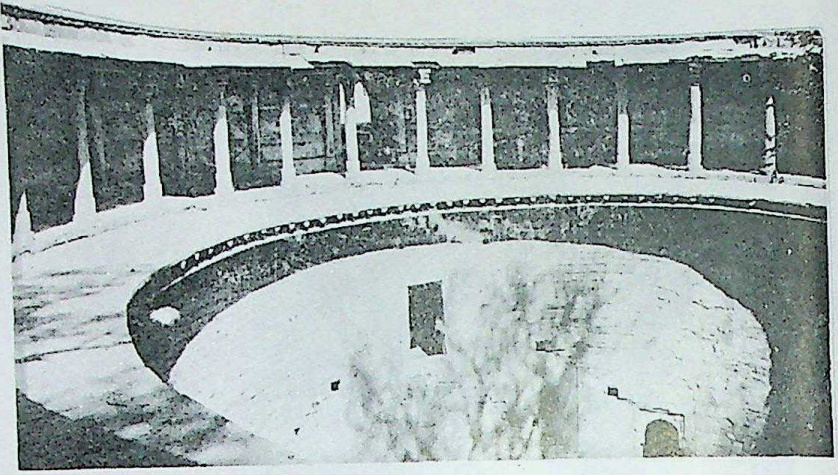
चित्र संख्या ८.अस्सीखम्भा बावरी, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १५वीं श० ई०
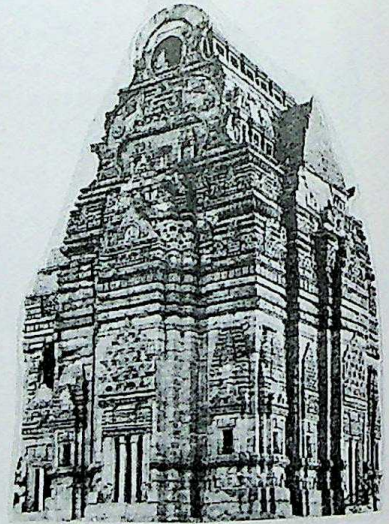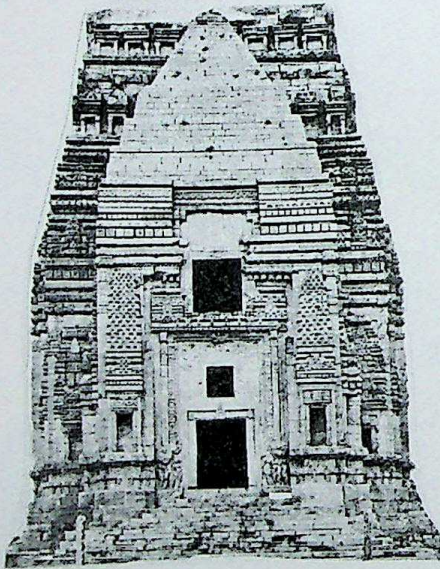
चित्र संख्या ९.तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या १०.जंघा भाग का अलंकरण, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ११.गर्भगृह का भित्ति-स्तम्भ, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या १२.चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०

चित्र संख्या १३.उत्तरी जंघा, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०

चित्र संख्या १४.शिखर, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०
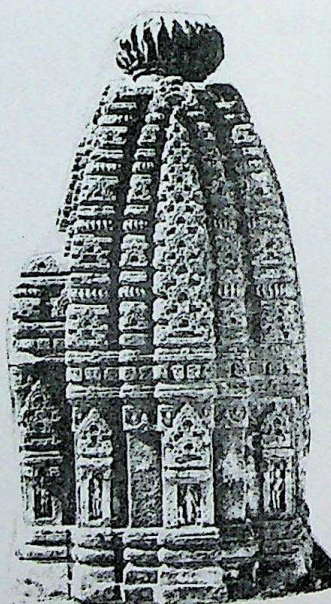
चित्र संख्या १५.मन्दिरसंख्या २, केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, गुजरीमहल, ग्वालियर, लगभग ९वीं श० ई०
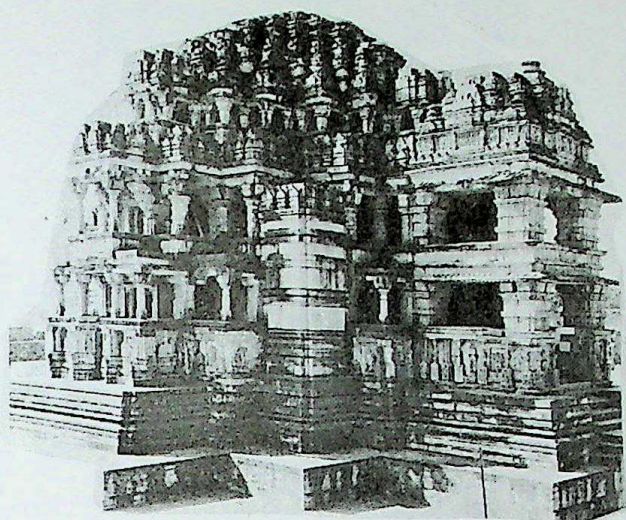
चित्र संख्या १६.सास-बहू मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०
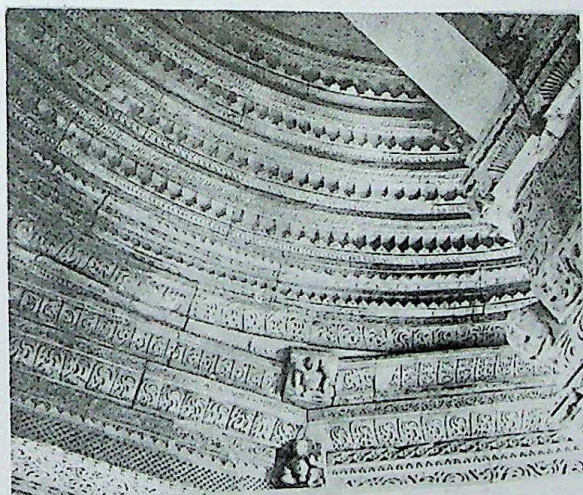
चित्र संख्या १७.मण्डप का वितान, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०

चित्र संख्या १८.स्तम्भ, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०
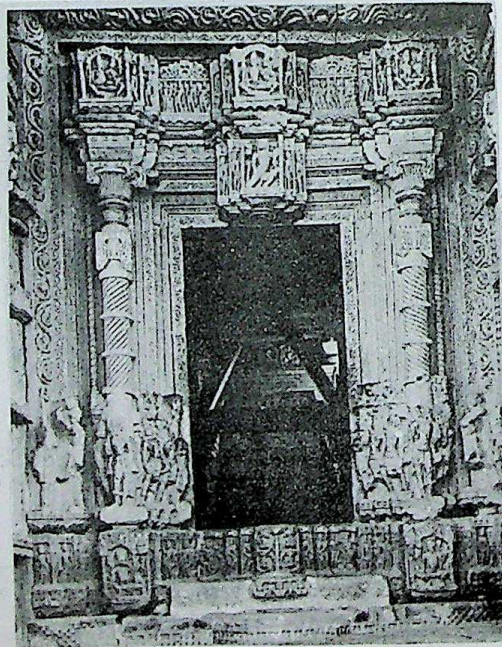
चित्र संख्या १९.मण्डप का प्रवेश-द्वार, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०
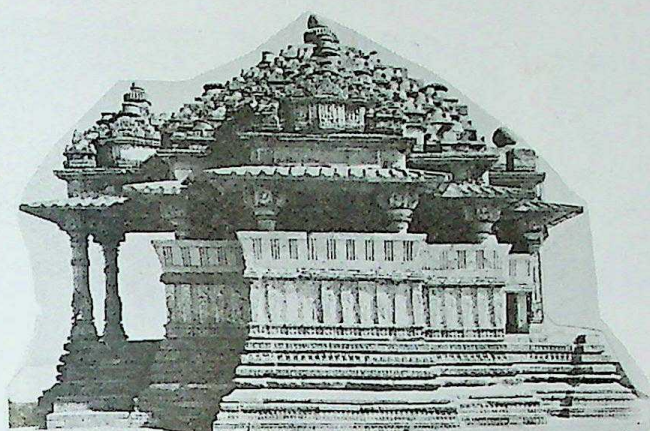
चित्र संख्या २०.बहू मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ११वीं -१२वीं श० ई०
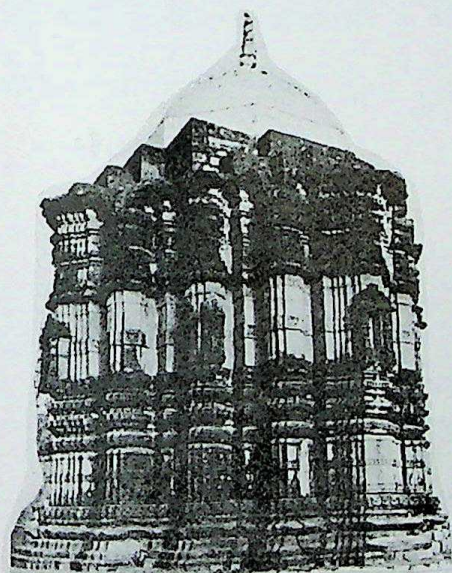
चित्र संख्या २१.माता देवी मन्दिर,
ग्वालियर दुर्ग, लगभग १२वीं -१३वीं श० ई०

चित्र संख्या २२.कीर्तिमुख,
तेली मन्दिर के सामने स्थित स्तम्भ,
ग्वालियर दुर्ग, लगभग ९वीं श० ई०

चित्र संख्या २४.घटपल्लव, तेली मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या २३.व्याल, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०

चित्र संख्या २५.नवग्रह, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०
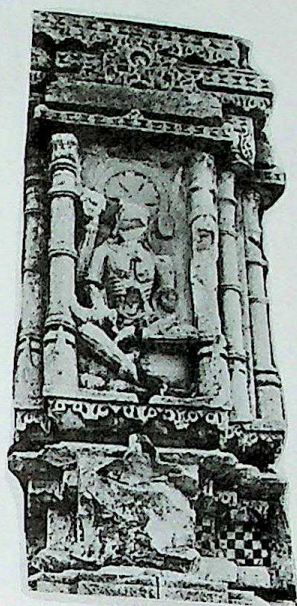
चित्र संख्या २६.चामुण्डा, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०

चित्र संख्या २७.सप्तमातृकाएं, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०

चित्र संख्या २८.विष्णु प्रतिमा, तेली मन्दिर के सामने, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या २९.प्रवेश-द्वार, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०

चित्र संख्या ३०.विष्णु प्रतिमा, राजकीय संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १०वीं श० ई०

चित्र संख्या ३१.विष्णु प्रतिमा, राजकीय संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १०वीं श० ई०
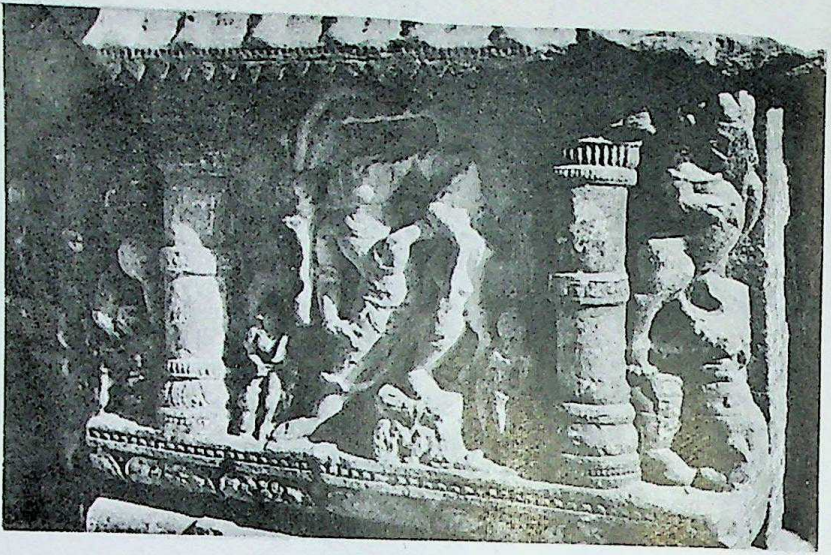
चित्र संख्या ३२.नृवराह, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०
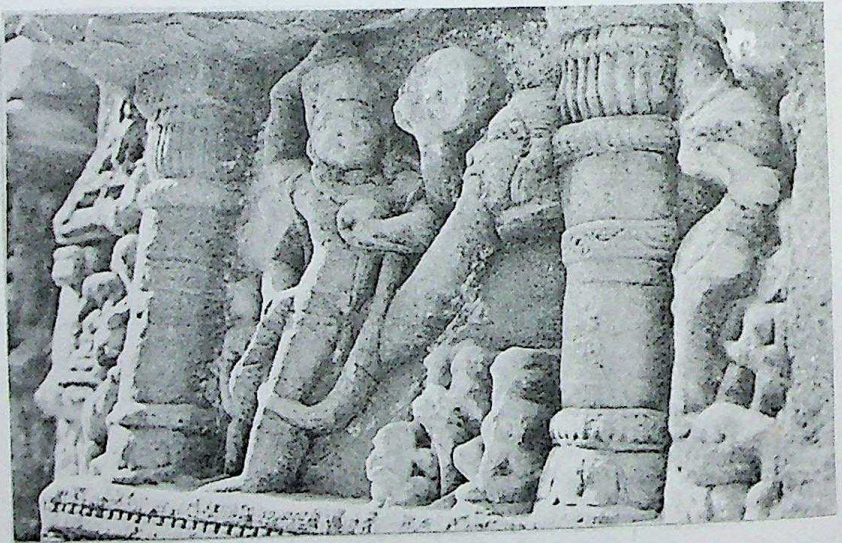
३३.त्रिविक्रम विष्णु, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८७५ ई०

३४.कृष्ण-लीला दृश्य, चतुर्भुज मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, ८७५ ई०

चित्र संख्या ३५.एकमुखी शिवलिंग, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ३६.गजासुरवध-मूर्ति, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ३७.षट्भुजी शिव, राजकीय संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १०वीं श० ई०

चित्र संख्या ३८.गणेश, राजकीय संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ३९.कार्तिकेय, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ४०.सूर्य,
ग्वालियर दुर्ग, लगभग ९वीं श० ई०

चित्र संख्या ४१.ब्रह्मा तेली मन्दिर,
ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०
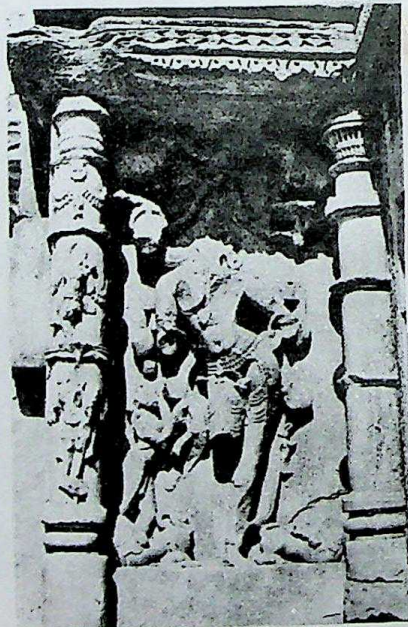
चित्र संख्या ४२.गजलक्ष्मी, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०

चित्र संख्या ४३.पार्वती, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं-९वीं श० ई०
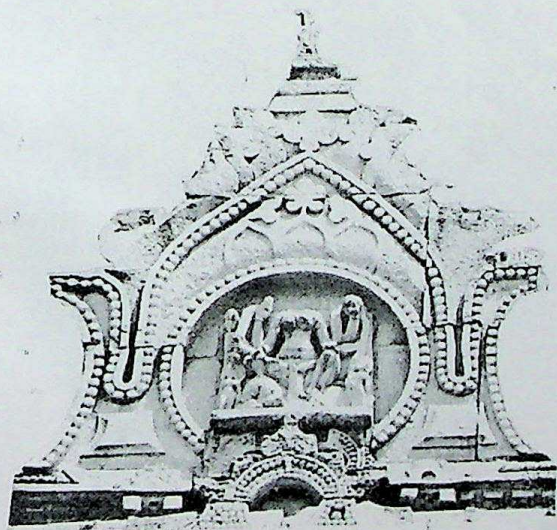
चित्र संख्या ४४.सिंहवाहिनी दुर्गा, तेली का मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श०ई०
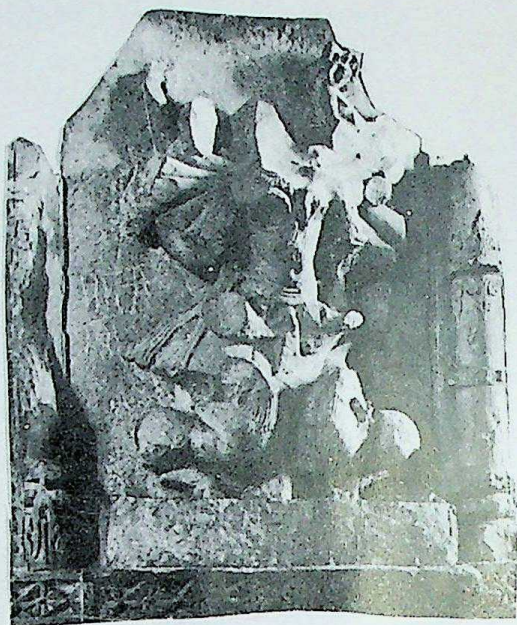
चित्र संख्या ४५.सिंहवाहिनी दुर्गा, सास मन्दिर, ग्वालियर दुर्ग, १०९३ ई०
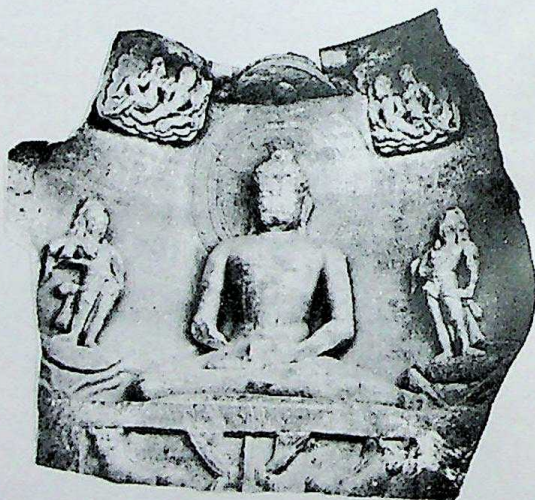
चित्र संख्या ४६.तीर्थंकर, उरवाही द्वार, ग्वालियर दुर्ग, लगभग छठीं-श० ई०

चित्र संख्या ४७. यक्षी अम्बिका के साथ यक्ष, उरवाही द्वार, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ४८.पार्श्वनाथ, सिंधिया स्कूल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ४९. तीर्थंकर, केन्द्रीय पुरातत्व संग्रहालय, गुजरी महल, ग्वालियर दुर्ग, लगभग ८वीं श० ई०

चित्र संख्या ५०. तीर्थंकर-जन्म, ग्वालियर दुर्ग, लगभग १०वीं श० ई०

ग्वालियर दुर्ग, मंदिर एवं मूर्तियाँ

– डॉ० अमर सिंह